तत्वभावना

(वृहत सामायिक पाठ)

अन्वयार्थ, विस्तृत टीका व छन्द सहित

टीकाकार

श्री ब्र० शीतल प्रसाद जी

सम्पादन :

महावीर प्रसाद जैन सर्राफ १३२५ चांदनीचौक, दिल्ली

प्रकाशक :

बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ

१३२५, चांदनी चौक, दिल्ली-६

तृतीय वृत्ति २४-२-१९९२ फागुन बदी ७ वि सं. २०४८

प्रकाशक :
बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
१३२५, चाँदनी चौक दिल्ली-६

प्राप्ति स्थान एवं पत्र व्यवहार का पता :
बिशम्बरदास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
१३२५, चाँदनी चौक, दिल्ली-६

शुद्धि-पत्र

पृ०	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१	२	उसका	उसकी
२८९	८	सम्ग्दृष्टी	सम्यग्दृष्टी
२९०	२	उत्कटता	उत्कठता
३००	१	एकता न	एकतान
३१९	११	स्वरूपस्थ	रूपस्थ
३२३	१	युतत	युत

ग्रथराज मे १६ चित्र व पेपर श्री रतनचन्द जी जैन १८९९, चाँदनी चौक, देहली वालो ने भेट स्वरूप प्रदान किये हैं। ये धन्यवाद के पात्र है। ज्ञानरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर आत्म कल्याण करें।

—**महावीर प्रसाद जैन**

मुद्रक : गीता प्रिंटिंग एजेंसी डी-१०५, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रस्तावना

सम्प्रत्यस्ति नै केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूडामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यति वरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजन मत. साक्षाज्जिनः पूजितः ॥

॥ पद्मनन्दी प० ॥

वर्तमान कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान जो राग-द्वेष से रहित ध्यान मे लीन, समस्त पदार्थों के ज्ञाता और कर्ममल रहित है, जीवो को ससार पार उतारनेमे निमित्त हैं इस भरतक्षेत्र मे साक्षात् नही हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवलो भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रधारी मुनि भी हैं जो समस्त विषयो, आशाओ और आरम्भ से रहित होते हैं, सदैव ध्यान अध्ययन मे रहते है, जिन भगवान् की आज्ञा मे चलने वाले हैं सच्चे गुरु हैं इसीलिए उन मुनियो की पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

तीर्थंकर देव द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि मे प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गुन्थित वह महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा हो इसी उद्देश्य से—

बिशम्बर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ १३२५, चाँदनी चौक, देहली-६ ने स्व० पूज्य ला० बिशम्बर दास जी जैन, श्रीमती केसर देवी जैन, श्रीमती सुन्दरी देवी जैन, श्रीमती जैनो देवी जैन एवं श्रीमती विमला देवी जैन की पुण्य स्मृति मे फरवरी १९९२ मे श्री अमितगति आचार्यकृत तत्त्वभावना ग्रन्थ प्रकाशित कराया।

अब फरवरी १९९२ में श्री अमितगति आचार्य विरचित 'तत्त्वभावा' वृहद् सामायिक पाठ प्रकाशित करा रहे हैं ताकि स्वाध्याय प्रेमी बन्धु आत्म कल्याण कर सकें।

मालवा प्रान्त के राजा मुंज के गुरु आचार्य माधव सेन के शिष्य आ० नेमी सेन के परम शिष्य श्री १०८ आचार्य अमितगति ने 'तत्त्वभावना' अर्थात् वृहद् सामायिक पाठ १२० श्लोकों में रचा और छोटा सामायिक पाठ अर्थात् भावना द्विंत्रिशिका ३२ श्लोको मे रची। आप ११वी शताब्दी के महान् विद्वान् कवि एव वीतरागी संत थे। आपके रचे हुए ७ ग्रंथ प्राप्त हैं। १. सुभाषित रत्नसदोह वि. स. १०५०; २. धर्म परीक्षा वि. स. १०७०; ३. पचसग्रह वि. सं १०७३ मे रचे थे; ४. उपासकाचार, ५ आराधना, ६ सामाजिक पथ, ७. भावना द्वित्रिंशिका एव तत्त्वभावना।

प्रस्तुत ग्रथ 'तत्त्वभावना' वैराग्य और आत्मज्ञान का भंडार है। इसका हिन्दी पद्यानुवाद एवं टीका ब्र० शीतलप्रसाद जी ने ४-१०-१९२८ असोज बदी ५ गुरुवार वीर स २४५४ वि. सं. १९८५ में रोहतक चातुर्मास मे की थी। आपके लिखे एवं अनुवाद किये लगभग १०० ग्रंथ हैं। सभी सारभूत एवं आध्यात्मिक हैं। ब्र० जी का जन्म वि. स. १९४५ में हुआ था। आप ३२ वर्ष की आयु में गृह त्याग कर जिनवाणी का प्रचार-प्रसार अन्तिम समय तक करते रहे।

प्रथम बार यह ग्रंथ श्री मूलचंद किशनचंद कापडिया ने सूरत से प्रकाशित कराया था। द्वितीय वृत्ति आचार्य देशभूषण जी ने जनवरी १९७३ मे दिल्ली से प्रकाशित कराई। ग्रथराज अप्राप्य होने की वजह से तृतीय वृत्ति प्रकाशित की जा रही है।

जो अगणित संसार के दु:खों से छुटाकर अनन्त सुख स्वरूप

मोक्ष में ले आकर रक्खे, परमानन्दमय सुख का रसास्वादन करावे वो ही वास्तविक धर्म है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैन सस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है। भगवान् जिनेन्द्र देव ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल कारण सम्यग्दर्शन को ही कहा है वो ही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है धर्म का बीच है। पांचों इन्द्रियों का दमन सिवाय सम्यग्ज्ञान के दूसरे से नही हो सकता है। प्राय: आज के आध्यात्मिक वक्ता, एकान्तवादी एव निश्चयाभासी ये भूल जाते हैं कि सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने मे असमर्थ हैं। "जावत शुद्धोपयोग पावत नाहीं मनोग, तावत ही करन योग कही पुण्य करनी।" धूप से छाँव मे बैठना सुखद है। व्रत, उपवास, व्यवहार, चारित्र पालन कर नरक निगोद से बचना श्रेष्ठ है। मुझे तत्वज्ञान है समस्त इन क्रियाओं को छोडकर मात्र अध्यात्म का ऊपर से गुणगान करेगा तो इधर का रहेगा ना उधर का और अनन्तों सागर दु:ख उठाना पडेगा। समस्त शुभ क्रियाएँ तो छोडने योग्य हैं ही नही किन्तु उन्हे धर्म मानना गलत है। शुद्धोपयोग की अवस्था मे स्वत: छूट जाती हैं छोडना नही पडता है।

सम्यग्दर्शन रूपी हार को अपने हृदय मे धारण करके, ज्ञानरूपी कुण्डलों को अपने दोनो कानों में पहनकर और चारित्ररूपी मुकुट को अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए। ये तीनों रत्न ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को वश करने मे कारण है। व्यवहार रत्नत्रय भी निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति में मुख्य निमित्त है परन्तु जब तक चित्त मे बाह्य क्रियाओं की चिन्ता का समावेश रहेगा तब तक कभी भी रत्नत्रय का पालन नही हो सकता। यह विषयकषाय रागादि भावों से रहित है, मोक्ष प्रदान करने वाला है। ये ध्यान के द्वारा जाना है वीतरागी मुनियों के ही होता है

रागियो के नही। अपनी निजी आत्मा ही तीन लोक का नाथ है अनन्त अविनाशी गुणों का समुद्र है। ध्यान मार्ग से उसका स्वरूप जाना जाता है एवं जिस प्रकार समस्त कर्मों से रहित सिद्धो का स्वरूप शुद्ध है उसी प्रकार हमारी आत्मा भी द्रव्य-दृष्टि से शुद्ध है इस प्रकार अपने अन्तरग परमात्मामे जो श्रद्धान होना है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उत्कृष्ट आत्मा ही ज्ञान है, जो स्वसवेदन स्वरूप आत्मा का ज्ञान करना है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निजात्मा सम्यक्चारित्र स्वरूप है। अन्तरग में ध्यान के द्वारा जो स्वय अपना आचरण करना है वही निश्चय चारित्र है। " पर द्रव्यन तै भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त भला है, आप रूप को जानपनो सो सम्यक्ज्ञान कला है। आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सोई।" ऐसा ध्यान वीतरागी मुनियो के ही मुख्य रूप से सम्भव है। मात्र आत्मा आत्मा कह-कर परिग्रह के सचय मे लिप्त रहने वालो के नही। जो ज्ञानी चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट आत्मा-परमात्मा का ध्यान करते है उनके ध्यानरूपी अग्नि से अनन्ते कर्म पिड देखते-२ भस्म हो जाते हैं।

अनादि काल से यह जीव चार गतियो और चौरासी लाख योनियो मे जन्म मरण के दुखो को उठा रहा है लेकिन इसके दुखो का अन्त नही आया। सभी जीव सुख चाहते हैं लेकिन सुख का उपाय कोई नही करना चाहता। अनन्तो सागर निगोद मे रहकर मात्र दो हजार सागर कुछ अधिक के लिए त्रस पर्याय प्राप्त होती है जिसमे १६ भव पुरुष, १६ भव स्त्री एव १६ भव नपुसक पर्याय के प्राप्त होते हैं यदि इसमे अष्ट कर्मों का विनाश करके मोक्ष की प्राप्ति नही की तो फिर अनन्तो सागर तक निगोद मे जाना पडता है।

"यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवाणी" ऐसा सब कुछ प्राप्त करके भी भविष्यत के अनन्तों भवों का नाश इस पर्याय

में करने का भाव लेकर कब मैं निर्ग्रंथ मुनि बनूं समाधि मरण करूं, ऐसा भाव न आया तो जन्म निरर्थक होगा।

श्रावकों के अष्ट मूल धारण करके, देव दर्शन, श्री जी का प्रक्षाल, पूजा पाठ, जाप, स्वाध्याय, सामायिक, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, दान, मुनि समागम, प्राणीमात्र पर करुणा का भाव ऐसा करते हुवे निम्न कार्यों का त्याग करना चाहिए। सप्त व्यसन—मद्य, मास, मधु, अण्डा, जिमीकन्द, रात्रि भोजन, २२ अभक्ष्य, चाँदी व सोने का वर्क, होटल में जाना वहा जाकर खाना, रात्रि की शादी में जाना, रात्रि को शादी करना-कराना, अनछना पानी पीना, पाँच पाप इत्यादि। निरन्तर महाव्रती बनने को भावना रक्खे और अन्त में समता भावपूर्वक समाधि-मरण करूँ ऐसी भावना हमेशा भावे।

मैं किसी का भला बुरा कर सकता हूँ या कोई मेरा कर देगा ऐसा कर्तृत्व भाव न लावे। कोई देवता मेरा भला बुरा कर सकता है, मैं कुटुम्ब का पालन करता हूँ, चेतन स्त्री, पुत्र कुटुम्बी अचेतन धन, मकान, परिग्रह से राग द्वेष मोह घटावे, मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करे—त्रिकाली ध्रुव अजर अमर आत्मा एकाकी है अपनी है बाकी समस्त पदार्थ, मेरा शरीर भी पर है ऐसा दृढ विश्वास लाकर अहंकार ममकार का त्याग करे। "जीव जुदा पुद्गल जुदा, याही तत्व को सार। सब ग्रन्थों में पढ लीजिए, है याही को विस्तार।" "लाख करोड़ ग्रन्थन को सार, भेद ज्ञान और दया विचार।" जब शरीर भी मुझसे भिन्न है तो फिर बाकी सभी पदार्थ तो साक्षात् भिन्न दिख ही रहे हैं।

इस जगत का बनाने वाला, पालन हारा, विनाश करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। जगत अनादि निधन है। अपने स्वय के किये कर्मों के अनुसार जोवो को सुख-दुख भोगना पडता है। इन सभी बातों का वर्णन अमितगति आचार्य ने बहुत ही सुन्दर

रूप में किया है। मोक्ष प्राप्ति का सरल उपाय ध्यान का विशेष वर्णन इसमे लिखा है। "निज को निज मे जान, पर को पर में मान। तेरा आतम है परमातम, और सभी पर मान।"

कर्मों की निर्जरा का एक मात्र उपाय समाधि, एकाकीपन, निसगता, आत्मा के सन्मुख होना, आत्मा मे रमणता या ब्रह्मचर्य, स्व मे रमण या स्वाध्याय, साम्यभाव, सिद्धि, स्वात्मोपलब्धि, आत्मलीनता, चित्त को स्थिरता, सामायिक, ध्यान इत्यादि सभी पर्यायवाची शब्द है। महाव्रती के लिए तो इनकी विशेष प्रमुखता है ही किंतु श्रावकों का भी २ या ३ बार अवश्य करने को कहा है ताकि आगे जाकर सरलता से आत्म कल्याण कर सकें। कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त का ये ही उपाय है। सामायिक मे प्राणी मात्र से दोषो की क्षमा माँगकर, क्षमा करके, अचल आसन, समय की पाबन्दी, राग द्वेष मोह का त्याग करके सकल्प-विकल्प को छोड़कर शरीर को पड़ोसी समझ कर अन्दर जो चैतन्य स्वरूप ज्ञाता दृष्टा परमात्मा विराजमान है अर्थात् शरीररूपी देवालय मे जो मेरा आत्मा भगवान स्वरूप है उसको सबसे एकाकी अनुभव करना है वो देखने दिखाने की चीज नही, अतीन्द्रिय है, सिर्फ अनुभवगम्य है और अनुभव भी पर से विरक्त हुवे बिना नही होगा। कुछ भी काम करते हुए, प्रत्येक क्रिया को हमारी कोई अन्दर अनुभव कर रहा है वो ही मेरा परमातम-स्वरूप आत्मा है। सेठ के यहाँ लाखों करोडो का व्यापार करता हुआ मुनीम उस धन की लाभ-हानि से विरक्त है। लड़की की सगाई पक्की होने पर लड़की भी माँ-बाप के घर को पर मानने लगती है। इसी प्रकार ज्ञानीजन शरीर से भी विरक्त रहते हैं।

कहते हैं संसार में शरण नहीं। वो पर्याय की अपेक्षा हैं। यदि पंचपरमेष्ठी की शरण लेकर अपनी आत्मा का शरण लिया

जावे तो अनादि का जन्म मरण का रोग मिट जावे । "शुद्धात्म और पंचगुरु जग मे शरणा दो ।" जितने भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होगे, इसी उपाय से हुए हैं ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारो गतियों में हो सकती है किंतु संयम धारण मात्र मनुष्य पर्याय में ही हो सकता है अतः सयम मुख्य है । सवर्थि सिद्धि के देव भी जो निरन्तर ३३ सागर तक उत्कृष्ट धार्मिक चर्चा मे ही लगे रहते हैं सयम धारण नहीं करने के कारण मोक्ष प्राप्त नही कर पाते सोचते हैं कब मनुष्य पर्याय पावे, मुनिव्रत धारण करके तप द्वारा ध्यानाग्नि में कर्मों को विनष्ट करके मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति करें ।

पद्मनंद मुनि ने परमार्थविंशति मे आत्मध्यान व आत्मतत्व में एकाग्र होने की भावना बताई है—

देवं तत्प्रतिमां गुरु मुनि जनं शास्त्रादि मन्य महे ।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ।।
अस्माकं पुनरेकताश्चयणतो व्यक्तीभवश्चिद् गुण-
स्फारो भ्रूतमति प्रबंध महसामात्मैव तत्वं परम् ।।१३।।

जब हम व्यवहार मार्ग में चलते हैं तब हम श्री जिनेन्द्र देव उनकी प्रतिमा, जिनगुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते हैं परन्तु हम जब निश्चयमार्ग में जाते हैं तब प्रगट चैतन्य गुण से झलकती हुई भेदविज्ञान की ज्योति जल जाती है उस समय हम एक भाव मे लय हो जाते है तब हमको उत्कृष्ट तत्व एक आत्मा हो अनुभव मे आता है अर्थात् जहाँ शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य कुछ अनुभव मे न आवे वही निर्मल आत्मध्यान है।

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढ़ती सम्यक्त की पवन से ।
ईंधन कर्म जलाय, दोष मन सब कर दूर निज रमण से ।।९५

सम्यक्त्व ज्ञानवृत्तत्रय मनघमृते ज्ञान मात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितं सुखा ये यियासंति सिद्धि ।

ते शिश्रोषन्ति नून निजपुरमुदधि बाहुयुग्मेन तीर्त्वा।
कल्पांतोद्भूतवातक्षु भितजलचरासार कोर्णान्तरालम् ॥६६॥

मोक्ष का उपाय रत्नत्रय की एकता है। मार्ग को जान लेनें मात्र से ही कार्य की सिद्धि नही हो सकती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने आत्मा को पहचान लिया है अब हमे कुछ भी चारित्र पालने की आवश्यकता नही हम चाहे पाप करें या पुण्य करें हमें बन्ध नहीं होगा वे ऐसे मूढ़ ही है जैसे वे लोग मूर्ख है जो अपनी भुजा से समुद्र पार कर-कर, चले जायेंगे जो कल्पकाल की घोर पवन से डावाडोल है जिसमे अनेक मगरमच्छ भयानक जतु हैं।

सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनो की एकता की जरूरत है। जैसे व्यापार करना है तो पहले रीतियों को समझते हैं, विश्वास लाते हैं फिर जब उस विश्वास सहित ज्ञान के अनुसार उद्योग करता है तबही व्यापार करनेका फल पा सकता है।

अमितगति हमाराज ने सुभाषित रत्नसदोह मे कहा है—

सदर्शनज्ञान तपोदमाढ्यश्चारित्र भाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण बिना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते ॥२४२

सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इन्द्रिय दमन सहित जो जीव चारित्र को पालन करने वाले हैं वे सर्व ही सफलता को पा लेते हैं क्योकि चारित्र के बिना उन सबका होना व्यर्थ है। तीनों की एकता से जो भाव पैदा होता है उसे स्वानुभव कहते है।

जहा श्रद्धान ज्ञान सहित आत्मस्वरूप मे रमणता होती है वहीं स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्ष का मार्ग है, कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध करता है। इसलिए मात्र जानने से ही कार्य बनेगा इस बुद्धि को दूर कर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्र को पालना चाहिए। मन को

निराकुल करने के लिए श्रावक या मुनि का चारित्र पालन करना ही चाहिए—

१	२	३
सम्क्दर्शनरूपी नौका/	सम्यग्ज्ञानरूपी जल/	सम्यक्चारित्र रूपी—
|	|	खिवैया तभी भवसागर
|	|	से तिरोगे।
विश्वास	रीति समझना	व्यापार करना
मन	वचन	काय

मौत के मुह मे हूँ और मेरी उम्र क्षण भर भी नही है ऐसा सोचकर मनुष्य को यथा सम्भव जप, तप, सयय, स्वाध्याय, पूजा, दानादि का आचरण करते रहना चाहिए।

सारांश में ध्यान ही मुक्ति का कारण है !

जो शरीर इन्द्रिय मन और वचन मे आत्मबुद्धि/ममकार व अहकार बुद्धि रखता है वह बहिरात्मा आत्मविमुख ध्यान करने मे असमर्थ है।

जो शरीर व आत्मा मे भेद करता हुआ सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र से युक्त होकर प्रमाण, नय और निक्षप के आश्रय से जीवादि नौ पदार्थों, सात तत्वो, छह द्रव्यो और पाच अस्ति-कायो के साथ शरीर व आत्मा के भेद को जानता है अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रहित ऐसा अन्तरात्मा ही परमात्मा के ध्यान मे समर्थ होता है।

सम्यग्ज्ञानी जीव के मोह क्षोभ से रहित बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध ही साम्यभाव/सम्यक्चारित्र है जो मुक्ति का साक्षात् मार्ग है।

ध्यान के चार प्रकार में—१. आर्तध्यान, २. रौद्रध्यान

दोनों चार-चार प्रकार के हैं संसार के कारण हैं, त्याज्य हैं, क्रमशः तिर्यंच गति नरक गति को ले जाने वाले हैं। ३. धर्म-ध्यान स्वर्ग का कारण है परम्परा से मोक्ष का, पंचम काल में हो सकता है। ये आज्ञा विचय, विपाक विचय, अपाय विचय, संस्थान विचय ४ प्रकार का है—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ, ४ रूपातीत के भेद से भी चार प्रकार का है।

पिण्डस्थ की पृथ्वी अग्नि जल आदि ५ धारणाओं एवं ध्यान का समस्त विषय सचित्र पेज ३१२ से आचार्य श्री ने बहुत ही अच्छा वर्णन किया है। चित्रों को देखकर अभ्यास करने से सरलता से ध्यान मार्ग में प्रवृत हो सकते हैं। ४. शुक्लध्यान इस पचम काल में नहीं होता है साक्षात् मुक्ति का कारण है।

सभी साधर्मी जन इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण करे इसी शुभ भावना के साथ।

२४-२-१९९२ सोमवार
फागुन बदी ७ सं० २०४८
श्री चन्दा प्रभु जी ज्ञानकल्याणक
एवं
श्री सुपार्श्वनाथजी निर्वाण कल्याणक

विनीत :
जिन चरण सेवक
महावीर प्रसाद जैन सर्राफ
१३२५, चाँदनी चौक
देहली

श्री अमितगति आचार्यकृत–

तत्त्वभावना

या

बड़ा सामायिक पाठ।

मङ्गलाचरण–दोहा।

अर्हंत्सिद्धाचार्यको, वंदि साधु गुणदाय।
निजवाणी वृष चैत्यजिन, मंदिर नमूं सुध्याय ॥१॥
परमातम सम आपको, ध्याय सुगुण उर लाय।
समताभाव प्रकाशके, आतम सुख झलकाय ॥२॥
सामायिकके भावको, कर प्रकाश निज ज्ञान।
भव्यजीव भी रस पियें, यह उपकार पिछान ॥३॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना सार।
बालबोध भाषा करूं, भवदधि तारणहार ॥४॥
सन्मति वीर सुवीरको, वर्द्धमान महावीर।
गौतम गुरु कुन्दादिको, सुमरौ लिय धरि धीर ॥५॥

उत्थानिका—पहले ही चलने मे जो हिंसा हुई उसका पश्चात्ताप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

एकद्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतयो ये पंचधावस्थिताः ।
जीवाः संचरता मया दशदिशश्चित्तप्रमादात्मना ॥
ते ध्वस्ता यदि लोढिता विघटिताः संघट्टिता मोटिताः ।
मार्गालोचनमोचिना जिन ! तदा मिथ्यास्तु मे दुष्कृतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (चित्तप्रमादात्मना) प्रमाद या आलस्य या असावधानता या कषाय सहित चित्तको करके (मार्गालोचनमोचिना) मार्ग या पथको देखना छोडकर (दशदिश सचरता) पूर्वादि दश दिशाओ मे चलते हुए (मया) मेरे से (एक द्वित्रिहृषीकवत्प्रभृतय) एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, आदिक अर्थात् चौन्द्रिय व पचेन्द्रिय (ये) जो (पंचधा) पाच प्रकार से (जीवा) ससारी जीव (अवस्थिता·) शास्त्रमें स्थापित किये गए हैं (ते) वे जीव (यदि) यदि (ध्वस्ता) नाश किये गए हों (लोढिता) उलट पुलट किये गए हो (विघटिता) अलग अलग कर दिये गए हो (संघटिता·) मिला दिये गए हों (मोटिता) पैरो से रौंदे गए हो (तदा) तो (मे) मेरा (दुष्कृतम्) यह पाप (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो ।

भावार्थ—सामायिक करते समय पिछले किये गए पापों को याद करके प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप इसीलिए किया जाता है कि जिसमे आगेके लिए उस पाप से बचा जावे। अहिंसाव्रत की रक्षाके लिए यह आवश्यक है कि चार हाथ जमीन आगे देखकर चला जावे। मुनिगण महाव्रती होते हैं वे दिनके प्रकाशमे प्राशुक रोदी हुई जमीन पर ही चलते हैं और बडी भारी सावधानी रखते हैं कि मेरे द्वारा कोई छोटा-बड़ा वृक्षभी रौंदा न जावे, कोई छोटा

कीडा भी पैरोंके नीचे न आजावे। फिर भी साधन अवस्था मे किसी समय सावधानी न रहने से कोई जतु कदाचित् पैरके नीचे दबकर मर जाय, या उलट पलट हो जावे, अथवा शरीर, जमीन, कमडल आदिको मुलायम पीछीसे पोछते हुए कोई जतु जो मिले थे अलग-२ कर दिये जावें, व कई जो अलग थे वे मिला दिये जावें इत्यादि कारणोसे प्रमाद हेतु होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका बंध सभव है। उस पापके बधको छुडानेके लिए मुनिगण इस तरह विचारकर भावना भाते हैं। इस भावना से, पाप कर्म जो बंधचुका है उसकी स्थितिमे व उसके अनुभागमे कमी हो जाती है। श्रावकोमे आरभ त्यागी आठवी प्रतिमासे उद्दिष्ट त्यागी ग्यारवी श्रेणी तकके श्रावक हिंसासे वचनेमे बहुत ही सावधान होते हैं। वे स्वयं हिंसाकारक आरम्भ नही करते हैं, न कराते है। इसलिए ये श्रावक भी मुनि के समान किसी सवारी पर नहीं चढते हैं—मार्गको देखकर चलते हैं। ग्यारहवी प्रतिमा वाले ऐलक मुनि समान व्यवहार करते है; इसलिए रात्रि को न चलते हैं न बोलते हैं। उससे पहलेके श्रावक अति आवश्यकता हो तो धर्मकार्यवश प्रकाशमे मार्गको देखते हुए चलते हैं। आठवीसे नीचेके श्रावक आरम्भ त्यागी नही होते हैं। उनसे हिंसा अधिक हो जाती है। वे आरम्भी हिंसा से बच नही सकते तथापि यथासम्भव आरम्भ व्यर्थ व अनावश्यक नही करते। आवश्यक आरम्भ करते हुए भी जीवदया भावो मे रखते हैं। यथासम्भव जीवघात बचाते हैं। युद्धमे सामना करने वालेको ही प्रहार करते हैं। भागते हुएको, शरणमे आए हुएको, घायलको, स्त्रीको, बालकको नहीं सताते है। खेतोमे भी जान बूझकर किसीको नही मारते हैं। व्यापारमे भी पशुओ पर अधिक भार लादकर कष्ट नही देते हैं। सवारी पर चलते हुए अधिकतर रौंदे हुए

मार्ग पर सवारीको ले जाते हैं। पैदल चलते हुए अपनी आखोसे देखकर चलते हैं। तौभी आरभी श्रावकसे बुहारी देते हुए, घरके काम करते हुए, माल उठाते धरते हुए, मकानादि बनवाते हुए बहुत अधिक जीवहिंसा हो जाती है। यहा इस श्लोकमे मात्र चलते समय जो हिंसा होती है उसीकी मुख्यता है। हिंसासे लगे हुए पाप-रसको घटानेका विचार ऐसे श्रावकभी करते हैं जिससे आगेके लिए उनके व्यवहारमे अधिक सावधानी हो जावे। जो मानव किसी कर्मको छोड नही सकता है परतु निरतर विचारता है कि यह कर्म छोड़ देने योग्य है वह कभी न कभी छोडभी देगा व उसे कम करता जायगा, इसलिए हिसा त्यागकी भावना हरएक मुनि व श्रावकको करना उचित है। यह पाठ सर्व ही प्रकारके धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका द्वारा मनन करने योग्य है। हिंसा हुई हो तो उसका पश्चात्ताप अहिंसा पालनमे सावधान करने वाला होता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

हे श्री जिनेन्द्र ! प्रमाद चित्त हो मार्ग को देखे विना।
दश दिश भ्रमण करते विराधे पंच विध जंतू घना।
जो एक द्वै त्रय आदि इन्द्रिय दलमले छिनमिन किये।
उलटे तथा पलटे मिलाए, पाप मिथ्या होंय ये॥१॥

उत्थानिका—हमारा समय शुभ कार्योंमे बीते ऐसी भावना करते हैं—

अर्हद्भक्तिपरायणस्य विशदं जैनं वचोऽभ्यस्यतो।
निर्जिह्वस्य परापवादवदने शक्तस्य सत्कीर्तने॥
चारित्रोद्यतचेतसः क्षपयतः कोपादिविद्वेषिणः।
देवाध्यात्मसमाहितस्य सकलाः सर्प्यंतु मे वासराः॥२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्रदेव (मे) मेरे (सकलाः) सर्व (वासरा) दिवस (अर्हद्भक्तिपरायणस्य) अर्हन्तकी भक्ति की लीनतामे (विशद) निर्मल (जैन वचो) जिनवाणीके (अभ्यस्यतः) अभ्यास करने मे, (परापवादवचने) दूसरो की निन्दा कहने में (निर्जिह्वस्य) जिह्वा रहित रहने मे अर्थात् दूसरो की निन्दा न करने मे (सत्कीर्तने) मत पुरुषो के गुणो के वर्णन में (शक्तस्य) अपनी शक्ति लगाने मे (चारित्रोद्यतचेतसः) चारित्र के लिए उद्यमी चित्त रखने मे (कोपादिविद्वेषिण) क्रोध आदि शत्रुओं को (क्षपयत) क्षय करनेमे तथा (अध्यात्मसमाहितस्य) आत्मा के भीतर भले प्रकार लीन होने मे (सर्प्यंतु) बीतें।

भावार्थ—यहा मोक्षार्थी सुख शातिको चाहता हुआ व स्वाधीनता के मनोहर वन मे रमने की उत्कठा करता हुआ, सुख शाति व स्वाधीनता के निमित्त कार्यों मे नित्य लगे रहने की भावना करता है। साधक शिष्य का प्रयोजन अपने भावो मे से क्रोधादि कषायो के मैल को कम करके शाति, क्षमा, वैराग्य, आत्ममनन, आत्मानुभव आदि शुभ तथा शुद्ध भावो को प्राप्त करना है। इस मतलब को ध्यानमे लेकर जिनकी सगति करने से व जिस क्रिया के करने से वह मतलब सिद्ध हो उसमे अपने मन को जोडता है। और जिनकी सगति से व जिस क्रिया से क्रोधादि कषाय बढे व संसार से मोह अधिक हो आवे उनसे

बचता है। जैनधर्म के सेवन का यही प्रयोजन है। यह धर्म सुख-शांतिमय है तथा सुखशांति को देने वाला है। इस धर्म मे वही देव पूजने योग्य है जो सर्वज्ञ, वीतराग व आनन्दमयी है। वही शास्त्र मानने योग्य है जिसमे सुखशांति पाने का उपाय यथार्थ बताया हो। वही गुरु वन्दने योग्य है जो आत्मज्ञानी, वैरागी व सुखशांति का भोगने वाला है। वही मनन व ध्यान कार्यकारी है जो सुख व शांति प्रदान करे। इसलिए साधक ने नीचे लिखे कार्यों मे लगे रहने की भावना की है। (१) श्री अर्हंत की भक्ति व पूजा व गुणो का स्मरण, क्योंकि यह भक्ति अवश्य परिणामो को शात कर देती है। (२) जिनवाणी का पढ़ना, क्योंकि इससे अज्ञान और अशांति मिटती है। (३) दूसरो की निन्दा न करना; क्योंकि जिसकी आदत परनिन्दा की पड जाती है वह दूसरो के अवगुणो को ढूढा करता है। उसका उपयोग अपनी उन्नति मे दृढ़ नही होता है व वह स्वय औगुण वाला हो जाता है। (४) धर्मात्माओ के गुणो का वर्णन, क्योंकि ऐसे गुणो के कथन से मन उन गुणो के लाभ मे उत्साही हो जाता है। (५) चारित्र के लिए उत्साही होना व उद्यम करना, क्योंकि राग-द्वेष के हटाने का उपाय मुनि व श्रावक का चारित्र पालना है। भीतरी चारित्र आत्मस्वरूप मे लीनता है, उसका निमित्त साधक व्यवहार मे महाव्रत व अणुव्रत का पालन है। (६) क्रोधादि शत्रुओ को नाश करना। वास्तव मे जितना इनका अभाव होगा उतना अपना आत्मा का स्वभाव प्रकाशमान होगा। (७) आत्म स्वरूप मे लीनता या अनुभव, क्योंकि यही स्वात्मानुभव वास्तव मे सुखशाति को साक्षात् देनेवाला है। जो मानव सच्चे दिल से इन सातो बातो को चाहता है, इनके साधनके लिए उपाय किया

करता है वही सुखशांति को पाता हुआ मोक्षमार्ग पर चलने वाला है। जैन मदिरो मे जो नित्य पूजा के पीछे शांतिपाठ पढ़ा जाता है उसमे भी इसी तरह की भावना बताई है। जैसे—

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्य्यैः।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे।
सम्पद्यन्तां मम भव भवे यावदेतेऽपवर्गः॥

भावार्थ—जब तक मोक्ष न हो तब तक भव मे इतनी बातें प्राप्त हो (१) शास्त्र पठन (२) जिन भक्ति (३) सत् पुरुषों की सगति (४) सुचारित्र वालोके गुणो की कथा (५) परनिंदा न करना (६) सबसे प्यारे मीठे वचन बोलना (७) आत्मतत्व मे विचार रहना।

जहाँ तक आत्मतत्त्व भले प्रकार न जाग्रत हो वहाँ तक व्यवहार धर्म मे देवशास्त्र गुरुका आराधन करते ही रहना चाहिए। श्रीपद्मनदि मुनि परमार्थविंशति मे इस तरह कहते हैं—

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात्॥
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणाः।
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहतामात्मैव तत्त्वं परम्॥

भावार्थ—हम व्यवहार धर्म मे चलते हुए अत्यन्त भक्तिवत हो जिनेन्द्रदेव को, उनकी मूर्तिको, मुनीश्वरको व शास्त्र आदि सर्वको मानते है अर्थात् इन सबकी सेवा किया करते है। परन्तु जब हम रत्नत्रय की एकता अर्थात् समताभाव का आश्रय करेंगे और हमारे भीतर चैतन्य तत्त्व प्रकट होकर बुद्धि विशाल हो

जायगी तब हमारे लिए निश्चय से एक आत्मतत्त्व ही देव, गुरु या शास्त्र हो जाएगा। इस प्रकार साधक को व्यवहार धर्म की भावना निश्चयधर्म के लाभ के लिए करते रहना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

हे देव ! श्री जिन भक्ति करते जैन वच अभ्यासते।
निन्दा न करते अन्यजन की साधु गुण सुप्रकाशते॥
चारित्र चितमें चाहते क्रोधादि शत्रु निवारते।
बीतें दिवस मेरे सभी अध्यात्म अनुभव धारते॥२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरे चरित्र मे जो दोष लगे हों वे व्यर्थ होवें—

आलस्याकुलितेन मूढमनसा सन्मार्गनिर्णाशिना।
लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना॥
यद्देवाचरितं विरुद्धमधिया चारित्रशुद्धेर्मया।
मिथ्या दुष्कृतमस्तु भो जिनपते ! तत्त्वत्प्रसादेन मे॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् (आलस्याकुलितेन) आलस्यसे भरकर व (मूढमनसा) मन मे विवेक को छोडकर मूर्खता धार के (सन्मार्गनिर्णाशिना) मोक्षमार्ग को विराधना करते हुए (लोभक्रोधमदप्रमादमदनद्वेषादिदिग्धात्मना) व अपने आत्माको क्रोध, लोभ, मान, असावधानी, कामभाव, द्वेष आदि से लिप्त करके (मया) मुझ (अधिया) निर्बुद्धि के द्वारा (यत्) जो कुछ (चारित्रशुद्धे) चारित्रकी शुद्धतासे (विरुद्धम्) विपरीत (आचरित) आचरण किया गया हो (भो जिनपते !) हे जिनेन्द्र भगवान ! (त्वत्प्रसादेन) आपके प्रसाद से (तत्) वह (मे) मेरा (दुष्कृतम्) दुष्कृत या पाप या दोष (मिथ्या) नाश (अस्तु) हो।

भावार्थ—यहां पर भी प्रतिक्रमण का भाव झलकाया गया है। जहाँ तक कषायों का अभाव न हो अर्थात् वीतरागी न हो जावे वहां तक कषायों का जोर कभी कम व कभी अधिक होता रहता है। जिस समय परिणाम मे कषाय मद होती है तब ही भावो में शाति, विवेक, बुद्धिमानी झलकती है। तब वह मानव मुनि हो या श्रावक अपने धारण किये हुए चारित्र के नियमो मे बहुत बडा सावधान रहता है और मन, वचन, कायसे कोई दोष नही लगने देता है। परन्तु जिस समय किसी निमित्तवश परिणाम मे लोभ का कुछ जोर हो जावे या क्रोध का वेग उठ आवे या मानभाव से अन्धेरा हो जावे या आलस्य हो जावे या द्वेष-बुद्धि पैदा हो जावे या कामभाव से बावला हो जावे उस समय मन मे अशाति, अज्ञान और मूढता कम व अधिक घर कर लेती है। तब उसी मुनि व श्रावक से चारित्र के पालन मे बहुत से दोष लग जाते हैं। कदाचित् काय व वचन सम्बधी न हो व बहुत ही अल्प हो परन्तु मानसिक दोष तो हो ही जाते हैं। इसीलिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिसमे यह भावना भाई जाती है कि वे दोष दूर हो व उनसे लगा हुआ पाप क्षय हो जावे या कम हो जावे। श्री जिनेन्द्र भगवान के गुण परम पवित्र है। इसलिए उनके निर्मल गुणो के स्मरण से परिणाम निर्मल हो जाते है और पवित्र भावो मे यह शक्ति है कि पापो का नाश कर डाले। जैसे स्थूल शरीर मे बहुत सावधानी से हवा, पानी व भोजन लेते हुए व समय मे भोजनपान, नीहार, विहार व निद्रा लेते हुए कभी भी किसी न किसी बात मे भूल हो जाती है। अनिष्ट भोजन जबान के स्वादवश खा लिया जाता, रात्रिको देर तक जागकर निद्रा कम ली जाती, व काम-काज मे उलझ जानेसे बेसमय भोजन किया जाता, व अधिक स्त्री-प्रसग किया जाता इत्यादि अपनी

ही भूलोसे छोटे या बड़े रोग पैदा हो जाते हैं। तब गृहस्थ लोग उनके दूर करने के लिए औषधियाँ काम मे लेते हैं कि वह रोग शीघ्र मिट जावे, अधिक न बढ़े जिससे कि शरीर बेकाम हो जावे। इसी तरह मुनि व श्रावक बड़ी सावधानी से अपना आचरण पालते हैं तथापि कभी-कभी किन ही बाहरी कारणो के वश होकर चलनेमे देखनेका प्रमाद हो जावे, बोलनेमे कठोर व कषाय युक्त वचन निकल जावे, भोजन मे स्वादिष्ट पदार्थ की लालसा हो जावे, किसी स्त्रीको देखकर मनमे विकार हो जावे, असुहावनी कृति को देखकर मनमे अरतिभाव आजावे, सामायिक करते हुए धर्मध्यान न होकर किसी कारण से आर्तध्यान हो जावे इत्यादि दोष हो जाना सभव है। तब वह मुनि या श्रावक प्रतिक्रमण करके तथा परमात्मा के पवित्र गुणोका स्मरण करके अपने भावोको निर्मल करता है, मानो दोषोके रोगोको हटाने के लिए औषधि पीता है। ऐसा करने से दोषरूपी रोग मिटते रहते है, बढ़ने नही पाते। और वह आगामीके लिए सावधान रहता है। वास्तव मे यह प्रतिक्रमण एक तरह का स्नान है जो मन के मैल को व आत्मा के पापो को धो देता है।

श्री पद्मनदि मुनिने आलोचना पाठ मे ऐसा ही कहा है—

पापं कारितवान्यदत्रकृतवानन्यैः कृतं साध्विति।
भ्रांत्याऽहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ॥
काले संप्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्‌गतं यत्पुन.।
तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते! स्वं निंदतस्ते पुरः ॥७॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जो मैंने अपने मन वचन कायके द्वारा इस समय तक पाप किया हो, कराया हो व दूसरों से किये जाने पर उसे भ्रमबुद्धि में पडकर भला माना हो ऐसे नव तरहके दोष जो पहले लगे हो व अब लगते हो व आगे लगेंगे उन सब दोषो का नाश हो। मैं आपके सामने अपनी निन्दा कर रहा हू।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

हे देव ! आलस ठान हो अविवेक वृषपथ नासिया।
कर क्रोध लोभ प्रमाद मान कु काम द्वेष प्रकाशिया ॥
चारित्र शुद्ध विरुद्ध जो कुछ भी रहित मैंने किया।
जिनराज ! तव परसाद से हो नाश मै अघ बांधिया ॥३॥

उत्थानिका—आगे भावना करते हैं कि मेरा समय धर्म-ध्यान व रत्नत्रय की एकता मे बीते—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रियं कांक्षतः॥
देहादे. परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो ॥४॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभु ! (जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुष.) जीव और अजीव पदार्थों को जानते हुए (बधास्रवौ रुधत:) आस्रव और बधको रोकते हुए (शाश्वत्) निरतर (सवरनिर्जरे विदधत) सवर और निर्जराको करते हुए (मुक्तिप्रिय काक्षत.) मोक्षरूपी प्रियाकी चाह रखते हुए (देहादेः) शरीर आदि पर पदार्थोंसे भिन्न (अमल) निर्मल (परमात्मतत्व) परमात्माके स्वरूपको (तत्वत) यथार्थ रूपसे (पश्यत.) अनुभव करते हुए और

धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनस·) धर्मध्यान और समाभाव में शुद्ध मनको लगाते हुए (मे) मेरा (काला) समय (प्रयातु) बीते।

भावार्थ—इसमे आचार्यने जैन सिद्धातके मूलश्लोकभूत सात तत्त्वोंका सकेत करते हुए उन पर श्रद्धानको दृढ किया है। तथा उनमे कौन ग्रहण योग्य है व कौन त्यागने योग्य हैं इस भेद विज्ञान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारनय दोनोसे बताया है। असल बात यह है कि जिसको सुखशाति पानेकी चाह हो व अपने आत्माको पवित्र करनेकी रुचि हो उसको सात तत्त्वोको भले प्रकार समझकर उन पर अपना विश्वास लाना चाहिए। जीव और अजीव तत्त्व मे तो यह समझाया है कि यह लोक जीव और अजीव पदार्थों का समुदाय है। विना इन दो पदार्थों को माने हुए ससार और मोक्ष बन ही नही सकता है। यदि एक मात्रजीव ही पदार्थ होता तो सब जीव शुद्ध अपने स्वभाव ही मे पाए जाते। न कोई अशुद्ध होता न कोई दु खी होता न शुद्ध होने के लिए व सुखी होने के लिए कोई धर्म का साधन करता। क्योकि जीव का स्वरूप ज्ञानदर्शन सुख शातिमय है। यह स्वभाव से सबको जानने देखनेकी शक्ति रखता है, क्रोधादि इसका स्वभाव नही है किन्तु शाति इसका स्वभाव है, आनंद भी इसका स्वभाव है। सब ही जीव परमात्म स्वरूप ही उस लोक मे होते यदि एक जोव पदार्थ ही होता और यदि एक अजीव पदार्थ ही होता तो सब कुछ जड अचेतन होता फिर कोई जानने वाला व सुख दु ख को वेदने वाला नही होता फिर कहना सुनना समझना समझाना कुछ भी नही होता सो दोनोंका एकात नही है। जगतमें जीवभी

और अजीव भी हैं। ससारी जीव सब अशुद्ध है, क्योकि इनमें ज्ञान को कमी है, क्रोधादि है, क्लेश आदि भोगते है। यह अशुद्धता इसीलिए है कि इनके साथ कर्मरूपी पुद्गलो का जो बहुत सूक्ष्म है तथा अजीव के पाच भेदो म से एक है, उनका बध है। इसी को पाप व पुण्य कर्म का बध कहते है। अजीव पांच हैं—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनमे पुद्गल मूर्तिक है, क्योकि इसमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण, गुण पाए जाते हैं, शेष चार अमूर्तिक है। सारी रचना जो हमारी पाचो इद्रियो से मालूम करने मे आती है पुद्गलसे रची हुई है। हम शरीर से पुद्गल को छूते है, मुख से पुद्गल को खाते पीते व चबाते है, नाक से पुद्गल को ही सूघते है, आँख से पुद्गल को ही देखते है, कान से शब्दो को सुनते है जो पुद्गल से बने हुए है। सूक्ष्म पुद्गल इंद्रियो के द्वारा ग्रहण मे नही आते है तथापि उनके कार्य प्रगट है। उन कार्यों के द्वारा उनका होना समझ लिया जाता है। जैसे कर्म पुद्गल बहुत सूक्ष्म है इद्रियो से जाने नही जाते परतु ससार मे जीवो के भीतर अशुद्धता व दु ख सुख का भोगना देखकर अनुमान लगाते है कि पाप व पुण्य का अथवा कर्मों का बध है। इस लोकमे जीव और पुद्गल एक दूसरे पर असर डालते है, हलन चलन करते है, तरह-२ के कामो को करने वाले ये दो ही बड़े कार्यकर्ता हैं। बहुत से पुद्गल अपने स्वभाव से काम किया करते है, जैसे आग की गर्मीसे पानी का भाप बनना, बादलो का गिरकर पानी बरसना, धूप होना, छाया होना आदि कामपुद्गलो के द्वारा उनके स्वभाव ही से हुआ करते हैं, बहुत से कामो को यह ससारी जीव करता है। जैसे—खेती करना, मकान बनाना, कपडा बनना आदि-२। तीसरा कोई एक ईश्वर कराने वाला

नहीं है, न काम करने कराने में इसकी कोई आवश्यकता ही है। घी के सामने अग्नि आने से पिघलेगा ही, बर्फ के सामने गर्मी आनें से पानी होगा ही। ईश्वर का इन कामो मे हाथ है ऐसा कहना व्यर्थ है। ईश्वर निर्विकार, इच्छारहित, परमानन्दमई है, वह किसी वस्तु के बनाने व बिगाडने मे दखल नही देता है।

जीव और पुद्‌गल चार काम अपनी ही ताकत से करते हैं; जैसे—चलना, ठहरना, जगह पाना और अवस्थाओको बदलना। क्योंकि हरएक कामके लिए खास निर्मित कारण की जरूरत है। इसलिए इन चारो कामोके लिए जैन सिद्धात ने चार द्रव्य मानें हैं। जो जीव और पुद्‌गलों के चलने मे उदासीन कारण है वह लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्‌गलो के ठहरने मे सहकारी है वह लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जो सब द्रव्योकी अवकास देता है वह अनतव्यापी आकाशद्रव्य है। जो सब द्रव्योको अवस्था बदलनेमे मदद देता है वह कालाणु नामका कालद्रव्य है, जो रत्नो के समान अलग२ लोकके असंख्यात प्रदेशो मे तिष्ठा है।

जीव और कर्म पुद्‌गल इन दो द्रव्योके सम्बन्ध के कारण से आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्व व्यवहार किये जाते हैं।

ससारी जीवो के मन, वचन, कायके कामोके होते हुए आत्मा के प्रदेश कांपते हैं इस कारणसे चारो तरफके कर्म पुद्‌गल जीव के अच्छे या बुरे भावो के अनुसार पुण्य या पापरूप मे आते है। इसी को आस्रव तत्व कहते हैं। ये आए हुए ही कर्मपुद्‌गल जीव के साथ जो कार्माण शरीर है उसीमे बध जाते हैं। यह बधन किसी नियमित समय के लिए होता है। उस समय के

भीतर-२ वे अवश्य गिर जाते हैं। जिन कर्मों के अनुकूल सामग्री होती हैं वे कर्मफल देकर व अनुकूल सामग्री बिना फल दिये भी झड जाते हैं।

आस्रव और बंध तत्व से यह ज्ञान होता है कि जीव अशुद्ध कैसे होता है। क्योंकि जब तक परमात्म स्वभावके निकट न पहुचे तबतक ससारी जीवोके मन वचन काय काम किया करते है और हर समय जैसे पुराने कर्म झडते है वैसे नए पुण्य या पाप कर्म बधते भी जाते हैं। यदि आत्मा को कर्मबंध से छुडाना हो तो संवर और निर्जरा तत्वको समझना चाहिए। कर्मोंके आने और बंधके रोकने को सवर कहते है। संवर के लिए उद्यम करना चाहिए। जिन भावो से कर्म बधते हैं उनको रोकना चाहिए। इस संवरके लिए हिंसादि पाँच पाप छोडकर अहिंसा सत्य आदि पाँच व्रत पालना चाहिए, क्रोधादि भागोको रोककर उत्तम क्षमा आदि दशधर्म पालना चाहिए, आर्त्तध्यान रौद्रध्यान रोककरधर्म-ध्यान शुक्लध्यान साधना चाहिए, प्राचीन बधे हुए कर्मोंको अपने समय के पहले व उनका बिना फल भोगे हुए दूर करने की रीति को निर्जरा तत्व कहते हैं—तप करनेसे अर्थात् इच्छाओको रोक कर आत्मध्यान व वीतराग भावका अभ्यास करनेसे कर्म झडते जाते हैं। सर्व कर्मोंके बंधसे छूटकर आत्माके पवित्र हो जानेका नाम मोक्ष तत्व है। मोक्ष अवस्था में आत्मा सदा अपने ज्ञाना-नंदका विलास किया करता है। इन सात तत्वोमें अजीव आस्रव व बध त्यागने योग्य हैं जबकि जीव, सवर, निर्जरा व मोक्ष ग्रहण करने योग्य हैं। परतु निश्चयनयसे इन सात तत्वोमें दो ही पदार्थ

हैं—जीव और अजीव। इन दोनो में से जोवको ही ग्रहण करके उसके ही शुद्ध स्वरूप का अनुभवव करना चाहिए इसोलिए आचार्यने कहा है कि जीव अजीवसे भिन्न है ऐसा जानो, आस्रव बधके कारणोको रोको, सदा सवर और निर्जराका उपाय करो, स्वाधीनता रूप मोक्ष पाने को उत्कठा रक्खो तथा निश्चयनय से एक अपने हो शुद्ध आत्मतत्त्व को भद विज्ञान के बल से राग-द्वेषादि भावो से भिन्न वीतराग विज्ञानमय विचारो और अनुभव करो। यही मार्ग सुख शाति पाने का तथा कर्मोके बध से छूटने का है। जब तक हम इस देह मे है हमे अपना समय इसो तरह पर विताकर सफल करना चाहिए। यही मानव-जीवन का लाभ है। श्री पद्मनदि मुनि ने आलोचना के पाठ मे मुक्तिपद की ही भावना की है जैसे—

इन्द्रत्वं च निगोदता च बहुधा मध्ये तथा योनय ।
संसारे भ्रमता चिर यदखिलाः प्राप्ता मयानंतश· ।।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम् ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं ता देव ! पूर्णां कुरु. ।।

भावार्थ—हे देव ! मैंने इस ससारमे चिरकालसे भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना तथा इनके मध्य की बहुत प्रकार योनियो को अनतबार पाया। इसलिए सिवाय मोक्षके देनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रय की पदवो के और कोई वस्तु मेरे लिए अपूर्व नही है अर्थात् मै सिवाय अभेद रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके और किसी वस्तुको नही चाहता हूँ, क्योकि इसीसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण आप इसीकी पूर्ति कीजिए।

वास्तवमें ऐसी-२ भावना परिणामोंको निर्मल करनेवाली हैं और सुख शान्ति प्रदान करने वाली है।

मूल श्लोकानुसार छंद गीता

सत् तत्व जीव अजीव जानत बंध आस्रव रोकते।
करते सुसंवर निर्जरा नित मुक्तिप्रिय अवलोकते॥
देहादिभिन्न सुनिर्मलं परमात्म तत्त्व सुध्यावते।
मम काल बीते हे प्रभो ! वृष ध्यान समता पावते॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्तम कार्य वही कर सकता है जिसका ससार वास समाप्त होने को आया है व जो मुक्ति पाने के लिए शीघ्र ही अधिकारी हो गया है—

पृथ्वीवृत छद

कषायमदनिर्जयः सकलसंगनिर्मुक्तता।
चरित्रपरमोद्यमो जननदुःखतो भीरुता॥
मुनीन्द्रपदसेवना जिनवचोरुचिस्त्यागिता।
हृषीकहरिनिग्रहो निकटनिर्वृतेर्जायते॥५॥

अन्वयार्थ—(कषायमदनिर्जय.) क्रोधादि कषायोके मदको जीतना (सकलसगनिर्मुक्तता) सर्व परिग्रह का त्याग (चरित्र-परमोद्यमो) चारित्रके लिए गाढ प्रयत्न (जननदु खतो भीरुता) ससारके दुःखोंसे भय (मुनीन्द्रपदसेवना) मुनीश्वरोके चरणो की सेवा (जिनवचोरुचिः) जिनवाणी मे रुचि (त्यागिता) सर्व वस्तु का त्याग या एक देश त्याग अथवा दान करना और (हृषीकहरिनिग्रहा) इन्द्रिय रूपी सिंह को वश करना (निकट-निर्वृतेः) जिसके मुक्ति निकट है उस महात्मा के (जायते) ये बातें प्रकट होती हैं।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि जिनको संसार-समुद्र तिरने मे बहुत थोडो देर है अर्थात् जो दोर्घकाल तक ससार मे फंसे न रहेगे और शोघ्र ही मुक्ति को पाएँगे उन महात्माओ को ही वे सब कारण व साधन सहज में मिल जाते हैं, जो कर्मों को काटने वाले हैं। वास्तव मे मुक्ति का साक्षात् साधन निर्ग्रंथ पद है। अर्थात् सर्व परिग्रह रहित साधुपद है। जिसका बाहरी भेष नग्न दिगम्बर है, मात्र पोछो व कमडल और होता है, जिससे जोवदया पाली जावे और शौच का काम लिया जावे। ये साधु शरीरसे ममता के त्यागो होते हैं, इसीलिए अपने केशों को हाथ से घास के समान उखाड कर फेक देते हैं। तथा ये अहिंसाव्रत के पूर्ण पालक होते हैं इसीलिए चार हाथ प्राशुक भूमि आगे देखकर दिन में चलते हैं। रात्रि को एक स्थान में ठहरते हैं। जिनके वचन बड़े मिष्ट, अल्प व शास्त्रोक्त होते हैं। जो शुद्ध भोजन समताभाव से गृहस्थो को बिना किसो प्रकार का कष्ट दिये हुए जो उन्होने अपने कुटुम्बक हेतु बनाया है उसीका कुछ भाग भक्तिपूर्वक दिए जाने पर लेते है। जो निर्जंतु स्थानो मे मलमूत्र करते है व जो किसी वस्तु को देख शोधकर उठाते धरते है। ऐसे पाच समिति के पालक है, जो बिना दिए हुए अपने से कभी कोई वस्तु यहा तक कि पानी व फलफूल भी नही लेते। जो सत्य वचनो के सिवाय कभी भी हिंसाकारी असत्य नही कहते। जो परम शुद्ध ब्रह्मचर्य को दृष्टि से देखते हुए कामभाव को अपने मन में जगह नहीं देते। जो किसी क्षेत्र व रुपये पैसे पर व किसी अन्य चेतन अचेतन पदार्थ पर ममत्व भाव नही रखते। ऐसे पाच अहिंसादि महाव्रतों के पालक है।

जिन्होंने क्रोधादि कषायों को ऐसा जीत लिया है कि सताये जाने पर भी किसी पर द्वेष नहीं करते है। अपने शत्रु को भी आत्मा का हित ही चाहते है। जो विद्वान् व माननीय होने पर भी कभी घमंड नही करते। कही तिरस्कार हो जाय तो जरा भी उदास नही होते। जो कभी कपट या मायाचार नही करते मन मे जो होता है वही वचन से कहते, वचन से कहते वही क्रिया करते है। जो लोभ के यहा तक त्यागी है कि अनेक प्रलोभनो के कारण मिलने पर भी वीतराग भाव से नही हटते। जिनका निरतर यह उद्यम रहता है कि हम स्वरूपाचरण चरित्र में डटे रहे अपने निजआत्मा का अनुभव करते रहे, जिनके मन में चार गतिरूप संसार महाभयंकर आकुलता का समुद्र दीखता है, सदा यह खटका रखते हैं कि यह मेरा आत्मा कही इस गोरखधधे मे न फस जावे। जो अपने गुरुओ की सेवा इसीलिए करते रहते हैं कि गुरु उनके चारित्रकी सभाल रखते और उनको सदा मोक्ष मार्गपर भले प्रकार चलने के लिए उत्तेजना देते व सुधार करते हैं। जो जिनवाणी को तत्वविचार में परम उपयोगी समझकर उसका निरन्तर बडे प्रेम से अभ्यास करते हैं। जो अपने आत्मीकशुद्ध भावो के सिवाय सर्व पर भावोंको त्याग देते हैं या जो निरतर जीवरक्षा करके अभयदान देते व धर्मोपदेश देकर ज्ञानदान देते हैं व जिनके वश मे पांचो इन्द्रियां रहती हैं। इसीसे वे जिन या जितेंद्रिय होते हैं ऐसे साधु महात्मा भावलिंगी मुनि होते हैं। वे यातो उसी जन्म से या दो चार दस जन्म मे संसार से मुक्त हो जाते हैं। आचार्य के कहने का मतलब यह है कि इन सब बातों को बडा दुर्लभ व परम उपयोगी समझना चाहिए और जब इनमें से कोई या सब बाते प्राप्त हो जावे तो

बडा उत्तम समय मानना चाहिए और प्रमाद छोडकर अपने हित मे दृढ़ रहना चाहिए। जो पुरुषार्थी होते हैं वे ही साधु निजानन्द भोगते हुए अनत सुख के अधिकारी हो जाते हैं।

श्रीपद्मनद मुनि यतिभावनाष्टकमे मुनिका स्वरूप कहते है—

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनम् ।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलीम् ।
ये तिष्ठंति मनोमरूच्चिदचलैकत्वप्रमोद गता ।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः ॥१॥

भावार्थ—जो साधु महाव्रतो को लेकर, निर्मल आत्मा के तत्व को समझकर तथा वन मे जाके सब ही मोह कर्म के वश से पैदा होने वाले अनेक विकारो को छोड करके मन, श्वासोच्छ्वास और आत्मा तीनो की निश्चलता मे एकतान होते हुए आनन्द को भोगते हुए पर्वत के समान कप रहित रहते हैं वे सर्व परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ साधुविनय प्राप्त करते हैं अर्थात् कर्मोंको जीतकर परमात्मा, परमेश्वर व परमब्रह्म होजाते हैं—

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

कुकषाय अरिको चूरना अर सब परिगह त्यागना ।
चारित्रमें उद्यम घना संसार क्लेश निवारना ।
आचार्य पद का सेवना जिनवाणि में रुचि धारना ।
इन्द्रिय विजय पर त्याग हों ढ़िग मोक्ष का जब आवना ॥५

उत्थानिका—आगे भावना भाते है कि सुख-दुःख आदि मे मेरा भाव समता भाव को भजे क्योंकि यही समता निर्जरा का कारण है।

मदाक्राता

विद्विष्टे वा प्रशमवति वा बाधवे वा रिपौ वा ।
मूर्खौघे वा बुधसदसि व पत्तने वा वने वा ॥

संपत्तौ वा मम विपदि वा जीवते वा मृतौ वा ।
कालो देव ! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्रदेव ! (मम) मेरा (सकल) सर्व (काल) समय (विद्विष्टे वा) मेरे से द्वेष करने वाले में (प्रशमवति वा) अथवा मेरे ऊपर शात भाव रखने वाले में, (बाधवे वा) बन्धु मे (रिपौ वा) अर्थात् शत्रु में (मूर्खौघे वा) मूर्खो के समुदाय मे (बुधसदसि वा) अथवा बुद्धिमानो की सभा मे (पत्तने वा) नगरमे (वने वा) अथवा जगल मे (सपत्तौ वा) धनादि की प्राप्ति मे (विपदि वा) अथवा आपत्ति मे (जीवते वा) जीने मे (मृतौ वा) अथवा मरने मे (तुल्यवृत्तिम्) समान रूप या समता रूप वर्तन (कुर्वत) करते हुए (व्रजतु) बीते ।

शिखरिणी छन्द

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजन के वा सुहृदि वा ।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा दृषदि वा ॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यातु दिवसा ।
दधानस्य स्वान्ते तव जिनपते ! वाक्यमनघम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिनपते) हे जिनेन्द्र (सुखे वा) सुख मे (दु खे वा) अथवा दु ख मे (व्यसनजन के वा) आपत्ति मे डालने वाले शत्रु मे (सुहृदि वा) अथवा मित्र मे (गृहे वा) घर मे (अरण्ये वा) अथवा जगल मे (कनकनिकरे वा) सुवर्णके ढेर मे (दृषादि वा) अथवा पाषाण मे (प्रिये वा) किसी प्रिय या मनोज्ञ वस्तुमे (अनिष्टे वा) अथवा किसी अमनोज्ञ वस्तुमे (समधिय·) समता बुद्धिको रखते हुए तथा (तव) आपके (अनघम्) पाप रहित या

पवित्र (वाक्यम्) वचन को (स्वान्ते) अपने मन मे (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (यांतु) बीतें।

भावार्थ - इन दो श्लोको मे आचार्य ने सामायिक के स्वरूप को दिखला दिया है। वास्तव मे समताभाव को ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असल मे तबही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे औरव्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखने से हर एक पदार्थ का मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभाव मे देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न-२ अवस्थाओ को व पार्थ के भेदा को व असली हालत पर पहुचने के साधनो को व उसके अशुद्ध स्वरूप को देखा जा सके। जैन सिद्धात ने यह आवश्यक बताया है कि दोनो नयो से पदार्थोंको देखना चाहिए जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयो यः प्रबुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः सएव फलमविकल शिष्यः॥
(**पुरुषार्थ०**)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो को समझकर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है वही जिनवाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करना है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POINT OF VIEW)से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पडता है। यह राजा है यह रक है, यह स्वामी यह सेवक है, यह धनवान

है यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान् है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वदनीय है यह वदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बाधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अंग्रेज है यह फ्रॉसीसी है, यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रि है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चन्द्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जगल है, यह वन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह काच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह श्मशान है, यह फूल है यह कटक है, यह शय्या है यह भूमि है, यह चादो है यह लोहा है, यह ताबा है यह मिट्टी है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनय की दृष्टि में है। यही दृष्टि रागद्वेष मोह का कारण है जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बधु, पशु आदि से अपना स्वार्थ सधता है अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन सामान आदि से अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग

पवित्र (वाक्यम्) वचन को (स्वान्ते) अपने मन मे (दधानस्य) धारण करते हुए (मम) मेरे (दिवसाः) दिन (यातु) बीतें।

भावार्थ - इन दो श्लोको मे आचार्य ने सामायिक के स्वरूप को दिखला दिया है। वास्तव मे समताभाव को ही सामायिक कहते हैं। यह समताभाव असल मे तबही जगता है जब निश्चय नयकी शरण ग्रहण की जावे औरव्यवहार नयकी दृष्टिको गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखने से हर एक पदार्थ का मूल या असली रूप दिख जाता है। यही द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यको मात्र उसके असली स्वभाव मे देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है जिसके पदार्थ की भिन्न-२ अवस्थाओ को व पार्थ के भेदा को व असली हालत पर पहुचने के साधनो को व उसके अशुद्ध स्वरूप को देखा जा सके। जैन सिद्धात ने यह आवश्यक बताया है कि दोनो नयो से पदार्थोंको देखना चाहिए जैसा कहा है—

व्यवहारनिश्चयो यः प्रबुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः सएव फलमविकलं शिष्यः॥
(**पुरुषार्थ०**)।

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो को समझकर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है वही जिनवाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करना है।

यह जगत व्यवहारनय (PRACTICAL POINT OF VIEW)से देखते हुए अनत भेदरूप विचित्र दिखलाई पडता है। यह राजा है यह रक है, यह स्वामी यह सेवक है, यह धनवान

है यह निर्धन है, यह सुन्दर है यह कुरूप है, यह बलवान है यह निर्बल है, यह विद्वान् है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वदनीय है यह वदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बाधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है, यह जर्मन है यह जापानी है, यह अंग्रेज है यह फ्राँसीसी है, यह अमेरिकन है यह आफ्रिकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रि है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चन्द्र है, यह स्वर्ग है यह नर्क है, यह स्वदेश है यह परदेश है, यह यह भरत है यह विदेह है, यह घर है यह जगल है, यह वन है यह उपवन है, यह सुवर्ण है यह काच है, यह रत्न है यह पाषाण है, यह महल है यह श्मशान है, यह फूल है यह कटक है, यह शय्या है यह भूमि है, यह चादी है यह लोहा है, यह ताबा है यह मिट्टी है, यह निर्मल है यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहारनय की दृष्टि मे है। यही दृष्टि रागद्वेष मोह का कारण है जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बधु, पशु आदि से अपना स्वार्थ सधता है अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र, वर्तन सामान आदि से अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग

होता है तथा जिन पुरुषों से व स्त्रियों से अपने स्वार्थ साधन मे हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, वर्तन या सामान अपने चित्त को कष्टप्रद भासते है उनसे द्वेष पैदा हो जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से देखते हुए अहकार व ममकार पैदा होते हैं, मैं राजा हू, मैं धनवान हू, मैं बडा हू, मैं दीन हू, मैं दुखी हू, मैं रोगी हू, मैं निरोगी हू, मैं सुन्दर हू, मैं कुरूप हूं, मैं पुरुष हूँ मैं स्त्री हूं इत्यादि अहबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रन्थ मेरा है, यह मदिर मेरा है, इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहकार ममकार के द्वारा वर्तन करते हुए चारो कषायो की प्रबलता हो जाती है। कषायो के द्वारा तीव्र कर्म का बध हो जाता है और यह मोही प्राणी ससार के झझटो मे व सुख तथा दु ख मे उलझा रहता है। कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी सच्ची शाति को नही पाता है।

निश्चय नय से देखते हुए ये सब ऊपर लिखित भेद नही दीखते हैं। ये सब भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्यो के निमित्त से हैं। बस जो निश्चय से देखता है उसे सर्व ही जीव संसारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु, मनुष्य, छोटे, बडे, राजा, रंक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभाव मे ही दिखते है। सब ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य के धारी परमात्मारूप ही दिखते है। आप भी अपने को परमात्मारूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्मारूप दिखते हैं। तथा सब पुद्गल स्पर्श, रस, गधवान अजीवरूप एक से दिखते है। इस दृष्टि से देखते हुए ही समताभाव की जागृति होती है, रागद्वेष का अभाव होता है,

शत्रुमित्र की कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व पदार्थ का भेद निकलता है, इष्ट व अनिष्ट का द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभाव को पैदा करती है। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह मे कहा है—

मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारीसव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

भावार्थ—व्यवहारनय से १४ मार्गणा के भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इन्द्रिय वाला है इत्यादि अथवा १४ गुण स्थान के भेद कि यह मिथ्याती है यह सम्यक्ती है, यह साधु है, यह केवली है इत्यादि ससारी जीवो मे दिखते हैं परन्तु शुद्ध निश्चयनय से देखते हुए सर्व ही जीव शुद्ध एक रूप परमात्मा है। समताभाव लाने के लिए हमको व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिक में तन्मय होते है वे उपसर्ग करने वाले पर व प्रशसा करने वाले पर समताभाव रखते हैं। वीतराग भाव का साधक निश्चयनय के द्वारा अवलोकन करना है। तत्व विचार के समय आत्मध्यान जगाने के लिए निश्चयनय का आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार कलश मे कहा है—

इदमेव तात्पर्यं हेय. शुद्धनयो नहि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्यागाद्बन्ध एव हि॥

भावार्थ—मतलब यही है कि शुद्ध निश्चयनय भी छोडना न चाहिए क्योंकि जब तक इसका सहारा होगा तब तक कर्म का बध न होगा तथा इस नय के त्याग होते ही कर्म का बध होगा। दोनो श्लोकों मे आचार्य ने निश्चयनय को प्रधान करके

समताभाव का स्वरूप दिखलाया है। यह सच्ची तत्वभावना का एक प्रकार है।

वास्तव मे समताभाव लाने के लिए ऐसी ही भावना कार्यकारी है। श्री पद्मनंदि मुनि निश्चय पचाशत में कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है वह शुद्ध आत्मा को पाता है तथा जो अशुद्ध रूप अपने को ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्मा को पाता है जैसे कोई मनुष्य सोने से सोने का कडा व लोहे से लोहे का कडा बना लेता है।

मूल श्लोकानुसार छन्द गीता

द्वेषकारी शातिधारी बंधु में अर शत्रु मे।
मूर्खजन वा पंडितो मे शुभ नगर वा बनों मे॥
सम्पत्तिमें वा विपति मे, वा जन्ममें वा मरणमे।
हे देव ! मेरा काल वीते भाव समता धरण में॥६॥
सुख में वा दुःख मे वा क्लेशकर अरि मित्र मे।
घरमें अरणमें कनक ढेरी और लोष्ट पाषाणमें॥
प्रिय वस्तु वा अप्रिय रहो ममदिवस हो समबुद्धिमे।
हे जिनपते ! तव निर्मलं वच सदा धारूं हृदयमे॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्तम कार्य करनेवाला ऊची गतिको व नीच कार्य करनेवाला नीची गतिको जाता है--

(शार्दूलविक्रीडत छन्द)

ये कार्यं रचयंति निंद्यमधमास्ते याति निंद्यां गतिम्।
ये वंद्यं रचयंति वन्द्यमतयस्ते यांति वंद्या पुनः॥

ऊर्ध्वं यान्ति सुधागृहं विदधतः कूपं खनंतस्त्वधः ।
कुर्वन्तीति विबुध्य पापविमुखा धर्मं सदा कोविदाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (अधमा) नीच लोग (निद्यम्)निन्दा के लायक खराब (कार्यं) काम (रचयन्ति) करते है (ते) वे (निंद्या) निंदनीय या बुरी (गतिम्) गतिको (याति) पहुचते है (पुन) परन्तु (ये) जो (वद्यमतयः) प्रशसनीय बुद्धिधारी (वद्य) प्रशसा के लायक/उत्तम कार्यं को (रचयन्ति) करते हैं तो वे (वद्या) माननीय या उत्तम गति को (याति) जाते है जैसे (सुधागृह) राजमहल को (विदधतः) बनाने वाले (ऊर्ध्वं) ऊपर को (तु) परन्तु(कूप) कुएको (खनत·)खोदनेवाले (अधः) नीचेको (याति) जाते है(इति) ऐसा(विबुध्य) भले प्रकार जानकर (पापविमुखा·) पापोसे मुह मोडनेवाले (कोविदा)बुद्धिमान पुरुष (सदा) निरन्तर (धर्म)धर्म को (कुर्वन्ति) साधत रहते हैं।

भावार्थ—इस श्लोक मे आचार्य ने दिखलाया है कि हरएक जीव अपने भले या बुरे का जिम्मेदार है। जो जैसा कार्य करता है वह वैसा हो जाता है । इस ससारी जीव के पास मन वचन काय से तीन पाप तथा पुण्य कर्मके आने के द्वार है। जब ये शुभ कार्यों मे बर्तते है तब मुख्यतासे पुण्य कर्म आते है और जब ये अशुभ कार्यो मे बतते है तब पाप कर्म आते है। यह जीव हर समय अपने शुभ या अशुभ भावो के अनुसार पुण्य तथा पाप कर्मो को बाधता रहता है । साधारण रूप से आयुकर्म को छोड़ कर ज्ञानावरणादि सात कर्मो को नित्य बाधता रहता है । आयु कर्म को विशेष काल मे अपनी भोगने वाली आयु के आठ त्रिभागो मे से किसी मे या मरण के पहले बाधता है । आयुकर्म के अनुसार ही यह जीव चार गतियो मे से किसी गति मे जाता

है : एक मानव की अपेक्षा देवगति ही ऊंची है नरकगति व पशुगति नीची है व मानवगति बराबर की है। यदि उच्चभाव होंगे तो ऊची आयु को नीच भाव होगे तो नीच आयु को, मध्यम भाव होगे तो मध्यम आयु को बाधकर तदनुसार गति मे जाता है। जो रौद्रध्यानी हिसक, दुष्कर्मी है वह नर्कायु बाध नर्क को, जो आर्तध्यानी दु खित भावधारी है वह तिर्यच आयु बांध कर पशु गति को, जो धर्मध्यानी है वह देव आयु बाधकर देव गति को, जो कोमल परिणामी है यह मनुष्य आयु बाँधकर मनुष्य गति को जाता है। परन्तु जो शुक्लध्यान को आराधता है और गुणस्थानो मे चढता हुआ अर्हंत केवली हो जाता है वह कोई भी आयु न बाधकर सब कर्मों से छूटकर शुद्ध परमात्मा हो जाता है। इस लोक मे भी देखा जाता है कि जो लोग परोपकार, दान, पूजा, गुरु सेवा आदि शुभ काम किया करते हैं उनकी प्रतिष्ठा व मान्यता होती है तथा जो परका अपकार, पर की बुराई, अन्याय के विषयो मे प्रवृत्ति हिसककर्म, चोरी आदि बुरे काम करते हैं वे निन्दायोग्य व बुरे समझे जाते है।

यहा दृष्टात दिया है कि जो लोग राजमहल बनाते है वे दिन पर दिन ऊपर को चढते जाते है परन्तु जो कुआ खोदते हैं वे दिन पर दिन नीचे धसते जाते हैं।

इसलिए बुद्धिमानो को चाहिए कि सदा धर्म के सेवन मेलगे रहे। जो सम्यकदर्शन पूर्वक धर्म का सेवन करगे वे इस लोक तथा परलोक दोनो मे सुख पाएगे।

वास्तव मे जैन धर्म वीतराग विज्ञानमय है। इसको हरएक धर्म क्रिया मे आत्मा के गुणो का ध्यान आता है। आत्मा सुख-शाति मय है, इससे धर्म सेवन करते हुए सुखशाति तो तुर्त प्राप्त

होती है तथा अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होने से आत्म बल बढता है। तथा पाप कर्मों का रस कम होने से व पुण्य कर्मों का रस बढने से सासारिक क्लेश घटते हैं और सासारिक सुख बढ़ते है तथा तीव्र आपत्ति पडने पर धैर्य की प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीर मे रहते हुए ही प्राप्त होते हैं, इसलिए जो धर्म का सेवन करते है वे परलोक के लिए उत्तम आयु बांधकर शुभ गति मे जाते है, ऐसा समझकर हम सबको इस पवित्र जैन धर्म की शरण मे सदा रहकर व इसे निरतर आराधनकर इस लोक तथा परलोक को प्रशसनीय बनाना चाहिए—

श्री शुभचन्द्राचार्य श्री ज्ञानावर्णव मे लिखते है—

(मालिनी छन्द)

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट—
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं ।
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ।।२३।।

भावार्थ—यदि तुझे नरक मे जाने से रुकना अति प्यारा है व यदि तू इद्र की महा विभूति को प्राप्त करना चाहता है, अथवा यदि तू चारो पुरुषार्थों मे से अन्तिम मोक्ष पुरषार्थ को करना चाहता है तो तुझसे और अधिक क्या कहे तू एक मात्र धर्म ही का साधन कर।

मूल श्लोकानुसार गीता छन्द

जो निन्द्यजन दुष्कर्म करते निन्द्य गति मे जात हैं।
जो सन्तजन शुभ कर्म करते उच्च गति को पात हैं ।।

अरु राज्य गृह रच उच्च जाते कूप खनते नीच हो।
हम जान बुधजन धर्म सेवें पाप से भयभीत हो ॥८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो लोग शरीर के सुख के लिए कुचेष्टा करते हैं वे अपनी शक्ति को नष्ट करते हैं—

चेष्टाश्चित्तशरीरबाधनकरी. कुर्वंति चित्तेऽधमा।
सौख्यं यस्य चिकीर्षवोऽक्षवशगा लोकद्वयध्वंसिनी. ॥
कायो यत्र विशीर्यते, स शतधा मेघो यथा शारद-
स्तत्रामी बत ! कुर्वते किमधियः पापोद्यम सर्वदा ॥९॥

अन्वयार्थ—(अक्षवशगा·) इन्द्रियो के वश मे पडे हुए (अधमा) नीच पुरुष (यस्य) जिस शरीर के (सौख्य) सुख को (चिकीर्षव) चाहते हुए (चित्तशरीरबाधनकरी) मन और शरीर को बाधा देनेवाली तथा (लोकद्वयविध्वसिनी)इस लोक व परलोक दोनों को बिगाडने वाली (चेष्टा·) क्रियाए (चित्ते) अपने मन मे (कुर्वन्ति) करते रहते हैं व (यत्र) जिस ससार में (स काय) वही शरीर (यथा) जैसे (शारद.) शरद ऋतु का (मेघो) मेघ विघट जाता है तैसे (शतधा) सैकडो तरह से (विर्शीयते) नष्ट हो जाता है (तत्र) तिस ससार मे (अमी) ये (अधिय) मूर्ख लोग (किं) क्यो (सर्वदा) सदा (पापोद्यम) पाप का उद्यम (कुर्वते) करते रहते है (बत !) यह बडे खेद की बात है।

भावार्थ—इस श्लोक मे आचार्य ने बताया है कि जो पुरुष मिथ्या दृष्टि बहिरात्मा है अर्थात् जिनको आत्मीक सच्चे सुख का पता नही है वे शरीर के सुख को सुख मानते है वे इद्रियो के दास हो जाते हैं और इन इद्रियो के द्वारा जो नाना प्रकार की इच्छाए पैदा होती हैं उन्हीको पूरा करने के लिए रात-दिन

उद्यम करते रहते है। वे धनके पिपासु होकर, किसीको सताकर झूठ बोलकर, चोरी करके, विश्वासघात करके धन कमाने में ग्लानि नही मानते, उनको अपनी स्त्री व परस्त्री का विवेक नही रहता है, वे भक्ष्य व अभक्ष्यके विचार से शून्य हो जाते हैं। जिस तरह इद्रियों की तृप्ति हो उसी तरह वर्तन करना उनके जीवन का ध्येय बन जाता है। उनको मास व मदिरा से भी परहेज नही रहता है। उनको जो जो क्रियाये होती है वे सब हानिकारक होती हैं। इंद्रियो की लम्पटता से विवेक शून्य हो, चाहे जो कुछ खा पी लेते हैं और वे रोगो के शिकार हो जाते है, अधिक विषयभोग से निर्बल हो जाते है। फिर तो उनको शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी महान् कष्ट होते है उस समय उनके मन की आकुलता को समझना एक अनुभवी मानव का ही काम है। इद्रियो के भोगो की चाहना रहनेपर भी वे विचारे इन्द्रियो का भोग शरीर की निर्बलता व रोग के कारण नहीं कर सकते। आर्तध्यान मे मन दु खित रहता है। यदि कदाचित् थोडी भी मुक्ति रोग से हो जाती है कि फिर अन्धे हो विषयो के वन मे पागल हो दौडते है, फिर अधिक रोगी हो जाते हैं। भावो मे तीव्र विषयवासना से व हिंसा, झूठ, चोरी कुशील तथा तीव्र शरीर की व धन की व विषयभोग योग्य पदार्थों की ममता से अशुभ उपयोग मे फस जाते है। यह अशुभ उपयोग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय कर्म का तीव्र बंध करता है, साथ मे असाता वेदनीय, अशुभनाम व नीच गोत्र का बध हो जाता है तथा जब आयुकर्म के बंध का अवसर

आता है तब यह प्राणी नरक व पशु आयु को बाध लेता है। एक न एक दिन चाह की दाह मे जलता हुआ शरीर त्यागता है और नारकी या पशु या एकेंद्रिय जीव पैदा हो जाता है। इस तरह विषयलम्पटी प्राणी अपने इस अमूल्य शरीरको नष्ट करते हुए इस लोक मे दु खी व अपयश के भागी होते है और परलोक में कुगति के अधिकारी होते है। आचार्य खेद करते है कि ऐसे अज्ञानी लोगो को क्या यह मालूम नही है कि यह शरीर शरद ऋतु के मेघो की तरह नष्ट होने वाला है, यह स्थिर रहने का नही है। जैसे मिट्टी का घडा थोडी सी ठोकर लगने पर टूट जाता है ऐसे ही यह शरीर आयुकर्म के क्षय से कभी तो पूरी आयु भोग कर कभी अकाल मे ही छूट जाता है तब पछताता हुआ चला जाता है। तब वे कोई भी सचेतन या अचेतन पदार्थ इसका साथ नही देते है जिनके ऊपर ये अपने सुख का आधार रखता था।

थोडी सी मनुष्यायु मे पापो का उद्यम करके इसलोक और परलोक को बिगाडकर वे मूर्खजन अपना घोर अहित कर लेते हैं। आचार्य सचेत करते है कि हे जीवो ! यदि तुम इन्द्रियो के दास न होकर उनको अपने वश मे रखते और अपनी बुद्धिबल से अपने आत्मा को समझ लेते तो तुम्हे आत्मा के भीतर रहे हुए सुख समुद्र का पता लग जाता जिसमे स्नान करने के लिए किसी परपदार्थ की जरूरत नही रहती है। यदि आत्मा को समझ लिया जाता तो जगत की आत्माओ से प्रेम पैदा हो जाता तब यह हिंसादि पापो मे स्वयं नही प्रवर्तता किन्तु जीव दया व परोपकार भाव मे वर्तता हुआ पुण्य की कमाई करता—इस

नश्वर शरीर से आत्मोन्नति कर जाता। यहां भी सुखी रहता और परलोक मे भी शुभ भावो से शुभ गति पाता है। बुद्धिमानों को खूब सोच विचारकर इस शरीर का उपयोग कुचेष्टाओ मे न करके सुकर्म मे करना चाहिए। जिससे यह मानवजीवन स्व पर उपकारी बनकर अपना समय सफल कर सके।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं कि इन्द्रिय सुखों में लीनता महान मूर्खता है।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं।
तत्वं विविक्तमवगम्यजिनौशिनोक्तम्॥
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य।
हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः॥९५॥
दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां।
धर्मं धुनाति विदधाति विनिन्द्य कर्म॥
रेकश्चिनोति कुरुतेऽति विरूपवेषं।
किं वा हृषीकवसतस्तनुते न मर्त्यः॥९६॥

भावार्थ—जो अज्ञानी जिनेन्द्र के कहे हुए उस आत्म स्वरूप को जो सर्व परभावों से रहित है व जो नाना प्रकार आपत्तियों की धूल के ढेर को उडाने के लिए पवन के समान है, भले प्रकार समझकर विषयो के सुख को सेवता है वह मूर्ख हाथ में आए हुए अमृत को छोडकर भयानक विष को पीता है। जो इन्द्रियों का दास हो जाता है वह दूसरों की चाकरी करता है, नीचो की सेवा करने लगता है, धर्म को नाश कर देता है, हिंसादि निन्द्यकर्म को करने लगता है, पापो को सचय करता है, अपना रूप अति कुरूप कर लेता है। अधिक क्या कहें इन्द्रियो के वश में पड़ा मानव

क्या-२ अनर्थ नही कर लता है ? वास्तव मे जो इन्द्रियो का दास है वह पशु से भी निकृष्ट है। मानव ही वह है जो इन्द्रियो को काबू मे रखकर अपना जीवन सुकार्यों में विता कर सफल करता है।

मूलश्लोकानुसार गीता छन्द

जग नीच जन हो दास इन्द्रिय काय सुखको चाहते।
इस लोकद्वयको नाशकारी कर्म निन्द्य रचावते।।
बहु काय मन पीड़ा सहें सो काय शारद मेघ सम।
यह नष्ट होती हा ! कुधी नित पाप करते हैं अधम ।।९।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोह में अन्धी हुई बुद्धि संसार बढाने वाली और मोक्ष को बहुत दूर रखने वाली है।

कांतेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा।
जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्वनम ।।
एषा यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी।
तावद्गच्छति निर्वृतिं बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनीं ।।१०।।

अन्वयार्थ—(इय) यह (काता) स्त्री है (अय) यह पुत्र है (अयं) यह (सुहृत्) मित्र है (इयम्) यह (माता) मा है (एषा) यह (स्वसा) बहिन है (इय) यह (जामा) पुत्री है (एष.) यह (रिपु) शत्रु है (इद) यह (पत्तनम्) नगर है (इदम्) यह (सद्म)घर है (एतत्)यह (वन) बाग है (यावत्) जब तक (एषा) ऐसी (अधमा) तुच्छ व (ससारसवर्धिनी) संसार को बढाने वाली (बुद्धि) बुद्धि (उदेति) पैदा होती रहती है (तावत्) तब तक (कुतः) किस तरह से (दु:खद्रुमोच्छेदिनी) दुःखरूपी वृक्षों को

छेदने वाली (निर्वृतिं) मुक्ति को (गच्छति) यह जीव पहुच सकता है (बत) यह बडे खेद की बात है।

भावार्थ—यहा पर आचार्य खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि मोही जीव मोह मे फँसकर अपने स्वरूप को भूल जाता हैं इस लिए अनन्त सुख को देने वाली मुक्ति को कभी नही पा सकता है। वास्तव मे मुक्ति अपने सच्च आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति है और वह अपने से ही अपने को अपने में ही प्राप्त होती है। जिसका उपयोग अपने आत्मा के स्वभाव के सन्मुख होगा वही आपको पाएगा, परन्तु जिसका उपयोग अपने आत्मा को छोडकर परपदार्थों मे रमता है वह कभी भी अपने स्वरूप को नहीं पा सकता है। संसार का कारण मोह है, जबकि मुक्ति का कारण निर्मोह है। मोही जीव क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के वशीभूत पडे रहते हैं, इसीलिए कर्म को बांधकर संसार की चारो गतियो मे भ्रमण किया करते है। मोही जीवों को अपने आत्मा का अपने शरीर से भिन्न विश्वास नही होता है। वह शरीरको ही आपा माना करते हैं। शरीर की भ्रमता से वे पाचों इन्द्रियों की इच्छाओ के दास हो जाते है। उन इच्छाओं की पूर्ति करने मे जो चेतन व अचेतन पदार्थ सहकारी है उन्ही से गाढ प्रीतिवान हो जाते हैं। इसलिए शरीरके जितने सम्बन्ध हैं उनको अपना सम्बन्ध समझ लेते है, पुत्र, पुत्री, मित्र आदि के मिलने में हर्ष व उनके वियोग मे विषाद किया करते है। एक कुटुम्ब में जीव भिन्न-२ गतियो से आकर जमा हो जाते है वे ही जीव आयु पूरी करके अपनी-२ बाधी गति के अनुसार चले जाते है। धर्मशाला मे यात्रियो के समागम के समान कुटुम्बीजनो का समागम है। मोही जीव उनसे गाढ़ मोह करके अपने स्वात्मा को भूल जाते है। इसीलिए आचार्य ने बताया है कि जब तक इन भिन्न

पदार्थों मे ममकार है कि यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह घर मेरा है, यह देश मेरा है, यह नगर मेरा है, वहा तक मेरा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव मेरा है, मेरा पद सिद्धपद है, मेरी परिणति शुद्ध वीतराग है यह बुद्धि नही जमती अर्थात् भेद विज्ञान को न पाकर वे कभी भी आत्मा के श्रद्धावान नही हो पाते। वे उन्मत पुरुष की नाईं जगत मे चेष्टा करते हुए अनतकाल खोया करते हैं। इसलिए श्री अमितगति महाराज का तात्पर्य यह है कि अब तो तुम समझो, अब तो परपदार्थों को अपना मानना त्यागो तथा अपने आत्मीक शुद्ध गुणो को अपना मानो। जिससे निज आत्मा का अनुभव प्राप्त हो, यही तत्वभावना का फल है।

अनित्यपंचाशत् मे श्री पद्मनदि मुनि कहते हैं—

दुःखव्यालसमाकुलं भव बनं जाड्यांधकाराश्रितं।
तस्मिन्दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यंति सर्वेगिनः॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं ।
प्राप्यालोक्य च सप्तयं सुखप्रदं याति प्रबुद्धो ध्रुवं ॥१७॥

भावार्थ—यह ससाररूपी बन दुःखरूपी अजगरो (सर्पों) से भरा हुआ है, यहा अज्ञानरूपी अधकार फैला हुआ है। इस वन मे दुर्गतिरूपी भीलो की तरफ ले जाने वाला खोटा मार्ग है। ऐसे वन मे सर्व ही ससारी प्राणी भ्रमण किया करते है। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वन के मध्य मे गुरु के वचनरूपी दीपक को जो निर्मल ज्ञान के प्रकाश से चमक रहा है, पाकरके सच्चे मार्ग को ढूढ़कर अविनाशी आनन्दमई पद को पहुच जाता है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यह नारि पुत्र सुमित्र माता है हमारी यह बहन।
पुत्री अरी यह घर नगर मेरा यही है सार बन॥
जब तक रहे यह नीच मति संसार का वर्द्धन करे।
तब दु.खतरु हन्त्री मुकति तिय किस तरह सुख से बरे॥१०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद विज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है।

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमिति ज्ञानेक्षणालंकृतिम्॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः॥११॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानेक्षणालकृतिम्) ज्ञान दर्शन स्वभाव से शोभायमान तथा (अपास्तकर्मसमिति) द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म के समुदाय को दूर रखने वाले (आत्मानम्) आत्मा को (मुक्त्वा) छोडकर (कश्चन) कोई भी (पर:) अन्य (भाव) भाव (मे) मेरा (न) नही (विद्यते) है (न) और न (अह) मैं (कस्यचित्) किसी अन्य का (अस्मि) हूँ (एषा) ऐसी (मतिः) बुद्धि (ज्ञातात्मतत्वस्थिते) आत्मस्वरूप की मर्यादा को जानने वाले (यस्य) जिस किसी के (चेतसि) चित्त मे (सदा) नित्य (अस्ति) रहा करती है (तस्य) उस महात्मा के (बधः न) कर्मों का बध नहीं होता, यो तो (त्रिभुवन) तीनो लोक के ससारी प्राणी (ससारिकै.वन्धनै.) ससार के बधनों से (यत्रित) जकडे हुए हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानकी

महिमा बताई है। इस जगत मे यह ससारी प्राणी जीव पुद्गलका मिला हुआ एक आकार रखता है। अनादि काल से ही इसके कर्मों का बध होता ही रहता है। कर्मोंके उदय से राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते है तथा कर्मों के ही उदय से शरीर होता है व शरीर के साथी स्त्री पुत्रादि नौकर चाकर होते हैं। कर्मों के बडे विकट फैले हुए जालके भीतर इतना सघन आत्मा का स्वरूप फँस जाता है कि तत्वज्ञान रहित प्राणियोको आत्मा का ज्ञान व श्रद्धान नही होता। हरएक तत्वज्ञान रहित मानव या जीव पर्यायबुद्धि बना रहता है। जिस शरीर मे होता है उसी रूप अपने को मान लेता है। कभी भी अपने असली आत्मस्वरूप को नही पाता है। इसीलिए इन्द्रियो के सुखोमे मग्न होकर रात-दिन इन्द्रियसुख की चेष्टा किया करता है तथा तीव्र रागद्वेष मोह मे पडकर तीव्र पापकर्म बाँधकर पशु आदि गतियो मे भ्रमण किया करता है। वास्तव मे कर्मबध का मूल कारण मिथ्यात्व है। ससार की जड़ ही मिथ्यात्व है। जिसने अनतानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्व को वश कर लिया है उसने ससार वृक्ष को जड काट डाली है। उसने जो कुछ कषायो के शेष रहने से कर्म का बध होता भी है वह ससार के भ्रमण को अनतकालीन नही कर सकता है। वह बन्धन अवश्य शीघ्र कट भी जायगा। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि ससार मे लिप्त नही होती है। क्योकि उसके अतरग मे यह भेद विज्ञान भले प्रकार जाग्रत है कि मेरे आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अमूर्तीक अविनाशी है। कोई भी रागादि भाव आत्मा का स्वभाव नही है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न पदार्थ हैं, इस जगत मे परमाणु मात्र भी मेरा

नही है, मेरा स्वरूप सर्व अन्य आत्मद्रव्यों से भी निराली सत्ता का रखने वाला है, मेरे मे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का तो अस्तित्व है परन्तु परद्रव्य क्षेत्र काल भावका नास्तित्व है। इस भेद विज्ञान के कारण से वह सदा आत्मसुख के स्वाद का उत्सुक रहता हुआ अपने आत्मा का मनन किया करता है। इसलिए उसका आत्मा ससार के बढाने वाले कर्मों से गाढ बन्धन मे नहीं पडता है। आचार्य ने प्रेरणा की है कि ये भव्यजीवो ! यदि तुम समताभाव को पाना चाहते हो तो इस भेद विज्ञान का भले प्रकार अभ्यास करो, यही स्वानुभव को जगाने वाला है।

एकत्व अशीति मे पद्मनद मुनि कहते है—

हेय हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ।
यदेवचतन्यमहतदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चक परमस्ति निश्चयाद्गतोस्मि भावेन तदेकता परम् ॥७५-७६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषो को उचित है कि रागादि सब कर्मों को त्यागने योग्य समझकर इनसे मोह छोड दे और ज्ञानदर्शन मई उपयोग लक्षण के धारी परमज्योतिरूप आत्मा को जो ग्रहण करने योग्य है ग्रहण करले। जो कोई चैतन्यमई है वही मैं हूँ, वही जानता है, वही देखता है, वही निश्चय से एक उत्कृष्ट पदार्थ है, मैं उसी के साथ परम एक भाव को प्राप्त हो गया हूँ। इस प्रकार की भावना ही स्वानुभव को उद्योत करने वाली हैं।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

मैं नियत दर्शन ज्ञानमय नहि कर्म बंधन राखता।
मै तो किसी का हूं नहीं परभाव मम नहि छाजता ॥

सद्‌बुद्धि ऐसी चित्त जिसके तत्त्व निज पहचानता।
वह बंध में पड़ता नहीं जग जंतु बंधन ठानता ॥११॥

उत्थानिका—फिर भी उपदेश करते हैं कि संसार के मोह में न पड़के आत्मकल्याण करो।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निज कर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ॥१२॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससार मे (चित्रोपायविवर्धितः) अनेक उपायोसे पालन पोषण करके बढाई हुई (अपि) भी (निजः देहोऽपि) यह अपनी देह भी (आत्मन· न) अपनी नही होती है (तत्र) वहा (निजपूर्वकर्मवशग) अपने-२ पूर्व मे बाधे हुए कर्मों के वश पडे हुए (पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादय.) पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई व पिता आदिक (भावा) बिलकुल जुदे पदार्थ (केषा) किन जीवो के (स्व) अपने (स्फुट) प्रगटपने (भवन्ति) हो सकते है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जान करके (मनीषिणा) बुद्धिमान मानव को (सदा) सदा (निजमति.) अपनी बुद्धि (आत्मस्थिता) अपने आत्मा मे स्थिर (कार्या) करनी उचित है।

भावार्थ—यहाँ फिर आचार्य ने जगतके सम्बन्ध को नाशवन्त झलकाया है। जगत के मोही प्राणी अपने इन्द्रियो के विषय भोग में सहकारी स्त्री, पुत्र, मित्र आदिको से राग करते हैं व जो बाधक है उनसे द्वेष करते है। ये सब सचेतन पदार्थ बिलकुल हमसे जुदा हैं, ये सब अपने-२ भिन्न-२ कर्मों को बांधकर भिन्न भिन्न गतियो से आए हैं और इस जन्म मे भिन्न-२ कर्म बाधकर

भिन्न-२ गतियोंको जायेंगे। इनको अपना मानना महान मूर्खता है। ये सब कुछ सम्बन्ध रखते हैं तो वह सम्बन्ध इस शरीर के साथ है। शरीर के उत्पन्न करनेवाले को माता पिता कहते हैं। एक माताके पुत्र पुत्रियो को भाई बहन कहते हैं, शरीर को ही देखकर ये सब जगत के पुजारी अपने २ स्वार्थों के वश होकर हमारी देहसे प्रीति दिखलाते हैं। जब हमसे स्वार्थ नही निकलता है तब बात भी नही पूछते हैं। आचार्य कहते हैं कि इन पदार्थों के स्नेह टूटने की व छूट जाने की बात क्या करते हैं। ये तो प्रगट ही जुदे हैं। अरे! यह शरीर जो जन्म से मरण तक साथ रहता है और जिसको नाना प्रकार भोजन पान देकर खिलाते पिलाते, सुलाते, पहनाते, उठाते, पालते व जिसके लिए पैसा कमाते व रात दिन उसी की ही चिंतामे लगे रहते कि कही यह विगड न जावे, ऐसा शरीर भी एक क्षणमात्र में हमें छोड देता है। आयुकर्म के आधीन देह का सम्बन्ध है। आयुकर्म का नाश होते ही एक समयभर भी यह शरीर आत्मा का साथ नही दे सकता। तब जो लोग इस देह के साथ व देह के सम्बन्धी स्त्री पुत्रादि के साथ ऐसी दोस्ती बाधते हैं कि मानो हम इनके हैं व ये हमारे हैं वे लोग अवश्य मूर्ख हैं क्योंकि इनके मोह मे अन्धे हो वे अपने आत्माके हितको भूल जाते है। वे कभी दिन रातमें एक क्षण भी आत्माके हित का चिन्तवन नही करते हैं इसलिए आचार्य कहते हैं कि यदि तुम चतुर मनुष्य हो तो नाशवन्त पदार्थो से क्यों स्नेह बढाकर अपना बुरा करते हो ? इन पदार्थों का सम्बन्ध यदि है तो इनसे अलिप्त रहते हुए इनसे अपना प्रयोजन साधलो व उनका यथासम्भव उपकार कर दो। परतु उनके साथ भीतरी प्रीति न रक्खो, इनकी प्रीति अन्तमें धोखा देनेवाली

होगी, इनकी प्रीति शोकसागर मे डुबानेवाली होगी। क्योंकि ये सब पदार्थ एक दिन छूट जाएगे या हम छोड़ेगे या वे छोडेंगे। खास ध्यान अपने आत्माकी तरफ रक्खो। हमे उचित है कि हम अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको जो निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आनन्दमयी है पहचाने, उसपर विश्वास लावे व उसीका ध्यान करे तो हमको सुख व शातिका लाभ होगा और हम जो आज अपवित्र है वे धीरे-२ पवित्र होते चले जाएगे। वास्तवमे आत्माकी प्रीति हमको पवित्र करनेवाली है और शरीर की व शरीर के सम्बन्धियोकी प्रीति हमे अपवित्र करनेवाली है। सुभाषितरत्नसदोह मे श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
त्किमथ परमदु.ख सस्पृहत्वं यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये।
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—इस ससार मे परम सुख क्या है तो वह एक इच्छा रहितपना है तथा परम दु ख क्या है तो वह इच्छाओ का दास हो जाना है। ऐसा मन मे समझकर जो पुरुष सर्व से ममता त्यागकर जिन धर्म को सेवन करते है वे ही पुण्यात्मा व पवित्र है। शरीर व शरीर के सम्बधियो के सबध मे चिन्ता करना इच्छाओ के पैदा करने का बीज है, इनसे मोह, त्यागना ही इच्छाओ के मिटाने का बीज है।

मूल श्लोकानुसार त्रिभगी छन्द

बहु यत्न कराए वर्द्धन पाए देह न थाए जहं अपनी।
तहं पुत्र कलत्रं पुत्री मित्रं जामात्र भगिनि जननी ॥

निज कर्म बसाएं सुख दुःख पाए होत सदा ये नहिं अपने ।
इम जान सुबुद्धो आतम शुद्धी कर निज बुद्धो प्रगटपने ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्म ही जीवका परममित्र है–

दुर्दामोच्छित्कर्मशैलदलने यो दुर्निवारः पविः ।
पोतो दुस्तरजन्मसिंधुतरणे यः सर्वसाधारणः ॥
यो निःशेषशरीरिरक्षणविधौ शश्वत्पितेवादृतः ।
सर्वज्ञेन निवेदितः स भवतौ धर्मः सदा नोऽवतु ॥१३॥

अन्वयार्थ—(य) जो (दुर्दामोच्छ्रितकर्मशैलदलने) कठिनता ने नाश करने योग्य बडे कठोर कर्मरूपी पर्वतो को चूर्ण करने मे (दर्निवार.)किसीसे हटाया जा न सके ऐसा (पविः)वज्र है(य.) जो(दुस्तरजन्मसिंधुतरणे)कठिनता से पार होने योग्य ऐसे ससार समुद्र से पार ले जाने मे (सर्व साधारण.)सर्व जीवों के लिए एक रूप सामान्य (पोत.) जहाज है (य) जो (नि शेषशरीरिरक्षण-विधौ) सर्व शरीरधारी प्राणियो की रक्षा करने मे (पिता इव) पिता के समान (शश्वत) सदा (आदृतः) माना गया है (स.) वह (सर्वज्ञेन) सर्वज्ञ भगवान से (निवेदितः) कहा हुआ (धर्म.) धर्म (न.) हमे (भवत) ससारसे (सदा) हमेशा (अवतु) रक्षित करे ।

भावार्थ—यहा आचार्य ने जिनधर्म की यथार्थ महिमा बताई है । असल मे जो जिनधर्म की शरण ग्रहण करते हैं उनकी सदा रक्षा होती है । जैनसिद्धात ने बताया है कि जब इस जीवके शुद्ध बीतराग भाव होते हैं तब तो कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा जब शुभ भाव होते हैं तब पूण्य कर्म का बध होता है । पुण्य बध दुःखो से बचाता है तथा वीतराग भाव कर्ममल को हटाकर मुक्ति

में पहुंचता है, सम्यग्दर्शन,।सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र मई निश्चय रत्नत्रय को जो स्वानुभवरूप है जैनधर्म कहते हैं। यह स्वानुभव परम वैराग्यमई है। यहा रागद्वेषसे रहित समतामयभाव है। इस स्वानुभाव मे रुकी हुई परिणतिको वीतराग भाव कहते हैं तथा स्वानुभूति की रुचि रखते हुए स्वानुभूतिके कारणरूप अर्हंत,सिद्ध आचार्य,उपाध्याय तथा साधु इन पचपरमेष्ठियो की भक्ति करना शास्त्र विचारकरना आदि कार्योंमे रागभाव को शुभोपयोग कहते हैं। यह जैनधर्म परम कल्याणकारी है। इसी स्वानुभव रूप जैन धर्मकी शक्तिसे चार घातिया कर्मनाश हो जाते हैं और यह जीव केवलज्ञानी परमात्मा होजाता है। इसलिए यह धर्म पर्वतोके चूर्ण करनेको वज्रके समान है। यह ससार समुद्र—रागद्वेष के जलसे भरा हुआ है। इनमे अनेक विभावरूपी लहरे उठ रही हैं इससे पार होना बहुत कठिन है परन्तु जिनको वीतरागमय और ज्ञान-मय धर्मरूप जहाज मिल जाता है वे इसके पार हो जाते है, यह जहाजसर्व साधारण के लिए है। किसीको इसपरचढनेकी मनाई नहीं है। जो ससार—समुद्र से तर जाने के लिए दिल मे पक्के उत्साही हैं उनको यह धर्मरूपी जहाज शरण देता है क्योंकि यह जैनधर्म अहिंसा धर्मके व्याख्यान मे त्रस स्थावर सर्व प्राणी मात्रकी रक्षाका उपदेश देता है व पूर्ण अहिसाधर्मके धारी साधु तदनुसार वर्तते हुए सर्व जीवमात्र को रक्षा करते हैं। अतएव उनका वर्तन पिता के समान होता है इसलिए यह जैनधर्म भी प्राणियोकी रक्षाके उपाय बतानेके कारणसे पिताके समान है। ऐसे पवित्र जैनधर्मकी जो सेवा करेंगे वे दु खो से बचकर उन्नति करते २ परमात्मापद मे अवश्य पहुच जाएगे। धर्म की महिमा

श्री शुभचन्द्रजी ने ज्ञानावर्णव मे इस भाति कहो है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर्मः शर्मभुजंगपुंगवपुरीसारं विधातुं क्षमो।
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां॥
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्।
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम्॥२२

भावार्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोको धर्णेन्द्रपुरीके सार सुख के प्राप्त करानेको समर्थ हैं। यह धर्म मध्यलोकके महान चक्रवर्ती आदिके सुखोको देनेवाला है, यही धर्म स्वर्ग को निरन्तर रहने वाले सुखोके प्रगट कराने का उपाय है, यही धर्म प्राणीको मुक्ति रूपी स्त्रीके भोगने योग्य बना देता है। धर्म हमारा क्या क्या उपकार नही करता है? वास्तव मे जिनधर्म का स्मरण तत्त्व भावना है। इस भावना को कभी नही भूलना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

परम कठिन कर्म शैलदलने सुवज्रं।
दुस्तर भवसिंधु तारणे सारपोतं॥
सकलजगतसत्वं रक्षकर्ता पितासम्।
जिनकथित धर्मं रक्ष भवसे सदा हम॥१३

उत्थानिका—आगे जिनवाणी से प्रार्थना करते है—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मयाभाषितम्।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं।
दत्वा ज्ञान विशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिद्यं पदं॥१४॥

अन्वयार्थ—(मया) मेरे से (यत्किंचित्) जो कुछ (मात्रापदवाक्यवाच्यविकल) मात्रा, पद, वाक्य व अर्थ मे कम बढ (भाषित) कहा गया हो (तत् अखिल) उस सर्वको (क्षमित्वा) क्षमा करके (कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मन) क्रोधादि कषाय, गर्व, व विषयो की चाहना मे आसक्त (अस्य बालस्य मे) ऐसा जो बालक समान में उसे (जिनवक्त्रपद्मनिलया) जिनेन्द्र के मुख कमल मे निवास करने वाली (वाग्देवी) सरस्वती देवी अर्थात् जिनवाणी (ऊर्जिततमा) उत्कृष्ट (ज्ञानविशुद्धि) ज्ञान की निर्मलता को (दत्वा) देकर (अनिद्यं पदं) परम प्रशसनीय मोक्षपद (देयात्) प्रदान करें।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने दिखलाया है कि जिनवाणी को शुद्ध ही पढना चाहिए और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिए फिर भी यदि कभी प्रमादसे कुछ भल हो गई हो, किसी वचन को कमबढ कह दिया हो तो उसके कारण जो पापबध हुआ हो उसको दूर करने के हेतु से यह भव्यजीव प्रतिक्रमण या पश्चाताप करता है जिनवाणी मुझपर क्षमा करे यह मात्रभक्ति करने का व उच्च भावना भाने का एक प्रकार है जिससे भावो मे यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध ही पढना चाहिए। फिर वह जिनवाणी को हृदयमे धारकर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हू इसीसे क्रोध, मान, माया व लोभ कषायोके वशीभूत हो जाता हूँ या पाचो इन्द्रियोके विषयो मे आशक्त हो जाता हू जिससे मेरे भावो मे अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मों का बंध कर लेता हू। अब मैं यह प्रार्थना करता हू कि जिनवाणी के निरन्तर मननसे यह मेरी कलुषता मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्माको प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा करे जिससे मैं अवि-

नाशी निजपदको पासकू, जहां कोई कर्मका सम्बन्ध नहीं रहता है और यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी जीव को वीतराग भाव की ही प्राप्ति का यत्न करना चाहिए। यह वीतरागता उसी समय प्राप्त होती है जब विषय कषायो से ग्लानि हो जावे और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा से प्रीति बढ जावे। क्योकि आत्मा का स्वभाव ही परम वीतरागमय है इसलिए आत्मा के ध्यान से स्यय वीतरागता झलक जाती है और तब सुखशांतिकी प्राप्ति होती है, पिछला कर्म कटता है। असल मे आत्मा की भूमिमें चलना ही जीव का परम हित है।

श्री पद्मनंदी मुनि निश्चयपंचाशत् में कहते हैं—

स्वपरविभागावगमे जायते सम्यक् परे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः ॥४२॥

भावार्थ—जब आपा परका भेदरूप ज्ञान भले प्रकार पैदा हो जाता है तब पर से मोह छोडने पर यह स्वय सिद्ध आत्मा स्वाभाविक एक ज्ञान स्वरूप मे ठहर जाता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

कथन किया जो मै शब्द पद अर्थहीनं।
विषय विमोही हो क्रोध मानाद्यधीनं ॥
जिनमुखते प्रगटो वाणिदेवी क्षमाकर।
वर निर्मलज्ञानं देय शिवपद कृपाकर ॥१४॥

उत्थानिका—आगे साधक विचारता है कि मेरी बुद्धि ज्ञान होने पर भी विषयो से क्यो विरक्त नही होती है—

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः।
निंद्यस्थानभवार्तिभावजनकाः विद्याविदां निंदिता ॥

नेत्थं चिंतयतोपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगतः ।

कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(भोगाः) ये इन्द्रियों के भोग (निःसाराः) असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान हैं (भयदायिनः) भय को पैदा करने वाले है (असुखकरा) आकुलता भय कष्टको उत्पन्न करने वाले है व (सदा) सदा ही (नश्वराः) नाश होने वाले है (निंद्यस्थानभवार्तिजनका) दुर्गति मे जन्म कराकर क्लेश को पैदा करने वाले हैं तथा (विद्याविदा) विद्वानो के द्वारा (निंदिता.) निंदनीय है (इत्थ)इस तरह (चिंतयत. अपि) विचार करते हुए भी (मे) मेरी (मति) बुद्धि (बत) खेदकी बात है कि (भोगतः) भोगो से (न) नही (व्यावर्तते) हटती है तब (अहं) मैं (मूढ़.) बुद्धि रहित (क) किसको (पृच्छामि) पूछू (कम्) किसका आश्रयामि) सहारा लू (कम) कौन सी (विधिम्) तदबीर (प्रपद्ये) करू ।

भावार्थ—इस श्लोक मे एक श्रद्धावान जैनी अपनी भूलको विचारते हुए अपने कषायो के जोर को कम कर रहा है। इस जीव के साथ मोह कर्म का बन्ध है। मोह ही उदय मे आकर जीवको बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो न करने योग्य कार्य कर लेता है। मोहकर्मके मूल दो भेद हैं—एक दर्शनमोह, दूसरा चारित्रमोह, दर्शनमोहके उदयसे आत्माको अपने आपका सच्चा विश्वास नही होपाता है। चरित्रमोहका उदय आत्मा मे ठहरने नही देता है-अपने आत्माके सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों में राग द्वेष करा देता है। इसके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी कषाय, जो श्रद्धान के बिगाड़ने में दर्शनमोह के साथी हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय होने पर श्रद्धान होने पर भी एक देश भी त्याग नही किया जाता अर्थात् श्रावक के व्रत नही लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय से पूर्ण त्याग कर साधु का आचरण नहीं पाला जाता है। सज्वलन कषाय—जो आत्मध्यान को नाश नही कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते है, जो पूर्ण वीतरागता को नही होने देते। जिस किसी महान पुरुष के अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह के दबने से सम्यग्दर्शन हो गया है वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषयभोगो से कभी भी इस जीव को तृप्ति नहीं होती है। उल्टी तृष्णा की आग बढ़ती हुई चली जाती है, इसीलिए ये भोग असार है, फल कुछ निकलता नहीं, तथा भोगों के चले जाने का व अपने मरण होने का भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हो व मैं कही मर न जाऊँ। तथा इन भोगों की प्राप्ति के लिए व उनकी रक्षा के लिए बडा कष्ट उठाना पड़ता है और यदि कोई भोग नही रहता है तो यह प्राणी आकुलता में पड़कर दुःखी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले हैं। या तो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड़ देंगे तथा इनके भोगने में बहुत तीव्र राग करना पड़ता है जिससे दुर्गति हो जाती है तथा इसीलिए इन भोगो को विद्वानो ने निन्दा योग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णव मे कहा है—

अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महद्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥
यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासंतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वांछितं नृणाम् ॥२४॥

भावार्थ—जिनेन्द्रों ने कहा है कि इद्रियों से होने वाला सुख कभी तृप्ति नही देता है। यह तो मोह की दावानल अग्नि के बढ़ाने को महान ईंधन का काम करता है। यह असाता की परिपाटी का बीज है। इससे आगामी दु.ख मिलता ही रहता है। यह इंद्रिय सुख विघ्नो का बीज है। सेवते-सेवते हजारों अतराय पड़ जाते हैं, आपत्तियो की जड़ है। इस सुख के आधीन प्राणी असत्य, चोरी, कुशील, हिंसादि पापों में फँसकर इस लोक मे ही अनेक दु खो में पड जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने ही आधीन नही है। तथा भयभीत रखने वाला है और इस सुखको इंद्रिया यदि बलवती हो तब इद्रियाँ ही ग्रहण कर सकती हैं। यह सुख यद्यपि तीव्र राग के कारण से दुर्गति का बीज है और तृष्णा संताप तथा पापो से भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहज में नही मिलता है, बड़ा कष्ट सहना पड़ता है।

ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होने पर भी कि ये इंद्रिय विषयों के सुख ग्रहण करने योग्य नही है, यह अविरति पुरुष अप्रत्याख्यान आदि कषायो को न दबा सकने के कारण उनके जोर से व्याकुल होता हुआ विषयभोगों को नही त्यागता है। त्यागना चाहता है परन्तु त्याग नही कर सकता है। इसीलिए यह विचारता है कि मैं किससे पूछूं व किसका आश्रय लू व क्या उपाय करूँ जिससे

मेरे मन मे वैराग्य पैदा हो जावे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नित्य विचार करता रहता है तथा जिसे आत्मा पर दृढ विश्वास हो गया है व जिसके स्वरूप का दर्शन सम्यक्त होते समय हो चुका है वह उस आत्मा का ही अनुभव समय-समय करता रहता है और इसी भेदविज्ञान के अभ्यासमे उसके कषाय कर्म धीरे-धीरे दुर्बल होते चले जाते हैं। इसीलिए वैराग्य की भावना परम कार्यकारी है। तत्वभावना से ही आत्मा का कार्य बनता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

विषय सुख असारा दुःख भयप्रद अपारा।
दुर्गति दुखदाता संत निंदित बिचारा॥
हैं अथिर विचारूं खेद ! नहिं भोग त्यागूं।
शरण काकी लूँ कौन शुभ यत्न लागूं॥१५॥

उत्थानिका—आगे भावना करने वाला विचारता है कि श्री जिनेन्द्र के चरण मेरे हृदय में सदा जमे रहे यह ही एक उपाय है—

मोहध्वान्त मनेकदोषजनकं मे भर्त्सितुं दीपका—
वुत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ॥
आश्लिष्टाविव बिंबिताविव सदा पादौ निखाताविव।
स्थेयास्तां लिखिताविवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव॥१६॥

अन्वयार्थ—(अर्हम्) हे अर्हन्तदेव (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (अनेकदोषजनक) अनेक रागादि दोषों को पैदा करने वाले (मोहध्वांतं) ऐसे मोहरूपी अंधेरे को (भर्त्सितुं) हटाने के लिए (दीपकौ) दीपक के समान (इन्द्रार्चितौ) इन्द्रो के द्वारा पूजने योग्य तथा (अघदहनौ) पापो के जलाने वाले (तव) आपके

(पादौ) दोनो चरण (सदा) हमेशा (स्थेयास्ता) ठहरा जावे (उत्कीर्णौं इव) मानो दिल मे अकित हो जावे (कीलितौ इव) या मानो कील के समान गड जावे (स्यूतौ इव) या मानो सी जावें (अश्लिष्टौ इव) या मानों चस्पा हो जावे (बिंबितौ इव) या मानों छाया की तरह जम जावें (निखातौ इव) या मानो जड़ हुए के समान हो जावे (लिखितौ इव) या मानो लिख दिए जावे (बद्धौ इव) या मानो बाध दिए जावे अर्थात् मैं कभी आप के चरणो को न भूलू ।

भावार्थ—यहा आचार्य ने भक्तिभाव को भले प्रकार दिखलाया है। यह कहना कि आपके चरण मेरे हृदय मे जमकर बैठ जावे कि मानो दिल उनके साथ एकमेक हो जावे इस बात के बताने कां एक अलंकार मात्र है कि आपका वास्तविक आत्मिक स्वरूप मेरे मनमे जम जावे अर्थात् मेरा मन आपके ज्ञानानंदमई शांत स्वभाव में रत हो जावे, इसका भी भाव यही है कि मेरे मनसे सब अनात्मीक भाव हट जावें और एक आत्मीक शुद्ध भाव प्रगट हो जावे। इसको स्वात्मानुभव कहते है। वास्तव मे यही दीपक है जिससे अनादिकाल का मोह का अधेरा दूर होता है। इसी ज्ञानाग्नि के तेज से अनेक पापो के ढेर जल जाते हैं।

वास्तवमे जो आत्माको जानते हैं वेही अर्हंत परमात्माको जानते है। जो अरहत परमात्माको पहचानते है वे ही आत्माको जानते है। क्योकि निश्चयनय से आत्मा और परमात्मा का स्वभाव एक समान है। अत्यन्त गाढ भक्ति भी द्वैत से भाव मे ले जाने के लिए निमित्त कारण है। यह भी इस श्लोक का आशय झलकता है कि जहा तक निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोग की ऊँची अवस्था प्राप्त न हो वहा तक श्रीअर्हंत की भक्ति, भावोको मोक्षमार्ग मे लगाए रखने के लिए निमित्त है इसलिए भक्ति करते

रहना चाहिए। अर्हद्भक्ति को साधुजन भी नित्य करते हैं। उनके नित्य छः आवश्यक कर्मों मे स्तुति और वन्दना कर्म हैं। गृहस्थ जब प्रत्यक्ष भक्ति श्रीजिनेन्द्र की प्रतिमाओं के निमित्तसे अधिकतर करते हैं तथा परोक्ष भक्ति कम करते है तब साधुजन परोक्ष भक्ति अधिक करते हैं। प्रत्यक्ष भक्ति जब जिन मंदिर का समागम होता है तब करते हैं। भावो को अशुभोपयोग से छुडाकर शुभोपयोग मे लगाने के लिए अर्हतभक्ति बडा प्रबल उपाय है। गृहस्थो को नित्य अर्हत भक्ति करके अपने-२ भावो को उज्ज्वल करना योग्य है। यद्यपि अरहत वीतराग है, हमारी भक्ति किए जाने से प्रसन्न नही होते हैं तथापि उनके गुणो के स्मरण से व उनके शाति स्वरूप के दर्शन से हमारे भाव शात हो जाते हैं इसलिए भगवद्भक्ति निमित्त कारण है। हमारे कल्याण के लिए ऐसा मानने मे कोई हानि नही है। अर्हत्भक्ति क्षणमात्र मे बडे बड़े पापो को काट देती है और महान् पुण्य को बाध देती है। ज्ञान सहित अर्हत्भक्ति मोक्षमार्ग है। यह १६ कारण भावना में एक उत्तम भावना है।

श्री पद्मनदि मुनि सद्बोध चन्द्रोदय मे कहते है—

सविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृतो तदाश्रिते ।।२०।।

भावार्थ—शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद की कारण हो जाती है तथा अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध भाव के लिए कारण है। सोने से सोने की चीज व लोहे से लोहे की चीज बनती है। अतएव श्रीजिनेन्द्र परमात्माके गुणोका चिन्तवन सदा ही करते रहना चाहिए; क्योकि यह चितवन वीतरागभाव में पहुचाने वाला परम मित्र है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

तव चरणजिनेन्द्र पाप नाशक बताए।
हृदय धरूँ अपने मोह तम सब भगाए॥
दीपक सम रक्खूं कील डालूं बिठाऊं।
पूजित इन्द्रों से सोम डालूं जमाऊं॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि परका सयोग न रहना ही सुखकर है—

संयोगेन दुरंतकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते॥
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम्॥१७॥

अन्वयार्थ—(मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते) मरण और जन्म रूपी बाघो के समूह से भरे हुए (भवकानने) इस ससार वन मे (दुरतरकल्मषभुवा) तीव्र पाकको पैदा करने वाले (येन) जिसके (सयोगेन) सयोग से (त्व) तुमने (कि दुख) क्या-२ दु ख (न) नही (प्रापित:) पाया है (तेन) उस (दुरात्मना) पापी के साथ (तव सग) तेरा सग (यथा) जैसे (स्वप्नेऽपि) स्वप्न मे भी (न जायते) नही हो (तथा) तैसे (किंचित् कर्म) कोई काम (निश्चल) स्थिर (मन.) मन को (कृत्वा) करके (हृदये) हृदय के भीतर (कुरुष्व) कर।

भावार्थ—यहा भी आचार्य ने सकेत किया है कि मोह की गाँठ जो तेरे दिलके भीतर पडी है उसको काट डाल। वास्तवमें मोह बडा पापी व दुष्ट है। इसी की सगति मे यह प्राणी रहकर संसार के स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि परिग्रहको अपना माना करता

है तब किसी से राग, किसी से द्वेष करता है, इस मोह राग-द्वेष के कारण तीव्र पाप का बंध करता हुआ ससार वनमें भ्रमता है, जिस बन मे बुढ़ापा होना और मरना ये दो बड़े बाघ हैं जो इसको पकडकर दु खी करते व सताते है इसके सिवाय अनेक शारीरिक और मानसिक क्लेश प्राप्त होते हैं इस संसार के भीतर चार गतिया हैं, जहाँ ही जाता है वहा ही आकुलतामे पड़ जाता है। देवगति मे भी इद्रिय भोगो की आकुलता रहती है व इष्ट का वियोग होता रहता है व अन्य की अधिक सपत्तिको देख कर दिल मे जलन पैदा होती है। बारबार इस ससारमे मरता है और कष्ट उठाता है। श्रीगुरु कहते हैं— इस मोह के वशमे पड़ा हुआ तुझे अनतकाल ससार वनमे चक्कर देते हुए और भटकते हुए बीत गया। तू जन्म मरण करता ही रहा और भयानक दु खो को पाताही रहा, अब कुछ पुण्यके उदयसे यह मानव जन्म पाया है तथा सत्सगति से उस जैनधर्म के रहस्य को जाना है जो जीवो को ससार वन से निकालकर मुक्ति के अचल धाम में विराजमान कर देता है। इसलिए अब प्रमाद को छोड़कर ऐसा कोई उद्यम करना उचित है जिससे इस मोह शत्रुसे पल्ला छूटे और ससार का भ्रमण मिटे और परम निराकुल पद प्राप्त हो। उपाय यही है कि मन को निश्चल किया जावे, मिथ्यादर्शन के विष को उगला जावे, सम्यग्दर्शन रूपी परम अमृत को प्राप्त किया जावे, भेद विज्ञान के प्रताप से आत्मानुभव को जागृत किया जावे, आत्मीक आनद मे विलास किया जावे, यह आनद भोग ही ऐसा अपूर्व शास्त्र है जो मोहको खड-२ कर देता है। इसी ही अमोघ शस्त्र से मोह-शत्रुका नाश हो जाता है और यह आत्मा मोह से छूटकर शीघ्र ही अर्हंत परमात्मा होकर अनंत सुख मे मग्न हो जाता है, फिर शरीर रहित हो सिद्ध होकर

निराकुल भाव का अनतकाल के लिए अधिकारी हो जाता है। जैसा श्री ज्ञानार्णव मे शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं कि इस तरह विचारकर आत्मानुभव पाना चाहिए—

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥११॥

भावार्थ—जब तक ज्ञानरूपी समुद्र मे मेरा अवगाह नहीं हुआ है तब तक ही ससार से उत्पन्न हुआ महादाह मुझे पीडित करता है—

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरंजितः।
योजयत्यात्मनात्मानं तस्मिस्तद्रूपसिद्धये ॥३५॥
अनन्यशरणीभूय स तस्मिल्लीयते तथा।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥३७॥
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८॥

भावार्थ—जो उस शुद्धात्मा के स्वरूपमे मन लगाकर उसीके गुणो मे रजायमान हो जाता है वह अपने से ही अपने आत्माको अपनेमे अपने आत्माके स्वभाव की सिद्धिके लिए जोड देता है। वह अन्य वस्तु का आश्रय छोडकर उस आत्मा मे ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता व ध्यान का भेद मिटकर ध्येय पदार्थ से एकतान हो जाता है। यही वह समरसी भाव है, यही एकीकरण है जहाँ आत्मा परमात्मा मे एकी भाव से लय हो जाता है। यही आत्मानुभव संसारवन से निकालने वाला मित्र है।

मालिनी छन्द

मरण जरा हिंसा पूरितं भव वनीमें।
क्या दुःख न उठाए मोहकी संगतीमें।
करके मन निश्चल यत्न ऐसा उचित कर।
जो संग न आवे स्वप्न में भी कलुषकर ।।१७।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यद्यपि यह मानव देह महान अपवित्र है तथापि इससे अपना आत्मकल्याण कर लेना उचित है।

दुर्गंधेन मलोमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः।
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थिति जानता ।।१८।।

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (दुर्गंधेन) इस दुर्गंध से भरे हुए तथा (मलीमसेन) मलीन (वपुषा) शरीर से (सुखकारिणा) सुख को करने वाली (स्वर्गापवर्गश्रिय) स्वर्ग और मोक्ष की सपत्तिया (साध्यते) प्राप्त की जाती है (तदा) तब (का) क्या (क्षति) हानि (सपद्यते) होती है। (यदि) यदि (विगर्हितेन) निंदनीय (निर्माल्येन) निर्माल्य के द्वारा (सुखदं रत्नं) सुखदाई रत्न (प्राप्यते) मिल जावे (तदा) तब (लोकस्थिति) जगतकी मर्यादा को (जानता) जाननेवाले (केन) किस पुरुषसे (लाभ.) लाभ (न मन्यते) न माना जाएगा।

भावार्थ—यहा आचार्य बतलाते हैं कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है—हाड, चाम, मास, रुधिर आदि का बना हुआ है। निरन्तर अपने करोडो रोमोसे और मुख्य नव द्वारोंसे मैलको ही निकालता है, पवित्र जल चंदनादि पदार्थभी जिसकी

सगति मे आकर मलीन हो जाते हैं, तथा यह ऐसा कच्चा है कि जैसे कच्ची मिट्टी का घडा । जराभी रोग शोक आदि क्लेशोकी ठोकर लगती है कि यह शरीर खडित हो जाता है । इस शरीर मे रात दिन बाधाए रहती है, कभी भूख, कभी प्यास, कभी आलस्य सताता है, कभी चिंता की आग मे जला करता है । शरीराधीन इद्रियोके भोगकी चाह महान जलन पैदा करती है । इष्ट पदार्थोंका वियोग परम आकुलित कर देता है । इस शरीर का मोह जीवको नरक निगोद की दुर्गति मे पटके देनेवाला है । तथापि जो कोई बुद्धिमान प्राणी हैं वह ऐसे शरीर से मोह नही करते किन्तु इसको स्थिर रखते हुए इसके द्वारा परम सुख दाई मोक्षपद या साताकारी स्वर्गपद प्राप्तकर लेते हैं । क्योकि बिना मानवदेहके उच्चस्वर्गपदोका व मुक्तिपदका लाभ नहीहो सकता है । इसमे वे अपनी कुछ हानि नही मानते है, क्योकि यह देह तो बहुत कष्टप्रद है व शीघ्र मरणके आधीन है, इसका मोह तो उल्टी तीव्र हानि करता है तब यही उचित है कि इसको चाकर की तरह अपने वश मे रक्खा जावे और इसको ध्यान स्वाध्याय आदि तप साधनमे लगा दिया जावे । तब आत्मज्ञान के बलसे यहा भी कष्ट नही और फल ऐसा मिले कि जिसकी जरूरत थी व जिसके बिना ससार मे महादुखी था, यदि किसीके पास कोई निर्थक वस्तु ऐसी हो जिसका रखना निंदनीय हो व जिससे कोई मतलब न निकलता हो तब यदि कोई कहे कि यह वस्तु तू दे दे और बदले मे सुखदायी अमोलक रत्न तू ले ले तो बुद्धिमान मानव जरा भी सकोच व देर न करेगा और बड़ा ही लाभ मानकर उस रत्न को ले लेगा ।

प्रयोजन कहने का यह है कि बुद्धिमान प्राणी को उचित है

कि इन्द्रियो के विषयभोगो मे इस शरीरको रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो कानेसाठे (गन्ने) के समान है जिसको खाने से मजा नही आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो मीठे-२ साठोको पैदा करता है। इसी तरह इस शरीरके भोगने मे शाति नही मिलती है किन्तु यदि इसे तप सयम ध्यान में लगा दिया जावे तो मोक्षके अपूर्व सुखोको व स्वर्गके साताकारी सुखो को पैदा करा देता है। इसलिए शरीर से मोह छोडकर आत्महित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते है—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ़ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं ।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।१३

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! इस ससारमे यह मनुष्योका शरीर चर्मके पर्देसे ढका हुआ हाडोका पिजरा है, बिगडी हुई पीप की दुर्गंध से खूब भरा हुआ है तथा रोगरूपी सर्पो का घर है और काल के मुख मे बैठा हुआ है, तब ऐसे शरीर से किस तरह प्रेम किया जावे। श्री पद्मनदि मुनि शरीराष्टक मे कहते है—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे ।
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानदकदायमाना ।
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ।।७।।

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परन्तु यदि परम गुरुका वचन जो तत्त्व को दिखलाने-वाला है मेरे मनमे रहे तो उसके प्रभाव से अर्थात् उस उपदेश

पर चलने से मुझे इसी शरीर द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्द से भरिपूर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो जावे।

इसलिए इस नरतन से धर्म पालकर स्वात्म लाभ कर लेना ही उचित है।

मूलश्लोकानुसार छन्द गीता

यदि अशुचि शरीरं साधता सौख्यकारी।
दिव शिवपद अनुपम हानि क्या तब विचारी॥
निंदित लघु वस्तू छोड़ते रत्न पावे।
बुधजन तब यामें लाभ ही लाभ भावे॥८१॥

उत्थानिका – आगे कहते है कि बुद्धिमानो को उचित है कि सर्व संकटो को दूर करने वाले जैनधर्म का पालन करे।

मृत्यूत्पत्तिवियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादयः।
सूद्यंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना॥
सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोदया।
हन्यंते तिमिरोत्करा सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा॥८१॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्रविक्षेपिणा सूर्येणेव) जैसे नक्षत्रोको छिपाने वाले सूर्य के द्वारा (समस्तलोचनपथप्रध्वसबद्धोदयाः) सबकी आंखो मे देखने की शक्ति को रोकने वाले (सुखहरा.) और सुख को हरने वाले (तिमिरोत्करा) अधिकार के समूह (हन्यते) नाशकर दिए जाते है वैसेही (ससारविच्छेदिना) ससारको नाश-करने वाले (जिनशासनेन) जिनशासन या जैनधर्म के द्वारा (मृत्यूत्पत्तिवियोगसगमभयव्याध्याधिशोकादय.) मरण, जन्म, इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग, भय, रोग, मनका क्लेश, शोक आदि (सहसा) इकदम (सूद्यते) दूरकर दिए जाते हैं।

भावार्थ— इस श्लोकमे आचार्यने जैनधर्मकी यथार्थ महिमा बताई है और उसको उपमा सूर्य से दी है। सूर्य के सामने जैसे और नक्षत्रो का तेज छिप जाता है वैसे जैनधर्मके स्याद्वाद नय-गर्भित अनेकात उपदेश के सामने एकात तत्व को पोखने वाले मतोका तेज लुप्तहो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से बडा भारी रात्रिका अधकार जिसके कारणके आखोंके रहते हुए भी प्राणी देख नही सकते हैं व जो देखनेके सुखके रोकनेवाला है सो एक-दम दूर हो जाता है। उसी तरह जिनशासनके सेवन से जन्म-मरणादि दु:खोसे परिपूर्ण ससारका ही नाश हो जाता है, ससार का कारण रागद्वेष मोह है। जिनशासन वीतराग विज्ञान है। अथवा अभेद रत्नत्रयमई है, अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान या शुद्धात्मानुभव है। जिस समय यह स्वानुभव जगता है तुर्त मन-का क्लेश व शोकादि भावो को हटा देता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोग की चिन्ता को मिटा देता है। ध्याता को निर्भय बना देता है। स्वानुभव से ही पापो का नाश होता है। यह स्वानुभव ही उच्च श्रेणी पर पहुचा हुआ शुक्लध्यान कहलाता है जिसके प्रतापसे घातिया कर्मोका नाश होकर यह जीव अर्हंत हो जाता है, फिर शेष चार अघातिया कर्मोका भी क्षयकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अब इसका न जन्म होता है न मरण होता है। यह जीव सिद्धपदमें निश्चलता से अनतकाल स्थित रहता है और अपने आत्मीक आनदका विलास करता है। जिस जैनधर्मके सेवनसे यहां भी सुख होता है और परलोकमे भी सुख होता है उसकी ओर श्रद्धाभाव रखकर उसका आचरण करना निरतर उचित है, जो इस मानवजन्मको पाकर जिनशासनरूपी जहाज पर चढ़ जाते हैं वे अवश्य नि:शंक होकर संसार-समुद्रको

तय करते चले जाते हैं। अतएव हरएक बुद्धिमान प्राणी को जैनधर्म से प्रेम करना उचित है, यह आत्मस्वातन्त्र्यका पाठ सिखाता है और अहिंसा के अद्भुत भाव को जगाता है। यह जगत के प्राणियो के दु ख मिटाने को दयाभाव जगाता है। यह अन्याय पथ से बिलकुल हटा देता है। यह जोवको समदर्शी व वीतरागी बना देता है। यह सासारिक सुख-दु खोके भीतर भी समताभाव रखने की युक्ति बता देता है। यह अपने निश्चय दृष्टिरूपी शस्त्र से राग द्वेष के कुभावो को विध्वश कर डालता है। यह निरतर ज्ञानरसको पिलाता है, तृष्णाकी दाहको शमन कराता है और जीवको निर्भय बनाकर साहसी और निरा-कुल कर देता है। इस जैनधर्मकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है।

श्री पद्मनदि मुनि धर्मोदेशामृत मे इस रत्नत्रय धर्म की महिमा इस तरह गाते है—

भयभुजंगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक्॥८॥

भावार्थ—यह सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयमयी जैनधर्म ससाररूपी सर्प के हटाने को नाग दमनी औषधि है, दु खोकी महान आगको बुझानेके लिए जलकी वृष्टि है तथा मोक्षसुख रूपी अमृतका सरोवर है सो जयवन्त रहो।

मूल श्लोकानुसार मालिनि छन्द

जनम मरण व्याधि आधि भय शोक आदि।
सहज नशत जासे जैन शासन अनादी॥
भानु जिम नाश करता दुःखकर जग अन्धेरा।
जनदृष्टि विराधक तेज नक्षत्र गेरा॥१६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसका लक्ष्य शुद्धात्मा की तरफ है वही शुद्धात्मभाव को पाता है—

मन्दाक्राता छन्द

चित्रारंभप्रचयनपरा सर्वदा लोकयात्रा।
यस्य स्वान्ते स्फुरदि न मुनेर्मुष्णती लोकयात्राम्।
कृत्वात्मानं स्थिरतरमसावात्मतत्त्वप्रचारे।
क्षिप्त्वाशेषं कलिलनिचयं ब्रह्मसद्म प्रयाति ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस(मुनेः) मुनिके (स्वान्ते)अंतःकरण में (चित्रारंभप्रचयनपरा) नाना प्रकार हिंसादि आरंभामें लगने वाली (लोकयात्राम मुष्णती) व मोक्षकी यात्राको रोकने वाली (लोकयात्रा) लौकिक प्रवृत्ति (सर्वदा) कभी ही (न स्फुरति) नही प्रकट होती है(असौ) वही साधु (आत्मतत्त्वप्रचारे)आत्मीकतत्व के मनन मे(स्थिरतर) अतिदृढ़ (आत्मानं)अपने आत्मा को (कृत्वा)करके (अशेष) सर्व (कलिलनिचयं)कर्मों के मेल के ढेरको (क्षिप्त्वा) दूर फेंककर (ब्रह्मसद्म) ब्रह्मलोक या सिद्धलोक को (प्रयाति) चला जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने बताया है कि सिद्धि उसीकी हो सकती है जो उसके लिए भले प्रकार पुरुषार्थ करता है। मुनिगण ही मोक्षपद पानेके अधिकारी हैं। गृहस्थी आरम्भ परिग्रह के मैलसे मलीन रहते हुए गजस्नानवत् आचरण करते हैं, यदि उन्होंने कुछ ध्यानादि करके पाप धोया भी तो दूसरे समय आरभोमे उलझकर फिर पापोका बध कर लिया, इसलिए वेही सच्चे साधु मोक्षको पा सकते हैं जिनके अंतरंगमें ससारके सब प्रकारके आरभसे ऐसी उदासीनता हो गई है कि वे कभी किसी

असि मसि कृषि आदि कर्मका व रसोई पानी बनवाने आदिका रचमात्र भी विचार नही करते हैं। वे जानते हैं कि ये ससारके व्यवहार राग-द्वेषको बढ़ानेवाले, चितामे फसानेवाले और स्वानुभव रूप मोक्ष की यात्राके मार्ग से हटाने वाले हैं, इसलिए वे राज्यपाट गृहनगर आदिको छोडकर अत्यंत दूर एकात निर्जन वनो मे निवास करते हैं, अपने मनमे रात-दिन मुक्ती सुन्दरीके मिलने की उत्कठामें लगे रहते हैं, वे साधुजन अपने ही आत्माके निश्चय स्वरूप का विचार करते हैं और उसी आत्मानुभव मे थिरता पाने का उद्यम करते हैं। जितना-२ आत्मानुभव बढ़ता जाता है और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है, उतना उतना ही कर्मोंका अधिक क्षय होता जाता है और बधका अभाव होता जाता है। आत्मसमाधिरूपी नौकापर चढे हुए साधु आत्मानन्द को पाते हुए बड़े सुखसे इस ससारकी विशाल यात्राको उल्लघन करके मोक्षमें पहुच जाते हैं।

प्रयोजन कहने का यह कि जो ब्रह्मानन्दके स्वादके चाहनेवाले हैं उनको सर्व आरभ परिग्रह से विरक्त होकर साधु के चारित्रको पालते हुए आत्मध्यानका अभ्यास बढ़ाना जरूरी है। जिन साधुओंकी दृष्टि सदा आत्मानुभवकी तरफ लगी रहती है वे ही साधु शीघ्र मुक्तिको पहुच जाते है।

जैसा श्री पद्मनंदि मुनि ने सद्बोधचद्रोदय में कहा है कि आत्मध्यान ही मुख्य है—

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतम् स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदंतरम् ॥२०

भावार्थ—हे बुद्धिमानो ! आत्मज्ञानरूपी पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है, इसमे बराबर भले प्रकार स्नान करो। जो कर्ममल अन्तरङ्ग मे है व जिसको अन्य करोडों तीर्थ धो नहीं सकते उस मैलको यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो देता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जिस मुनिके मनमें लोक व्यवहार सारा।
शिव पथ हर्तारा घोर आरम्भ कारा।
नहिं होत सुसाधु आत्म तत्त्वे विहारी।
कर क्षय मल सर्वं ब्रह्म पद लेत भारी॥२०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कामविकार बड़ा प्रबल है, इसने सर्व जगत को वश कर लिया है।

नो वृद्धा न विचक्षणा न मुनयो न ज्ञानिनो नाधमाः।
नो शूरा न विभीरवो न पशवो न स्वर्गिणो नांडजाः।
त्यज्यंते समवर्तिनेव सकला लोकत्रयव्यापिना।
दुर्वारेण मनोभवेन नयता हत्वांगिनो वश्यता॥२१॥

अन्वयार्थ— (समवर्त्तिना इव)समवर्ती जो यमराज या भरण उसके समान (लोकत्रयव्यापिना) तीन लोक व्यापी (दुर्वारेण) महान कठिनता से दूर करने योग्य तथा (अगिन.)शरीरधारियो को (हत्वा) मार करके (वश्यता नयता) अपने वश करने वाले (मनोभवेन) कामदेव के द्वारा (नो वृद्धाः) न तो वृद्ध (न विचक्षणाः) न चतुर (न मुनयः) न साधुजन (न ज्ञानिन·) न ज्ञानी लोग(न अधमा.) न नीच पुरुष(नो शूरा·) न वीर मानव (न विभीरवः)न डरपोक जन(न पशव.)न पशुगण(न स्वर्गिणः)

न स्वर्ग के देवता (न अण्डजा.) न पक्षीगण (सकला) ये सर्व ही (न त्यज्यन्ते) नही छोड़े जाते हैं।

(नोट—यहा एक न ऊपर से लगाना उचित है।)

भावार्थ—जैसे मरण के आधीन सर्व शरीरधारी प्राणी हैं वैसे कामदेव के आधीन सर्व प्राणी हो रहे हैं। मरण जैसे तीन लोक के प्राणियो को सताता है वैसे कामदेव भी प्राय: सब प्राणियो को सताता है जैसे मरण को निवारा नही जा सकता वैसे कामदेव को निवारना कठिन है। जैसे मरण को बुद्धिवान, मूर्ख, धनवान, निर्धन, साधु, सत, वीर, कायर, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि किसी भी शरीरधारी को नही छोड़ता है वैसे ही कामदेव ने प्राय सब शरीरधारियो को सता रक्खा है। मैथुन सज्ञा अर्थात् काम की चाह एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीवो में है। यहा तक आचार्यने कामदेवकी प्रबलता इसीलिए दिखाई है कि यह कामभाव परिणामो को बहुत रागी व मोही बना देता व इसके वश मे बडे-२ साधु व वीर पुरुष भी आकर कायर व दीन हो जाते है। यह काम इस जीव का महान शत्रु है। इस जन्म मे यह काम प्राणी को अन्धा बनाकर धर्म कर्म से भ्रष्ट कर देता है तथा धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थों से हटा देता है और परलोक में दुर्गति मे पटक देता है। जहाँ से भ्रमण करते-२ मानवजन्म पाना बहुत दुष्कर हो जाता है। जिन स्त्री पुरुषो ने कामभाव को जीता है वे ही साम्यभाव में भले प्रकार रम सकते हैं, वे ही सच्चे सुख व शातिको प्राप्त कर सकते हैं। कामभाव से बचने के लिए हरएक बुद्धिमान प्राणी को सदा ही यत्न करना योग्य है। ब्रह्मभाव और कामभाव मे वैर है। ब्रह्म-भाव जब निराकुलताका कारण है तब कामभाव तीव्र आकुलता

का कारण है। तत्त्वभावना का महान घातक यह कामदेव है। श्री पद्मनंदि मुनि ब्रह्मचर्य रक्षा में ऐसा कहते हैं :—

चेतो भ्रांतिकरी नरस्य मदिरा प्रीतिर्यथा स्त्री तथा।
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि संभाव्यते॥
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकाम्।
कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान्॥

भावार्थ—जैसे मदिरा मनुष्यके चित्तमे भ्राति पैदाकर देती है वैसे ही स्त्री की प्रीति मनको बावला बना देती है। ऐसी स्त्री की संगति में किस तरह थोडा भी मुनिका व्रत संभव हो सकता है ? इसलिए जो ससार सागर मे डूबने से भयवान हैं और तप की भूमि मे प्राप्त हो चुके हैं ऐसे व्रतियो को उचित है कि सर्व स्त्रियो के त्याग मे महान उद्यम रखे। मन की शुद्धि काम भाव के त्याग से ही होती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

यम सम दुर्वारं काम कृच्चिद्विकारं।
जगत जनोको है पीड़ता हन अपारं॥
पशु देव सु वीरं वृद्ध मुनि ज्ञानधारं।
प्राणी सब मोहे कामको कर निवारं॥२१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि इस कामभाव को वैराग्य व आत्मध्यान से जीतना उचित है।

शश्वद्दुःसहदुःखदानचतुरो वैरी मनोभूरयम्।
ध्यानेनैवनियम्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम्।
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलं।

वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अयम) यह (मनोभू) कामभाव (शश्वत्) सदा ही (दु सहदु खदानचतुरः) असहनीय दु ख देने मे चतुर (वैरो) शत्रु है। इसको (ध्यानेन एव) आत्मध्यान से ही (नियम्यते) वश किया जा सकता है। (न तपसा) न तो तप करने से (न ज्ञानिनाम सगेन) न ज्ञानियो की सगति से यह वश होता है अथवा (शमिना) शात चित्तवालोंको (निर्वाणदानक्षम) मुक्ति देने मे समर्थ जो (देहात्मव्यतिरेकबोधजनित) देह और आत्माके भिन्न-२ ज्ञानसे उत्पन्न (निश्चल) निश्चल (स्वाभाविक) व स्वाभाविक (परम) उत्कृष्ट (वैराग्य) वैराग्य है (विहाय) उसको छोडकर और कोई उपाय नही है।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने कामभाव मिटाने के लिए आत्मध्यान को ही मुख्य कारण बताया है और उस आत्मध्यान को ही उत्तम वैराग्य कहा है। यह बात बिलकुल ठीक है कि जहा वैराग्य होता है वही राग मिटता है यदि वैराग्य न हो और नाना प्रकार क तप किए जावें तथा विद्वान पडितो की सगतिमे रहकर ज्ञान की चर्चा सुनी जावे तब भी कामका विकार मनसे नही हटता है। इसलिए स्वाभाविक वैराग्य की प्राप्ति करनी उचित है। शरीर और आत्मा इन दोनो का सम्बन्ध दूध और पानी की तरह एकमेक हो रहा है। जिसने जिनवाणीके अभ्यास से भलेप्रकार समझ लिया है कि आत्मा का स्वभाव भिन्न है और शरीर का स्वभाव भिन्न है उसीने आत्माके सच्चे स्वरूप का पता पाया है। आत्मा स्वतन्त्र एक द्रव्य है—गुणपर्यायमय है, चेतना, सुखचरित्र (वीतरागता) वीर्य सम्यक्त आदि इसके विशेष गुण हैं। तथा इन गुणो मे परिणमन होना सो पर्याये या

अवस्थाए हैं। आत्मा असलमे शुद्ध गुण व शुद्ध पर्यायो का धनी है। यह अमूर्तीक है। इसमें न क्रोधादि विकार रूप भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म है। संसार सबधी भाव कि मैं सुखी हू या दु खी हू यह भी मोह का विकार है। सासारिक सुख तृप्तिकारक नही है, पराधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन व परम सतोषकारक है। ऐसा भेद विज्ञान जिस किसोके चित्त मे हो जाता है और जो इस भेद विज्ञान के बल से आत्माको सर्व अन्य द्रव्यों से व सर्व प्रकार अशुद्ध भावो से भिन्न अनुभव करता है उसको अभ्यासके बल से आत्मीक आनन्द का बढ़िया स्वाद आने लगता है। तब उसकी बुद्धि से इन्द्रिय सुख की रुचि हट जाती है। बस यही वह बीज है जिससे कामभावको जीता जा सकता है। जिसको बार-बार आत्मज्ञान के अभ्यास से चित्त की निश्चलता हो जाती है और दृढ उदासीनता ससारके कामोसे हो जाती है व निजसुख के भोगनेकी तीव्र रुचि वढ जाती है, उसके दिल से कामभाव बिलकुल निकल जाता है। आत्मज्ञान सहित जो वैराग्य है वही कर्मोंकी निर्जरा करता है। इस आत्मज्ञान सहित बैराग्यके लिए उपवास करना, रस त्यागना आदि तप, तथा ज्ञानियोकी सगति मे बैठकर शास्त्रका विचार करना निमित्त है, जो आत्मध्यानकी खोज इन निमित्तो को मिलाकर नही करता है उसके मनमें कामभाव का वैरी व्रह्मज्ञान नही पैदा होता है। इसीलिए आचार्य ने दिखाया है कि आत्मध्यान और वैराग्य के बिना, मात्र तप व मात्र ज्ञानियों की संगति करना कामदेव को नाश नही कर सकते।

मुख्य आत्मानुभव है,यही औषधि है जिससे वैराग्य आजाता है और काम का राग मिट जाता है। इसलिए जो सच्चे हितके वाँछक हैं उनको वैराग्य सहित आत्मध्यान का अभ्यास सदा करना चाहिए। ध्यानके सम्बन्ध मे विशेष कथन पुस्तकके अन्त मे दिया गया है वहासे पाठक ध्यानकी रीतियो को समझे। यहा यह मतलब है कि कामभावको आत्माकी उन्नति का परम वैरी समझकर उसके नाश करने के उपाय मे लगे रहे तथा उसके आक्रमण से बचने के लिए सदा सावधार रहे। यह बात अच्छी तरह समझ ले कि कामकी उत्पत्ति मनमे होती है। जिसके मन मे ब्रह्मभावका स्वाद आजाता है वही मन कामभावके स्वादका बुरा जानने लगता ह। जैसे किसी मनुष्य ने अपने ग्रामके खारे कुए का पानी पिया है और वह उसे ही मीठा समझ रहा है। एक दिन वह दूसरे ग्राम म जाता ह और वहा उस मीठे कुएका मीठा पानी कोई पिलाता है, तब उसका भाव एकदम फिर जाता है। वह जब इस मीठे पानी के स्वाद का मुकाबला अपने कुएके खारे पानीके स्वादसे करता है तब इसको यह दृढ निश्चय हो जाता ह कि असली मीठा पानी तो वह है जो आज पिया है। अब तक जो मैंने अपने ग्रामके कुएके पानीको मीठा समझा था सो मेरी भूल थी। इसी तरह जब आत्मध्यान से आत्मानन्द का स्वाद आने लगता ह तब विषय सुख विरस है, सच्चा सुख नही है यह बुद्धि जमती है। इसलिए आत्मध्यानका ही उपाय करना परम श्रेयस्कर है। श्री पद्मनंदि मनि ने सद्बोधचद्रोदय मे कहा है कि आत्मध्यान ही परम कल्याणकारी है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभि. वर्जित किमपि यत्तदेव नः।
नान्यवल्पमपि तत्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः ॥२५

भावार्थ—जो आत्मतत्व सर्व रागादि उपाधियो से रहित है तथा ज्ञानमय है वही तत्व हमको इष्ट है। उसके समान और कोई भी अल्प भी तत्व मोक्ष का कारण नही है। यही योग का निश्चय या सार है। अर्थात् आत्मतत्व के अनुभव से ही मुक्ति हो सकती है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

दुःसह दुखकारी, काम रिपु कर निवारी।
कर आतम ध्यानं: चित्त वैराग्य धारी॥
या बिनबुध सङ्गं, औ तप नहिं नशावै।
लख आतम भिन्नं, देह से मुक्त पावे॥२२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो अविवेकी है वे सदा ससारचक्र मे भ्रमण करते रहते हैं—

कः कालो मम कोऽधुना भवमहं वर्त्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम्।
इत्थं सर्वविचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः।
जन्माम्भोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः॥२३॥

अन्वयार्थ—(मम) मेरा (कः) कौन सा (काल) काल है (अधुना) अब (क) कौन सा (भवम्) जन्म है (सांप्रतम्) वर्तमान मे (अहं) मैं (कथं) किस तरह (वर्ते) वर्ताव करूँ (अत्र) इस जन्मम (मम) मेरा (किं कर्म) कौनसा कार्य (हितं) हितकारी है (परत्र)पर जन्ममे (किं)कौनसा कर्म हितकारी है। (मे) मेरा (निज) अपना(किं) क्या है (परम्) पर (किं)क्या है (इत्थं)इस प्रकारकी(सर्वविचारणाविरहिता)सर्वविवेक बुद्धिको न करते हुए (दूरीकृतात्मक्रियाः)तथा आत्माका आचार दूर ही

रखते हुए जगत के जन (जन्माभोधिविवर्तपातनपरा·) ससार-समुद्र के भँवर मे पटकने वाले (सर्वाः क्रिया.) सर्व आचरणोको (कुर्वन्ति) करते रहते हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने दिखलाया है कि विवेकी पुरुष व स्त्रियो को नीचे लिखे प्रकार प्रश्नो को व उत्तरोको विचारते रहना चाहिए—

(१) मेरा कौन-सा काल है ?

उत्तर—मेरा काल बालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा यह समय कैसा है। सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है। रोगाक्रांता है या निरोग है। अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है या पाचमा दुखमा काल है।

(२) मेरा अब कौन-सा जन्म है ?

उत्तर—मैं इस समय मानव हूँ, देव हू या नारकी हू राजा हू या रक हू।

(३) मै अब किस तरह बर्ताव करूं ?

उत्तर—इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येय बना लेना चाहिए कि मैं क्या इस समय मुनिव्रत पाल सकता हू या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक हो सकता हू, या मैं गृहस्थमें रहते हुए धर्म साध सकता हूं, या मैं गृहस्थ में रहते हुए कौनसी प्रतिमा के व्रत पाल सकता हू, या मैं आजीविका के लिए क्या उपाय कर सकता हू अथवा मैं परोपकार किस तरह कर सकता हू।

(४) इस जन्म में मेरा हितकारी कर्म क्या है ?

उ०—मैं इस जन्ममें मुनि होकर अमुक-२ शास्त्र लिख सकता

हूँ व अमुक देश, जिले मे जाकर धर्म का प्रचार कर सकता हूँ अथवा मैं गृहस्थ मे रहकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को साध सकता हूं। और धन से अमुक-२ परोपकार कर सकता हूँ।

(५) परलोक मे मेरा हित क्या है ?

उ०—मै यदि परलोक मे साताकारी सम्बन्ध पाऊँ, जहाँ मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्वविचार कर सकू, तीर्थंकर केवली का दर्शन कर सकू, उनकी दिव्यध्वनि को सुन सकू, मुनिराजो के दर्शन करके सत्संगति से लाभ उठा सकू, ढाईद्वीप के व तेरहद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयो के दर्शन कर सकू, तो बहुत उत्तम है जिससे मैं परम्परा मे मोक्ष धाम का स्वामी हो सकू।

(६) मेरा अपना क्या है ?

उ०—मेरा अपना, मेरा आत्मा है, सिवाय अपने आत्मा के कोई अपना नही है। आत्मा मे जो ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं वे ही मेरी सम्पत्ति है। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणो का समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणो का समय-२ शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानदमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नही है।

(७) मेरे से अन्य क्या है ?

उ०—मेरे स्वभाव से व मेरी सत्ता से भिन्न सर्व ही अन्य आत्माएँ हैं, सर्व ही अणु व स्कधरूप पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश तथा काल द्रव्य हैं, मेरी सत्ता मे जो मोह के निमित्त से रागादि भाव होते हैं ये भी मेरे नहीं हैं न किसी प्रकार का कर्म व नोकर्म का सयोग मेरा अपना है, वे सब पर हैं।

जो विवेकी इन प्रश्नो को बिलकुल विचार नही करते हैं वे आत्मोन्नति से सर्वथा दूर रहते हैं। वे वह कुछ भी आचरण नहीं पालते है। जिससे आत्मा को सुख शाति प्राप्त हो। वे रातदिन ससार के मोह मे फँसे रहते है और विषय कषाय सम्बन्धी अनेक न्याय व अन्याय रूप कार्यो को करते हुए अनेक प्रकार के कर्म बाध ससार-सागर मे गोते लगाते रहते है। ऊपर लिखित विवेक जिनमे होता है वास्तव मे वे ही मानव है। जिनमे यह विचार नही है वे पशुतुल्य नितान्त अज्ञानी तथा मूर्ख हैं, मानव जन्म को पाकर जो विषयो मे खो देते है वे महा अज्ञानी हैं।

श्री ज्ञानार्णव मे शुभचन्द्र जी कहते है—

अत्यन्तदुर्लभष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।
प्रमादत्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसाः ।।
सुप्राप्य न पुन· पुसा बोधिवरत्न भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्ट यथा रत्न महामूल्य महार्णवे ।।१२।।

भावार्थ—मानव जन्म, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियो की पूर्णता, बुद्धि की प्रबलता, साताकारी सम्बन्ध य सब अत्यन्त दुर्लभ है। पुण्य योग से इनको पाकर भी जो कोई प्रमाद मे फँस जाते हैं व द्रव्य के और कामभोगो के लालसावान हो जाते है, वे रत्नत्रयमार्ग से भ्रष्ट रहते है। इस ससाररूपी समुद्र मे रत्नत्रय का मिलना मानवो को सुगमता से नही होता है। यदि कदाचित् अवसर आ जावे तो रत्नत्रय धर्म को प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिए। यदि सम्हाल न की तो जैसे महासमुद्र मे हाथसे गिरे हुए रत्न का मिलना फिर कठिन है उसी तरह फिर रत्नत्रयका मिलना दुर्लभ है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

कैसा है कालं कौन है जन्म मेरा,
किस विध वर्तूं मै क्या सुहित अत्र मेरा ।
परलोके हित क्या, क्या जु अपना पराया,
ऐसे चिन्ते विन, भव उदधि निज डुबाया ॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि साधु मार्ग ही मुक्ति का कारण है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

येषां काननमालय शशधरो दीपस्तमश्छेदकः ।
भैक्ष्यं भोजमुत्तम वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम् ॥
संतोषा मृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते ।
धन्या यांति निवासमस्तविपद दीनैर्दरापं परैः ॥२४॥

अन्वयार्थ--(येषा) जिन महात्माओ का (आलय) घर (कानन) जगल है, (तमश्छेदक) अधकार को नाशने वाला (दीप) दीपक (शशधर) चन्द्रमा है, (उत्तम भोजन) उत्तम भोजन (भैक्ष्य) भिक्षा द्वारा हाथ मे रक्खा हुआ भोजन लेना है, (शय्या) सोनेका पलग (वसुमता) भूमि है, (तु) तथा (अम्बर) कपडा (दिश) दिशाएँ है (ते) वे (सतोषामृतपानपुष्टवपुषः) सतोषरूपी अमृत के पानसे अपने शरीर को पुष्ट करने वाले (धन्या) धन्य साधु (कर्माणि) कर्मों को (निर्धूय) धोकर (परैः दीनै) दूसरे दीन पुरुषो से (दुराप)न प्राप्त करने योग्य (अस्त-विपद) सर्व आपत्तियो से रहित निराकुल (निवास) मोक्षस्थान को (याति) प्राप्त कर लेते है ।

भावार्थ—यहा आचार्य ने दिखलाया है कि निर्ग्रन्थ लिंग-धारी साधु महात्मा ही मोक्ष के अधिकारी है ।

जिन महात्माओने धन धान्यसे भरे हुए घरको छोडकर जगलको ही अपना घर बना लिया है, तेलबत्ती से बने हुए दीपकको छोडकर चद्रमाहीसे दीपकका कामलेना शुरू किया है, नानाप्रकार मनोज्ञ मिठाई पकवान भोजन छोडकर भिक्षा द्वारा प्राप्त नीरस सरस भोजनको लेना ही अपना कर्तव्य समझा है, जिन्होने पलग गद्दे आदि मुलायम बिछौनो को छोडकर भूमि को ही अपनी निरारभी व निराकुल शय्या माना है, जिन महान पुरुषोने सर्व प्रकार के रुई आदि के वस्त्रो को त्यागकर दशदिशाओ को ही अपना स्वाभाविक वस्त्र जाना है ऐसे वस्त्र त्यागी व परिग्रह रहित निर्जन बनवासी साधु ही सदा सन्तोष रूपी अमृतसे तृप्त रहते हैं। वे साताकारी सामाग्री के सयोग मे हर्ष नही मानते हैं व असाताकारी पदार्थों के सम्बन्ध मे शोक नही करते हैं, निरतर आत्मानंदरूपी अमतको पीते हुए तृप्त रहते है। वे ही साधु अपने वीतराग भाव से कर्मोंको नाश करके अविनाशी मोक्षपद को पालते हैं। जहाँ कोई न चिता है न शरीर है, न कोई व्याधि है न कोई आकुलता है, न कुछ काम करना है। जहाँ निरतर आत्मानदका विलास रहता है ऐसे अपूर्व पदको वे नही पा सकते हैं जो कायर हैं व दीन हैं। जो घरसे ममता नही छोड सकते, जो रसीले भोजन पानके करने वाले हैं। जो मुलायम गद्दो पर सोते हैं व जो अनेक प्रकार वस्त्रो से अपने शरीर को ढकते है, तथा जो असाता पडने पर क्रोधी व साता मिलनेपर राजी हो जाते ऐसे नाम मात्रके साधु कभी भी मुक्तिपद को नही पासकते है।

श्री पद्मनदि मुनि यत्याचार धर्म मे लिखते है—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो ।
यदींद्रियसुख तदिह कालकूटः सुधा ॥
स्थिरो यदि तनुस्तदा स्थिरतर तडिच्चाम्बरे ।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदन्द्रजालेऽपि च ॥५६॥

भावार्थ—यदि परिग्रह धारी साधुओ को मोक्ष होता हुआ माना जावे तो अग्नि को ठडा मानना पड़ेगा । इन्द्रियो का सुख हो जावे तो विष को भी अमृत मानना होगा । शरीर यदि स्थिर माना जावे तो आकाश मे बिजली को स्थिर मानना होगा, और यदि ससार में रमणीकता मानी जावे तो इन्द्रजाल के खेल मे रमणीकता मानना होगा ।

मतलब यह है कि परिग्रह त्यागी, इन्द्रियसुख से विरागी, शरीर को अनित्य मानने वाला ससार को रमणीक न देखने वाला ही साधु महात्मा मोक्ष का अधिकारी है ।

मूल श्लोकानुसार त्रिभगी छन्द

जिनका बन डेरा चंद्र उजेरा दीपक नेरा तम नाशे ।
भिक्षा है भोजन अंबर दिश गण भू शयनास नपरकाशे ॥
जो संतोषामृत पीवत सुखकृत कर्मन धोवत सुखभासे ।
सो यति शिव पावे विपत नशावे दीन न पावे लघुता से ॥२४

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पर पदार्थो पर स्नेह करते है वे आत्महित से गिर जाते है—

माता मे मम गेहनी मम गृह मे बाधवा मेऽगजाः ।
तातो मे मम संपदो मम सुख मे सज्जना म जनाः ॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सवीस्त्रस्यते ॥२५॥

अन्वयार्थ—(मे माता) यह मेरी माता है (मम गेहिनी)यह मेरी स्त्री है (मम गृह) यह मेरा घर है (मे बाधवा:) ये मेरे बधुजन हैं (मे अगजा:) ये मेरे पुत्र है (मे तात:) यह मेरे पिता हैं (मम सपद) यह मेरा धन है (मम सुख) यह मेरा है (मे सज्जना.) ये मेरे हितैषीजन हैं (मे जना:) ये मेरे परिवार के लोग हैं (इत्थ) इस तरह के (घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोध-स्थिति) भयानक ममतारूप अधकार से जिसका ज्ञान अस्त हो रहा है ऐसा (प्राणी) प्राणी (शर्माधानविधानत·) सच्चे सुखको प्राप्त कराने वाले (स्वहितत:) अपने हितकारी कार्य से (सनीस्त्रस्यते) दूर भागता जाता है।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने बाहरी पदार्थों से ममता करने का कटुक फल दिखलाया है। जैसे मदिराके पीने से बुद्धि बिगड जाती है, बेहोशी आ जाती है, अपनी सुधि नहीं रहती है उसी तरह मोह के कारण यह प्राणी अपनी आत्मा के हित को भूल जाता है। यह जब कभी जरा विचार करता है तो समझ लेता है कि जब शरीर ही अपना नही है तब शरीर के साथी माता, पिता, स्त्री, बधु, पुत्र, मित्र, परिवार, धन, गृह आदि चेतन व अचेतन पदार्थ अपने कैसे होगे ? परन्तु कुछ ही देर पीछे फिर ऐसा मोहित हो जाता है कि रात दिन इसी खयाल मे फँसा रहता है कि ये मेरे पुत्र हैं, यह स्त्री है, यह धन है, ये बधुजन हैं, इनको मैं पालने वाला हूँ, उन सबको मेरी आज्ञा माननी चाहिए अथवा ये सब बने रहे और मेरा काम चलता रहे। ये सब मेरे इद्रिय सुखके भोगमे सहकारी हैं, यह धन सदा बना रहे, इसी से मेरा जीवन सफल है। प्रात:काल से सध्या होती है, सध्या

से सबेरा होता है। इस मोही प्राणी को इन्ही पर पदार्थों का ही विचार रहता है। उनके रोगाक्रात होने पर उनकी दवाईमे उनके वियोग होने पर शोक करने मे इस तरह अपना मन उन्ही के रक्षण मे फँसाए रखता है। एक समय भरके लिए भी सच्चे ज्ञान को नही विचारता है कि ये सर्व सम्बन्ध क्षणभगुर शरीर के है। इनसे मेरा सच्चा हित न होगा तथा यह धन और इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ मुझे कभी भी तृप्ति नही देते है। जितना मै इनका सग्रह करता हूँ उतना अधिक मैं प्यासा व तृष्णावान व चिंतातुर बना रहता हूँ। यह जीव रात दिन मोह के प्रपच से नहीं छूटता। यह जितना अधिक मोह बढाता है उतना अधिक अपने सच्चे हितकारी कार्यसे दूर होता चला जाता है, हाय-हाय करते हुए एक दिन मर जाता है और आर्त व रौद्रध्यान के कारण दुर्गति मे चला जाता है। आचार्य कहते है कि सच्चा सुख तो आत्मा मे है। यह अज्ञानी मोही जीव इस आत्मा की विभूतिसे शून्य रहता हुआ घोर सकटो मे पड जाता है। तात्पर्य यह है कि पर पदार्थों का मोह करना मूढता है। ज्ञानी को उनसे मोह न करके अपना लक्ष्य आत्मोन्नति मे रखना उचित है।

अनित्यपचाशत् में श्री पद्मनदि मुनि कहते है—

अंभोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा।
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कातार्थपुत्रादयः॥
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्तांगनापांगवत्।
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा॥४॥

भावार्थ—यह शरीर पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर है

यह लक्ष्मी इन्द्रजाल के समान मिटने वाली है, यह स्त्री-पुत्रादिक कठिन वायु से चलाए हुए मेघो के समान जाने वाले हैं, इन्द्रिय विषयो का सुख मत्त स्त्री के नेत्रके समान चचल है इसलिए उन नाशवंत पदार्थोंके मिलनेमे हर्ष क्या व जानेमे शोक क्या ? अर्थात् ज्ञानी इनके सबध मे राग व वियोगमे शोक नही करते है।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालती

मा मेरो गृहिणी मेरो मम घर मेरे बांधव मे पुत्रा।
मेरा बाप सम्पदा मेरी, मेरा सुख सज्जनजन मित्रा ॥
या विधि घोर मोह ममतावश मूढ रही है ज्ञान सुनेत्रा।
सुखकारी निज हितसे प्राणी, दूर रहत है कार्यविचित्रा ॥२५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर पदार्थों के वियोग होने पर शोक न करना चाहिए—

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मनायौ स्थिरौ।
यत्रावार्यरयौ परस्पर मिमौ विश्लिष्यतो गांगिनौ ॥
खेदस्तत्र मनीषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति।
ज्ञात्वेतीह विमुच्यतामनुदिनं विश्लेषशोक व्यथा ॥२६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहा (यौ) ये जो (अगागिनौ) दोनों शरीर तथा शरीरधारी जीव हैं (विख्यातौ) सो बड़े मशहूर है (सहचारिता परिगतौ)अनादिकालसे साथ-२ आते चले आरहे है (आजन्मनायौ स्थिरौ) जन्म से लेकर मरण पर्यन्त दोनो स्थिर रहते हैं (इमौ) इन दोनोको (परस्पर) एक दूसरेसे (अवार्यरयौ) विरह करना बडा ही कठिन है। तोभी (विश्लिष्यत.) इन दोनो का परस्पर वियोग हो जाता है (तत्र)वहा (बाह्ये)बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादिके(विमुक्ते सति)छूट जाने पर (मनीषिणा)बुद्धिमान

थको (ननु कथं श्वेद:) क्यो शोक करना चाहिए ? इस जगत मे (इति) ऐसा (ज्ञात्वा) जानकर (अनुदिन) प्रतिदिन (विश्लेषशोक-व्यथा) बाहरी वस्तुओके वियोगके शोकके कष्टको (विमुच्यताम्) छोड़ देना ही उचित है ।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने स्त्री पुत्रादिके मोहके नाशका व उनके शोकके नाशका उपाय बताया है कि बुद्धिमान प्राणीको यह विचारना उचित है कि यह शरीर जिसका इस अशुद्ध संसारी जीवके साथ अनादिकालका सम्बन्ध है वह भी एक भवमे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त रहता है, यद्यपि यह फिर कर्मों के उदयसे प्राप्तहो जाता है तो भी फिर मरण होनेपर छूट जाता है । हम जो चाहे कि इस शरीरका सम्बन्ध न हो तो हमारे मन की बात नही है । कर्मोंके उदयसे बारबार इनका सम्बन्ध होता ही रहता है और छूटता ही रहता है । जब कर्मों का बध बिलकुल नही रहता है तब तो सदा के लिए शरीरका सम्बन्ध छूट जाता है । कहने का मतलब यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानीकी तरह मिला हुआ है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध किए है, वे भी जब छूट जाते हैं तब स्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर धन राज्य आदि जो बिलकुल बाहरी पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध क्यो नही छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नही है उसके चले जाने का क्या खेद ? इसलिए बुद्धिमानो को कभीभी अपने किसी माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र व मित्र के वियोग पर या धन के चले जाने पर शोक नही करना चाहिए । इनका सम्बन्ध जो कुछ है भी वह शरीर के साथ है जब यह शरीर ही छूटेगा तब इनके छूटने का क्या विचार ? इसलिए पर पदार्थोंके संयोग में हर्ष व वियोग में शोक न करना ही बुद्धिमानी है ।

श्री पद्मनंनि मुनि अनित्यपचाशत् मे कहते है—

तडिदिव चलमेतत पुत्रदारादिसर्वं ।
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भि ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य ।
व्यभिचरति कदाचिन् सर्वभावेषु नूनं ।।२६।।

भावार्थ—ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ बिजलीके चमत्कार के समान चचल है। इनमेसे किसीके नाश होनेपर बुद्धिमानोको शोक क्यो करना चाहिए, अर्थात् शोक कभी नही करना चाहिए क्योकि निश्चयसे सर्व जगतके पदार्थोका यह स्वभाव है कि उनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। जैसे अग्नि मे उष्णता कभी नही जाती वैसे उत्पत्ति, नाश व स्थितपना कभी नही मिटता। हरएक पदार्थ मूलपने से स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओ की अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है। पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है। जगत मे सब अवस्थाये ही दिखलाई पडती है इनका अवश्य नाश होगा इसलिए वस्तुस्वभावमे शोक करना मूर्खता है। जो किसीका मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमे मरण व जन्म हुआ है वह वस्तु स्थिर भी है। जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा। तब मानव जन्मका नाश हुआ, कुत्तेके जन्मका उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानवमे था वही कुत्ते मे है। ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानीको सदा समताभाव रखना चाहिए।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

है चिरकाल कुसङ्गति जिनको जीव शरीर प्रसिद्ध जगत मे।
साथ रहे नित विरह न होवें तदपि छूटत है दोउ जगत मे।
तो फिर पुत्र धनादि बाह्य ये छूटत होत किम खेद जगतमे।
बुद्धिमान इमजान सदा ही शोक करो नहिं कोय जगत में॥२६

उत्थानिका—आगे कहते है कि पेटकी चिंता बडी दु खदाई है वह चिन्ता धर्म, यश, सुखका नाश करती है—

तिर्यंचस्तृणपर्णलब्धधृतयः सृष्टाः स्थलीशायिनः।
चितानन्तरलब्धभोगविभया देवाः समं भोगिभिः॥
मर्त्यानां विधिना विरुद्धमनसा वृत्तिः कृता सा पुनः।
कष्टं धर्मयशःसुखानि सहसा या सूदते चिंतिता॥२७॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धमतसा) विपरीत मनवाले (विधिना) कर्मरूपी ब्रह्माने (तिर्यच) पशुओ को (तृणपर्णलब्धधृतयः) तिनके और पत्तोको खाकर सतोष रखनेवाले व(स्थलीशायिन.) जमीनपर शयन करनेवाले तथा (भोगिभि सह) भोगभूमियो के साथ-२ (देव)देवो को (चिन्तानन्तरलब्धभोगविभवा) चिन्ता करते ही भोगो को भोगनेवाले व ऐश्वर्यवान(सृष्टा.)रचे(पुनः) फिर(मर्त्याना)कर्मभूमिके मनुष्योकी(सा वृत्ति)ऐसी अजीविका की पद्धति (कृत) कर दी (या चिंतिता) की जिसकी चिता (सहसा) शीघ्र ही (धर्मयश सुखानि) धर्म, यश तथा सुखो को (सूदते) नाश कर देती है (कष्ट) यह बडे दु ख की बात है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि हम मनुष्यों को अपना पेट पालने के लिए भी बहुत कष्ट सहना पडता है।

पशुओंके तो ऐसा कर्मका उदय है जिससे अधिकाश पशु स्वय पैदा होनेवाले घास पत्तो को खाकर रह जाते है व जमीनपर सो जाते है। देवोके ऐसा पुण्य का उदय है कि भूख उनको इतनी कम लगती है कि यदि एक सागर वर्षों की आयु हो तो १००० वर्ष पीछे भूखकी वेदना होती है। भूखकी चिंता होते ही उनके इस जाति के परमाणु कण्ठ मे होते है जिनसे अमृतसा भीतर झड़ जाता है और देवोकी भूख मिट जाती है। इसीसे उनके मानसिक आहार है। वे कभी ग्रास ले करके कोई भी अन्न या अन्य पदार्थ नही खाते। भोगभूमिके मानवोके यहा भोजनाग वस्त्राग भाजनाग आदि दस जातिके पृथ्वी कायधारी कल्पवृक्ष होते है। उनसे चिंता करतेही इच्छित पदार्थ मिल जाते है। उनके भोजन बहुत अल्प होता है। दीर्घकायी होने पर भी आवला प्रमाण अमृतमयी भोजन करके तृप्त हो जाते है। परन्तु मानव समाज को कर्मभूम्मिमे जन्म लेकर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छ. प्रकारके साधनोको करके पहले तो धन कमाना पड़ता है फिर पाचो इन्द्रियोके भोगोके लिए सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। इन कार्योमे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानव ऐसे फस जाते हैं कि नीति व अनीतिको भूल जाते हैं, हिसा, असत्य चोरी आदि पापोसे धन इकट्ठा करते है, बड़ कष्ट से निर्वाह करते है, खानपान मे सतोष न रखकर अभक्ष्य व कामोद्दीपक व मादक पदार्थ खाने लगते है। मनकी चचलता बढ़ जाने से वेश्यासक्त व परस्त्री गामी हो जाते है तथा इन्द्रियो के भोगोमे व धनके सचयमे ऐसे लवलीन हो जाते है कि उनको धर्म की परवाह नही रहती है, वे धर्मसाधन को मानो नाश ही कर डालते हैं। अन्याय व अनुचित व्यवहार से जब दूसरे मानवोको

सताते हैं तब उनका यश भी जाता रहता है और सच्चे आत्मीक सुखकी तो उनको गंध भी नही आती है। वे यदि आत्मीक तत्त्व पर लक्ष्य देते तो इस नरभव में सच्चे सुखको पा सकते थे परन्तु वे अन्धे होकर इस रत्नको जो अपने ही पास है गमा बैठते हैं। उनको रात-दिन भोगों की व पैसे कमाने की चिन्ता सताया करती है। कही खर्च अधिक कर डाला व आमद कम हुई तो कर्जदार होकर घोर चिताको दाहमे जलते रहकर शीघ्र प्राणरहित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनके ऐसा विपरीत कार्य का उदय है कि जिससे वे महादुःखी रहते हैं। प्रयोजन कहने का यह है कि ऐसे कष्टमय जीवनको पार करके इस कर्म भूमिके मनुष्य सम्बन्धी भोगोमें लिप्त होना मूर्खता है। इस शरीरमे जहा भोगोपभोग के लिए इतने कष्ट होते हैं वहा इस तनसे सयम का पालन हो सकता है जिसको न पशु न भोग भूमियां और न देव पालन कर सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान मानवोको उचित है कि सतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक जीवन बितावे और वैराग्य पाने पर साधु हो जावे और अपने सच्चे सुख को पाते हुए कर्मोंके नाशका उद्यम करे जिससे कभी न कभी मुक्ति के स्वामी होजावे। मनुष्य-जन्मको सफल करना यही बुद्धिमानी है। श्री अमितगति, सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

जन्मक्षेत्रे पवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरन्ध्रे।
देहेव्याधादिसिन्धु प्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे ॥
कुर्वाणो बन्धुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीव ! नाशं।
संचिन्त्यैवं शरीरे कुरु हत ममतो धर्मकर्माणि नित्यम् ।४०५

भावार्थ—इस पवित्र जन्म के क्षेत्र मे आकर तू अति चचल दोषरूपी सर्पोंसे भरे हुए रोगादि रूपी समुद्र मे गिरनेवाले, पाप

रूपी पानी से पूर्ण घडे के समान तथा नाना प्रकार मलसे भरे हुए इस देह मे अपनेपने की बुद्धि करके हे आत्मान् ! तू नाशको प्राप्त होगा, ऐसा विचार करके इस शरीर से ममता टाल दे और धर्मके कार्यों को कर।

मूलश्लोकानुसार छन्द मालनी

कर्म बिधाता ने पशुओ को घासपात भोगो थलशायो।
देव और भू भोग नरो को चिता करते भोग कराई ।।
मर्त्यलोकके मानव पापी, वृत्ति जिन्होने दुखप्रद पाई।
धर्म कीर्ति अर सुख विघटावे, यह काहे विपरीत रचाई ।।२७।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अज्ञानी जीवको शान्तसुख की इच्छा नही होती।

मालिनीवृत्त

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमग।
भ्रमसि धरणिपृष्ठ लिप्स्यसे स्वान्तलक्ष्मीम्।
अभिलषसि विशुद्धा व्यापिनी कीर्तिकान्ता।
प्रशमसुखसुखाब्धिगाहसे त्व न जातु ।।२८।।

अन्वयार्थ—(अग) हे मन ! तू कभी तो (दिविजयोषा) देवोकी स्त्रियो को (भजसि) भोगना चाहता है (पाताल यासि) कभी तू पाताल मे चला जाता है (धरणिपृष्ठ भ्रमसि) कभी पृथ्वी के ऊपर घूमता है (स्वान्तलक्ष्मीम्) कभी मनके अनुकूल धनको (लिप्स्यसे) प्राप्त करना चाहता है, कभी (विशुद्धा) अति उज्ज्वल (व्यापिनी) जगतमे फैलनेवाली (कीर्तिकाता) कीर्तिरूपी स्त्रीको (अभिलषसि) चाहता है परन्तु (त्व) तू (जातु) कभी भी (प्रशमसुखसुखाब्धि) शातिमय सुख समुद्र मे (न गाहसे) नहाना नही चाहता है।

भावार्थ—यहा आचार्य ने दिखाया है कि इन्द्रियोके भोगोके करनेसे सुख मिलेगा इस भ्रम बुद्धिमे उलझा हुआ यह मन नाना प्रकारकी कल्पनाए किया करता है। कभी तो चाहता है कि स्वर्गमे जाकर पैदा हू और वहा बहुत सुन्दर देवियो के साथ क्रीडा करूँ, कभी भवनवासीके भवनो का ख्यालकर लेता है जो पाताललोक मे रहते है—उनके समान घूमना व सुखी रहना चाहता है, कभी पृथ्वी मे अनेक देश, नगर, ग्राम पर्वत, नदी, बाजार, गली आदि की सैर करना चाहता है। अथवा यह मन ऐसा मूर्ख है कि यह मनसे ही देवियोको भोग लेता है, मनसे ही पातालमे घूम आता है, मनसे ही सर्व पृथ्वीकी सैर कर लेता है, तथा यह चाहता है कि मनके अनुकूल लक्ष्मी प्राप्त हो तथा जगतमे मेरा ऐसा यश फैले कि मै प्रसिद्ध हो जाऊँ। इस प्रकार की कल्पनाओ को करता रहता है। इन कल्पनाओ के कारण अपनी इच्छाओ को बहुत बढा लेता है। तब उनकी पूर्तिके लिए आकुलता करता है, मनको रात-दिन चिन्तामे ही फस जाना पडता है। जिन पदार्थो को चाहता है और वे प्राप्त नही है, उनके लिए तो मिलानेका उद्यम करते हुए चिंतित रहता है, जो पदार्थ है उनके बने रहने की चिता करता है, जो पदार्थ थे और उनका किसी कारण से वियोग हो गया, उनके फिर मिलने की आशा से चिता करता है।

इसपर निरन्तर अशातिके दाहमे जला करता है और वह सुखशातिका समुद्र जो अपने ही पास है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है उसकी तरफ निगाह उठाकर भी नही देखता है। यदि एक दफे भी उस अनुपम आत्मिक सुख का स्वाद ले ले तो फिर इसकी सारी आकुलता मिटाने का साधन इसको मिल

जावे। आचार्य ने इस मनकी मूर्खता को इसीलिए जताया है कि हमे मनके कहने मे न चलकर सुख शातिका उपाय अवश्य करना चाहिए। इंद्रियो के पोछे पडना आकुलता को बढाने ही वाला है। सुभाषितरत्न सदोहमे श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

सोख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रु दर्पः।
प्राप्नोति पापरहितं विगतांतरायम्॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः॥६४॥

भावार्थ—जो इन्द्रियरूपी शत्रुओ के घमडको जीतनेवाला है वह इस जगतमे जैसा पापरहित व विघ्नरहित, निराकुल व आत्मीक सुख पा लेता है जिसको वह मानव नही पा सकता जो अज्ञानी है व आत्माको नही पहचानता है। वैसे सुख को क्या महान इद्रियोकी इच्छारूपी आगमे जलता हुआ है मन जिसका ऐसा प्राणी कभी पा सकता है? अर्थात् कभी नही पा सकता है, इसलिए शातिके प्राप्त करनेका ही यत्न करना बुद्धिमानी है।

मूल श्लोकानुसार मालिनि छन्द

रे मन तू भोगे देवपत्नी कभी तो।
जावे पातालं देखता भूमितल को।
निर्मल कीर्तिको प्रचुर धन नित्य चाहे।
पर शम सुख सागर में कभी नाव गाहे॥२८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह मन कभी जिनवाणी का सेवन नही करता है—

भोक्तुं भोगिनितंबिनीसुखमधश्चितां पनीपत्स्यसे।
प्राप्तुं राज्यमनन्यलभ्यविभवं क्षोणीं चनोकस्यसे॥

लप्तु मन्मथमंथरा: सुरवधूर्नाकं चनोस्कद्यसे।
रे भ्रान्त्या ह्यमृतोपमं जिनवचस्त्वं नापनोपद्यसे ।।२९।।

अन्वयार्थ—(रे) रे मन (त्वं) न कभी तो (अध॰) पाताल में जाकर (भोगिनितंबिनीसुखं) नागकुमारी देवियो के सुख को (भोक्तु)भोगनेके लिए(चिंता)चिंता (पनीपत्स्यसे) करता रहता है, कभी (अनन्यलभ्यविभवं) दूसरेके पास प्राप्त न हो सके ऐसी विभूति वाले (राज्य) चक्रवर्तीके राज्यको (प्राप्तु)प्राप्त करनेके लिए (क्षोणी) इस पृथ्वी पर (चनीकस्यसे) आनेकी इच्छा किया करता है तथा कभी (मन्मथमथरा) कामसे उन्मत्त ऐसी (सुर-वधू) स्वर्गवासी देवों की देवांगनाओ को (लुप्तु) पाने के लिए (नाक) स्वर्ग मे (चनीस्कद्यसे) जानेको उत्कठा किया करता है (भ्रान्त्या) इस भ्रममें पडकर (हि) असलमे (ह्यमृतोपम)अमृत के समान सुखदाई (जिनवच) जिनवचन को (नापनीपद्यसे) नही प्राप्त करता है अर्थात् जिनवाणी के आनदके लेनेसे दूर-२ भागता है यही खेद है।

भावार्थ—यहां आचार्य फिर मन को उल्हना देते हैं कि तू बडा मूर्ख है जो रातदिन इद्रियोके विषयों मे लम्पटी रहता है और यही चाहता है कि मैं भवनवासी देवो में पैदा होकर नाग-कुमारी स्त्रियों का भोग करू व स्वर्ग मे जाकर स्वर्ग की महा मनोहर स्त्रियोके साथ काम चेष्टा करू व नरलोकमे चक्रवर्तीके समान विभूति पाकर छियानवे हजार स्त्रियोका एकसाथ अपनी विक्रियाके बलसे भोग करू। खूब पाचो इन्द्रियो के विषयो को भोगू इस चिता मे रहता हुआ व चाह की दाह मे जलता हुआ कभी भी सुखी नही होता है। एक तो चाह करने मात्र से इन्द्रियो के सुख मिलते नही। यदि मिल भी जाते हैं तो उनके भोगोसे तृप्ति होती नही और अधिक भोगने की चाह बढ़ जाती

है। तू अज्ञानी हो रहा है, ऐसा समझना है कि इद्रियो के भोग मे ही सुख है। तूने कभी अपना ध्यान जिनेन्द्र भगवान की अमृतमई वाणी के सुनने की तरफ नही दिया। यह भगवान की वाणी हमको सच्चा मार्ग बताती है। यह हमारा यह भ्रम मिटाती है कि ससार के विषयभोगो मे सुख है। यह आत्मा के भीतर भरे हुए सुखसमुद्र का दर्शन कराती है और उसीमे गोता लगाने की व उसी के शात जल को पीने की प्रेरणा करती है। जिन्होने अनेकान्तमयी श्रीजिनवाणी को समझा है। वे सम्यग्-दृष्टी होकर सदा सुखी हो जाते है। भेदज्ञान की वह दवा ज्ञानियो को मिल जाती है जिसके प्रताप मे उनकी आत्मा को उन्नति करने का मार्ग मिलता है। इसलिए कहते है कि—हे मन ! तू बावलापना छोड और एकाग्र होकर जिनवाणी का अभ्यास कर। यह सूर्य के समान पदार्थों को यथार्थ दिखाने वाली है और सर्व दु खोसे छुडाने वाली है। यह ससारके रोग को शमन करके आत्माको स्वाधीन बनाने वाली है। श्रीपद्मनदि मुनि सरस्वती की स्तुति मे कहते है -

विधायमानः प्रथम त्वदाश्रयम् ।
श्रयन्ति तन्मोक्षपद महर्षय ॥
प्रदीपमाश्रित्य ग्रह तमस्तते ।
यदीप्सितु वस्तुलभत मानव. ॥

भावार्थ—महान् मुनिजन पहले तेरा ही आश्रय लेते है फिर मोक्षपद मे जाते है जैसे अधेरे घर मे दीपक के सहारे ही मानव को इच्छित वस्तु मिल सकती है। वास्तवमे परम कल्याणकारी जिनवाणी का अभ्यास ही परमोपकारी है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

रे मन तू चाहे नागिनी सुक्ख भोगूं।
स्वर्गो मे जाकर देवनारी सु भोगूं॥
होकर चक्री मैं राज्य सुख सार होवे।
भ्रम मे भूला जिन वचन अमृत न जोवे॥२९॥

उत्थानिका—फिर भी कहते है कि हे मन! तू ससार वनमे भ्रमण मत कर—

भीमे मन्मथलुब्धके बहुविधव्याध्याधिदीर्घद्रुमे।
रौद्रारंभहृषीकपाशिकगणे भृज्जद्वतैणद्विषि ? ॥
मा त्व चित्तकुरंग ! जन्मगहने जातुभ्रमी ईश्वर।
प्राप्तुं ब्रह्मपद दुरापमपरैर्यद्यस्ति वाछा तव॥३०॥

अन्वयार्थ – (ईश्वरचित्तकुरग)हे समर्थ मनरूप हिरण(यदि) (तव वॉछा) तेरा इच्छा (अपरै) दूसरोसे (दुरापम्) कठिनता से प्राप्त होने योग्य ऐसे (ब्रह्मपद), आत्मीक मोक्ष पदको (प्राप्तु) पाने की हो तो तू (मन्मथलुब्धके) कामदेवरूपी पारधी से वासित (बहुविधव्याधिदीर्घद्रुम) नाना प्रकार रोग व मानसिक कष्टोके बडे-२ वृक्षोसे भरे हुए (रौद्रारभहृषीकपाशिकगणे) तथा भयानक आरभ कराने वाले इद्रियरूपी भीलगणोसे पूरित तथा (ऐर्णाद्विषि) मनरूपी हिरणके शत्रुओसे युक्त भयानक (जन्मगहने) ससाररूपी वनमे (वत) व्यर्थही (त्व) तू (जातु मा भ्रमी) कभी न भ्रमण कर।

भावार्थ—आचार्य फिर भी अपने मनको समझाते है कि—हे मन! तू बडा बावला है, तू विश्रान्ति नही भजता, तू चाहता है कि मुझे शात आत्मानदरूपी जल मिल जावे जिससे तेरी अनादि की तृष्णारूपी प्यास बुझे। परन्तु तू उस ससाररूपी वन का

मोह नहीं छोडता है जहा शात स्वरूपी जलका नाम तक नही है, जहां भयानक इद्रियोकी चाह की दाह सदा सताती है व जहां कामदेवरूपी शिकारी सदा बाण मारके तेरा नाश करता है तथा जहां बड़े-२ वृक्ष तो हैं परतु वे सर्व दु खदाई हैं—रोगरूपी काटों से भरे हुए व मानसिक कष्टरूपी कटीले पत्तोसे छाए हुए हैं, जो इस मनरूपी हिरणके महान शत्रुओसे व्याप्त है। जो बन महा भयानक है जहा तू अपनी प्यास बुझानेको इद्रियरूपी भीलोकी पल्लियोमे जाता है परन्तु वहासे शातरस को न पाकर उल्टा और अधिक प्यासा हो जाता है। इससे यह उचित है कि तू इस संसाररूपी वनका मोह छोड और इस वनके बाहर जो आत्मा-रूपी उपवन आत्मानदरूपी जलसे भरे हुए स्वात्मानुभव रूपी सरोवर सहित है उनकी तरफ जा। तब ही तुझे सुख मिलेगा। वास्तवमे यह मन बडा चचल है। सामायिक की प्राप्ति तब ही हो सकती है जब मन संसारसे उदास होकर आत्मीक सुख का अभिलाषी होवे। श्रीअमितगति आचार्य सुभाषितरत्न संदोह में चित्त को इस तरह समझाते हैं—

त्यजत युवतिसौख्यं क्षांतिसौख्यं श्रयध्वं।
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम्॥
जहत विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं।
अमितगति निवासं येन नित्यं लभध्वं॥१६॥

भावार्थ—तू स्त्रियो के सुखको छोड शातमई सुखका आश्रय ले, ससारके मार्गसे विरक्त हो व मोक्षमार्गमे रमण कर, इद्रियों के विषयो के सग को छोड तथा ज्ञान की सगति कर जिससे अविनाशी मोक्षधाम का निवास प्राप्त हो जावे।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

मन हिरण न भ्रम तू भीम संसार वन है।
जहँ काम शिकारी अधि तरु व्याधि घन है।।
जहँ इन्द्रिय दुष्टं भील पीड़ा करत हैं।
यदि दुर्गम शिवपदकी चाह तेरे बसत है।।३०।।

उत्थानिका—आगे श्री जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि मुझे उत्तम-२ गुणो की प्राप्ति होवे—

हरिणी वृत्ति

व्यसननिहतिर्ज्ञानोद्युक्तिर्गुणोज्ज्वलसंगतिः।
करणविजितिर्जन्मत्रस्तिः कषायनिराकृतिः।।
जिनमतरतिः संगत्यक्तिस्तपश्चरणाध्वनि।
तरितुमनसो जन्मांभोधिं भवंतु जिनेन्द्र ! मे।।३१।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र भगवान ! (जन्माभोधिं) ससार समुद्रको (तरितुमनसः) तिरनेकी मनशा रखने वाले (मे) मेरेको (तपश्चरणध्वनि) तपके साधनके मार्गमे(व्यसननिहृतिः) द्यूत रमण आदि सातो व्यसनो का नाश (ज्ञानाद्युक्तिः) ज्ञान की उन्नति (गुणज्ज्वलसगतिः) निर्मल गुण वालोकी सगति (करण-विजित) इद्रियोकी विजय (जन्मत्रस्तिः)ससारसे भय (कषाय-निराकृतिः) क्रोधादि कषायोका त्याग इतनी बाते (भवतु) प्राप्त होवें।

भावार्थ—यहा पर आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव ससारसमुद्र से पार होना चाहता है उसको उन दोषो को दूर करने की व उन गुणो को प्राप्त करनेकी भावना करनी चाहिए जिनके कारण सुखसे भवसागर पार कर लिया जावे। पहली बात

यह है कि इस मन को छूत रमण, मासाहार, मद्यपान, वेश्यासक्ति परस्त्री रमन शिकार और चोरी व ऐसेही और भी व्यसनो का सामाना न पडे। जिन बरी आदतो मे पडने से हमारा इह लोक और परलोक दोनो बिगडते है वे सब आदतें व्यसनो के भीतर शामिल है। हरएक मानव का जो अपना हित करना चाहता है यह आवश्यक है कि खेतके काड पत्थरकी तरह व्यसनो को दूर फेक देवे। जिनका मन किसी व्यसन मे उलझा होता है उनके मन मे आत्मज्ञान नही बस सकता है और आत्मज्ञान के बिना अपना हित नही हो सकता है। इसलिए दूसरो बात यह चाहता है कि ज्ञान की उन्नति हो। ज्ञान के पीछे चरित्र बढाना चाहिए। इसलिए तीसरी बात यह चाही गई है कि पवित्र गुणधारी व्यक्तियो की सगति रहे क्योकि सच्चारित्रवान पुरुषो के आचरण का बडा भारी असर बुद्धिपर पडता है। फिर चारित्र जो वीतराग भाव है उसके कारण जो मुख्य उपाय हैं उनकी भावना की जाती है इसलिए चौथी बात यह है कि इन्द्रियो का विजय हो। वास्तव मे जितेन्द्रिय मानव हो सतोष व शाँतभावको पा सकता है। बिना इद्रियो को अपने अधीन किये न श्रावक न मुनि कोई भी अपने अपने योग्य आचरण को नही पाल सकते है। पॉचवी बात यह चाही गई है कि ससार से भय हो—क्योकि जिसको यह भय होगा कि मेरा आत्मा इस जन्म मरण रूपी भयभीत ससारवन मे न भटके वही मोक्ष होनेका चारित्र पालेगा। छठीबात यह है कि कषायोको दूर किया जावे। क्योकि क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो क अधीन हो प्राणी आकुलता के फदे मे फस जाता है तथा जितना-२ कषायो का दमन होता है उतना वीतराग भाव प्रगट होता रहता है। कषायोके विजय से ही जिनमत जो वीतराग विज्ञानमय है व स्वानुभवरूप है उसमें प्रीति होती है।

इसलिए सातमी बात यह चाही गई है। मुक्तिका उपाय मुनि का चारित्र है इसलिए आठमी बात चाही गई है कि परिग्रहका त्याग करू। मुनि होकर १२ प्रकार तप करना चाहिए। क्योकि तप के विना कर्मो की निर्जरा नहीहो सकती है। इसमे भी मुख्य तप ध्यान है, ध्यान ही से केवल ज्ञान होता है, ध्यान ही से निर्वाण होता है, ध्यानही का वेग ध्यानी को ससारसमुद्रसे पार करके शिवद्वीप मे पहुचा देता है। इसलिए तप करने के साधन रूप आठ बातो की भावना भाई गई है। वास्तवमे जो तपस्वी इन आठ गुणोसे अलकृत होता है वही सिद्ध होकर सम्यक्त आदि आठ गुणो से विभूषित हो जाता है। ध्यान ही से मुक्ति की सिद्धि होती है। उस ध्यान के लिए श्रीशुभ चन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें कहते है—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥

भावार्थ—जब काम भोगो से विरक्त होकर शरीर मे भी अभिलाषाको छोडा जाता है तब ममता रहितपना प्राप्त होता है तब ही ध्यानी हो सकता है अन्यथा नही।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

व्यसन रहे दूर ज्ञान उन्नति सुसंगति।
करण विजय भव भय क्रोध मानादि निकृति॥
जिनमत रुचि संग त्याग श्री जिनज होवे।
भवसागर तरना हेतु तप मोहि होवे ॥३१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ससार-वन मे वास करना दु:खदायक है—

चित्रव्याघातवृक्षे विषयसुखतृणास्वादनासक्तचित्ताः ।
निस्त्रिंशैरारमन्तो जनहरिणगणाः सर्वतः संचरद्भिः ॥
खाद्यंते यत्र सद्यो भवमरणजराश्वापदैर्भीमरूपैः ।
तत्रावस्थां क्व कुर्मो भवगहनवने दुःखदावाग्नितप्ते ॥३२॥

अन्वयार्थ—(चित्रव्याघातवृक्षे) नानाप्रकारकी आपत्तिरूपी वृक्षोसे भरे हुए (दु खदावाग्नितप्ते) दु खरूपी दावानलसे तप्तायमान (भवगहनवने) इस ससार रूपी भयानक जगल मे (आरमन्तः) घूमने वाले (विषयसुखतृष्णास्वादनासक्तचित्ता·) विषयोके सुखरूपी तृष्णाके स्वाद मे चित्त को लगानेवाले(जनहरिणगणाः) प्राणरूपी हिरणो के समूह (यत्र) जहा (सर्वत) सर्व तरफ (निस्त्रिंशै·)निर्दयी (सचरद्भिः) घूमनेवाले (भीमरूपैः भवमरणजराश्वापदैः) भयानक जन्म जरा मरणरूपी हिंसक जीवो के द्वारा (सद्य) निरतर (स्वाद्यते) भक्षण किए जाते हैं (तत्र) वहाँ (क्व अवस्थां कुर्म) हम किस जगह रहे।

भावार्थ—जैसे कोई ऐसा सघन जगल हो जहाँ बडे टेढे-२ वृक्षो के समूहहो व दावाग्नि लगी हुई हो और चारो तरफ सिह व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी घूमते हो और जहा तिनके को चरने वाले हिरण निरतर हिंसक प्राणियो के द्वारा खाये जाते हो ऐसे वन मे कोई रहना चाहे तो कैसे रह सकता है ? जो रहे वही आपत्तियोमे फँसे, इसी तरह यह ससार भयानक है जहा करोड़ो आपत्तियाँ भरी हुई है तथा जहाँ निरंतर दुखोकी आग जला करती हैं व जहाँ प्राणी नित्य जन्मते है, बूढे होते हैं तथा मर जाते हैं, ये प्राणी इद्रिन्योके विषयो के सुख मे मग्न हो जाते हैं,

बेखबर रहते हैं वश शीघ्र ही कालके गालमें चबाए जाते हैं, ऐसे संसार वनमें सुखशांति कैसे मिल सकती है ? बुद्धिमान प्राणीको तो इससे निकलना ही ठीक है।

सुभाषित रत्नसदोह मे श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत-
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदुःखतरुमत्संसारकान्तारगम् ।
कः शक्नोति शरीरिणम् त्रिभुवने पातुं नितान्तातुरं
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७

भावार्थ—जो प्राणी तीव्र रोगोके अपार दुःखो मे भरे हुए संसार वन मे हो व बुढापा रूपी शिकारी से भयभीत रहता हो व भयभीत रूपी बाघ के भयकर मुख मे प्राप्त हो उस महान् आकुलता मे फसे हुए प्राणीको तीन भुवनमे जन्मजरा मरणको नाश करने वाले जिनधर्म के सिवाय और कोई बचाने को समर्थ नहीं है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

भव वन भयकारी दुःख अग्नि प्रचारी।
विपति तरु भराई तृण विषय स्वादकारी।
जन मृग बहु घूमे जन्म अरु मृत्यु दुःख में॥
हिंसक पशु खावें हो कथं शांति सुख में॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि बुद्धिमानो को ससार मे लिप्त न होकर आत्मकार्य कर लेना चाहिए।

भुजंगप्रयात छद

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा।
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः॥

यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता।
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(यमालिंगितु)यमराज जो काल उससे आलिगन किए हुए प्राणीको (न वैद्या·)न वैद्य(न पुत्रा)न पुत्र(न विप्रा·) न ब्राह्मण (न शक्राः) न इन्द्र (न कान्ता) न स्त्री (न माता) न माता (न भृत्या) न नौकर (न भूपा) न राजागण (रक्षितु) बचाने के लिए (शक्ता. सति) समर्थ है (इति)ऐसा (विचिंत्य) विचार कर (आर्यै) सज्जन पुरुषो को (निजं कार्यं) अपना आत्मकल्याण (कार्य) करना योग्य है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य यह सकेत करते हैं कि यह मानव जन्म बहुत अल्पकाल रहने वाला है। निरतर यहा मरण का भय है, यह नियम नही कि कब मरना होगा, और जब यकायक मरण आ जायेगा तब कोई वैद्य हकीम किसी दवा से बचा नही सकता, न तब अपने कुटुम्बी जन स्त्री, पुत्र, माता, बहन आदि रोक सकते है, न नौकर-चाकर, सिपाही व राजा आदि मरण को भगा सकते हैं। और तो क्या, बडे-२ इन्द्रादि देव भी मरण से न आपको बचा सकते है, न दूसरो को बचा सकते है न किसी और पूज्यनीय देव मे शक्ति है कि किसीको मरणसे रोक सके। जब ऐसा नाजुक मामला है तब साधु व सज्जन पुरुषोको अपना जीवन बहुत अमूल्य समझकर इसका सदुपयोग करना चाहिए। आत्मोन्नति करना ही इस नरजन्म का कर्तव्य है। इसलिए इस कार्य मे ढील न करनी चाहिए। ढील करने से ही पीछे पछताना पडेगा जो बुद्धिमान इस नरजन्म को ससार के मोह मे फसकर खो देते हैं उनको पीछे बहुत पछताना पडता है। नरजन्म की सफलता करना ही बुद्धिमानी है। सुभाषित रत्नसदोह मे श्री अमितगति महाराज कहते है—

तीव्रत्रासप्रदायि प्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते।
दुःखोर्वीजप्रपंचे भवगहनवनेऽनेकयोऽन्यद्विरौद्रे ॥
भ्राम्यन्नप्रापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणोदुष्कृतस्य।
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ।४२४

भावार्थ—यह ससार वन महा भयानक है जहाँ तीव्र दु खो को देनेवाले जन्म जरा मरणरूपी हिसक जावो के समूह विचर रहे हैं, व जहा दु खो के कारणोका ही जाल है, ऐसे वन मे घूमते हुए पाप कर्मोके कम होने से बहुत ही कठिनता से नरजन्म पाया है ऐसी स्थिति मे हे आत्मन ! यदि तू स्थिर बुद्धि करके धर्मका साधन न करेगा तो तू वास्तव मे यहाँ ठगा गया है, ऐसा माना जाएगा।

मूल श्लोकानुसार भुजगप्रयात छन्द

जवे मर्ण आवे न कोई बचावे।
न माता न कांता सुत इन्द्र आवे ॥
न वैद्या न विप्रा न राजा न चाकर।
यही जान बुधजन निजातम करमकर ॥२३

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीर को क्षणभगुर जानकर मोह का त्याग करना चाहिए।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमान·।
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ॥
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र।
प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससार मे (विचित्रै) नाना प्रकार के

(उपायैं) उपायो से (सदा) नित्य (पाल्यमान.) पालन किया हुआ (स्वकोय:) अपना ही (देह:) शरीर (समं) साथ (न याति) नही जाता है (तत्र) वहा (कथ) किस तरह (बाह्यभूतानि) बाहर ही बाहर रहने वाली (वित्तानि) धन आदि सम्पत्तिया साथ जा सकती हैं (इति) ऐसा (प्रबुध्य) समझकर (कुत्रापि) किसी भी पदार्थ मे व कही भी (मोह:) मोहभाव (न कृत्य.) न करना चाहिए।

भावार्थ—यहा आचार्य फिर भी समझते हैं कि हे भव्य जीव ! तू क्यो परपदार्थ के मोह मे पागल हो रहा है। स्त्री, पुत्र मित्र, माता-पिता राजा, प्रजा, नौकर, चाकर ये चेतन पदार्थ तथा घर, वस्त्र, वासन आदि अचेतन पदार्थ ये सब मात्र इस शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। जब शरीर ही इस जीव से भिन्न है तब ये पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं। जगतके सर्वही पदार्थोंकी सत्ता मेरी आत्मा की सत्ता से भिन्न है। यह भेद विज्ञान एक ज्ञानीके हृदय मे रहना योग्य है। हरएक द्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है तथा पर पदार्थों के द्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। आत्मा में आत्मा का द्रव्य जो अनंत गुणोका समुदायरूप अखंड पिंड है सो तो उसका अपना द्रव्य है। जितने असख्यात प्रदेशो के लिए हुए यह आत्मा है वह आत्मा का क्षेत्र है, इस आत्मा की जो अवस्थाविशेष या पर्याये हैं सो उसका काल है, आत्मा के जो शुद्ध गुण हैं वह इसका भाव है। जबकि आत्मा के सिवाय अन्य सब आत्माओ के व अन्य पदार्थो के कोई द्रव्यक्षेत्र काल भाव इस आत्मा मे नहीं है। इसलिए उन सबका इस आत्मा मे नास्तित्व या अभाव है। इस तरह स्याद्वाद नय के द्वारा जो अपने आत्मा मे एक ही समय मे अस्तित्व नास्तित्व को व भावाभाव को समझ लेता है वही मात्र एक अपने स्वभाव को अपना मानता है और सब

को अपने से भिन्न पर जानता है। जब कोई पर वस्तु अपनें आत्मा की नही है तव परवस्तु से मोह करना वास्तव मे नादानी है। सुभाषित रत्नसदोह मे यही आचार्य कहते हैं—

न संसारे किंचित् स्थिरमिह निजं वास्ति सकले।
विमुच्याच्यँ रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकम्।
अहो मोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवत-
स्ततो मोक्षोपायाब्दिमुखमनसां सौख्यकुशलम् ॥३४०॥

भावार्थ—इस सम्पूर्ण ससार मे न कोई वस्तु स्थिर है न अपनी है सिवाय पूज्यनीय निर्मल शक्ति के उत्पन्न करने वाले रत्नत्रय धर्म के। बड़े खेद की बात है कि मोह से दु खी जीवो की विरक्ति तब भी ससार से नही होती है तब फिर जो मोक्ष के उपाय से विरुद्ध मन वाले हैं उनको सच्चा सुख नही मिल सकता।

मूलश्लोकानुसार भुजग प्रयात छन्द

यतन बहु कराए सदा पालने को।
सुनिज देह भी साथ नहिं चालनेको।
धनादिक बहिर्वस्तु किम साथ होवे।
सुधी जानकर कौन से मोह बोवे ॥३४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी को दृष्ट व अनिष्ट पदार्थों मे समताभाव रखना चाहिए।

मदाक्रान्ता वृत्त

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने काँचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे।
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढः।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्थाः ॥३५॥

अन्वयार्थ—(य)जो कोई (शिष्टे दुष्टे)सज्जन मे या दुर्जन में (सदसि विपिने) सभामे या वन मे(कांचने लोष्ठवर्गे)सुवर्णमें या ककड-पत्थर मे (सौख्ये दु खे) सुख मे व दु ख मे(शुनि नर-वरे) कुत्ते मे व श्रेष्ठ मनुष्य मे (सगमे वियोगे) इष्ट के सयोगमें या वियोग मे(सदृश) समानभाव रखता हुआ (शश्वत्)सदाही (धीर) धीर तथा (द्वेषरागव्यपो) राग-द्वेष रहित वीतरागी (भवति)रहता है (तस्य)उस (प्रथितमहसः) प्रसिद्ध तेजस्वी के पास (सिद्धिः) मुक्ति (प्रौढा स्त्री इव) युवती स्त्री के समान (करस्था) हाथ मे ही आ जाती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते हैं कि जैसे वीरधीर तेजस्वी पुरुष को युवती स्त्री शीघ्र वर लेती है व उसके निकट आजाती उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्री उस महान तेजस्वी पुरुष को शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है जो समताभाव के अभ्यास करने वाले हैं, जिन्होने ऐसा वैराग्य अपने भीतर बढा लिया है कि यदि कोई सज्जन मिले तो उनसे राग नही करते दुजन कष्ट देवे तो उनसे द्वेष नही करते। यदि कभी मानवो की सभा मे जाने का काम पड गया तो उससे प्रसन्न नही होते और यदि जगल मे अकेले रहना हुआ तो कुछ खेद नही मानते है। जिनके आगे कोई रत्न सुवर्णों के ढेर कर दे तो उससे लोभ नही करते और यदि ककड पत्थर रख दे तो उससे द्वेष नही करते। यदि साताकारी पदार्थो का सम्बन्ध मिले तो हम सुखी हुए ऐसी कल्पना नही करते और यदि असाताकारी सम्बन्ध प्राप्त हो तो हम दुःखी हुए ऐसी मान्यता नही करते, यदि सामने कुत्ता आकर बैठ जावे तो उससे घृणा नही करते और यदि कोई चक्रवर्ती राजा आ जावे तो उससे मोह नही करते। उनको यदि सुहावने शिष्यवर्गादि का सम्बन्ध हो तो राग नही करते और यदि असुहावने चेतन-अचे-

तन पदार्थों का सम्बन्ध हो तो द्वेष नही करते। ऐसे साधु महात्मा जो जगत को एकमात्र कर्मों का नाटक समझते है, जिनकी दृष्टि निश्चयनय रूप रहती है, जो जगतके नानाप्रकार जीवके भेषोमे व अवस्थाविशेषो मे भी शुद्ध द्रव्य को उसके अपने असली स्वरूपमे देखते हैं, उनके सामने कोई छोटा या बडा जीव है ही नही। सब ही जीव शुद्ध सिद्ध समान दिख रहे है। वहां राग और द्वेष किसके साथ हो। जितने अजीव पदार्थ हैं वे अलग दिखते हैं उनसे कोई रागद्वेष का सम्बन्ध नही। इस तरह शुद्ध निश्चयनय के आलम्बन से जो साधु व ज्ञानी महात्मा निरन्तर विचारते रहते हैं उनका ससाररूपी स्त्रीसे राग घटता जाता है और मुक्तिरूपी परम मनोहर अनुपम स्त्री से राग बढता जाता है वह मुक्तिरूपी स्त्री जब जान लेती है कि मेरा उपासक बडा धीर वीर है, उपसर्गोके पडने पर भी आत्मध्यानसे व मेरी आशक्ति से हटता नही है तब ही वह स्वय आकर इसको अपना लेती है और यह पुरुषार्थी साहसी वीर सदा के लिए मुक्ति धाम मे जाकर आनदामृत का भोग किया करता है।

श्री पद्मनद मुनि सद्बोध चद्रोदय मे कहते है—

कर्मभिन्नमनिशंस्वतोखिलम् पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना।२०।

भावार्थ—जो निश्चयनयके जाननेवाले योगी हैं वे निर्मल ज्ञानदृष्टि से अपने आत्मा से सर्व कर्मों को भिन्न देखते हैं तब उनके भीतर कर्मोंके निमित्त से जो सुख दु ख होता भी है उसमें यह भाव नही करते कि मैं सुखी हुआ या मैं दुःखी हुआ। वे निरन्तर समताभाव का अभ्यास करते हैं—

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

रखते समभावं सज्जनों दुर्जनों में ।
कंचन कंकड़ में, राजग्रह वा वनोंमें ।
सुख दुख पशु नरमें, संगमें वा विरहमें ।
युवति सम स्वसिद्धी होत वश वीरनरमें ॥३५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी साधु ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यतरसंगमाशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मन ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमभ्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधि बुधाः ।३६

अन्वयार्थ—(ये) जो (अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया) इन्द्रिय विषय और कषाय वैरियो के जीतने का अभ्यास करने वाले हैं, (विध्वस्तलोकक्रिया.) जिन्होने लौकिक क्रियाकाड आरभादिक सब त्याग दिया है (बाह्याभ्यन्तरसगमाशविमुखा:) जो बाहरी और भीतरी परिग्रहके अश मात्र से भी वैरागी हैं और जो (मनः आत्मवश्य कृत्वा) मनको अपने आधीन करके (भवभोगदेहविषयं संसार, भोग व शरीर सम्बन्धी (श्रेष्ठ) उत्तम (वैराग्य) वैराग्यको (अभ्यासते) प्राप्त हुए है (ते बुधा:) वे ज्ञानी साधु (समाधि) समाधि या आत्मीक तन्मयता को (बुद्धवा) अनुभव करके (विक-

लिलाः) सर्वं कर्म रहित होकर (शिवालय) मोक्षधाम को (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने बता दिया है कि मोक्षका उपाय अभेदरत्नत्रय समाधि या स्वात्मानुभव है या शुक्लध्यान है। जबतक शुक्लध्यानकी अग्नि नही जलती है तबतक न मोहका नाश होता है और न घातिया कर्मोंका नाश होता है और न यह अघातिया कर्मोंसे छूटकर सिद्धपद पा सकता है। उस शुक्लध्यान की सिद्धि उसी महात्माको हो सकती है जो शरीरके खड-२ किये जाने पर भी ममता न लावे व वेदना से त्रसित न हो। जिसकी ममता बिलकुल शरीरसे हट गई हो जो सर्दी गर्मी डास मच्छरकी बाधाए सह सके। इसलिए ये साधुको वह सबकुछ वस्त्र त्याग देना पडता है जो उसने स्वाभाविक शरीरकी अवस्थाको ढकनेके लिए धारण कर रक्खे थे। यहा पर आचार्यने मुक्तिके योग्य जो पात्र हो सकते है उन साधुओका वर्णन किया है। पहली जरूरी बाततो यह बताई है कि उन्होने इद्रियोकी इच्छाओको जीतनेका व क्रोधादि कषायोके दमनका भलेप्रकार अभ्यास कर लिया हो, क्योकि ये इद्रियही प्राणीको कुमार्गमे डाल देती है व कर्मोंका बंधकषायों से ही होता है। जिस सम्यग्दृष्टिीने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावका निश्चय कर लिया है वही आत्मीक सुखके मुकाबलेमे इन्द्रिय सुखको तुच्छ जानता है, इसलिए वही इद्रियोका जीतने वाला हो सकता है जिसने अपने आत्मा का स्वभाव वीतराग है ऐसा समझ लिया है, वही कषायोके जीतनेका पुरुषार्थ करेगा। दूसरी बात साधूमे यह जरूरी है कि उसने सब लोकव्यवहार छोड दिए हो, अनेक प्रकार व्यापारके आरम्भ करके पैसा कमाना मकान मठ बनवाना, खेती कराना, शरीर रक्षार्थ सामान जोड़ना,

रसोई बनाना-बनवाना, ब्याह शादीके व जीवनमरणके विकल्पों में पडना ग्रहस्थोके रोग, शोक आदि कष्ट मिटानेको यत्र मत्रादि करना आदि कार्यों को आत्मोन्नति में विघ्न कारक व मनको आकुलित रखने के कारण छोड दिये हो। तथा आरभ के कारणभूत जो दश प्रकारके बाहरी परिग्रह है उनका भी जिसने त्याग किया हो। अर्थात जिसके स्वामित्वमे न खेत हो, न मकान हो, न चाँदी हो न सोना हो, न गोवश हो न अन्नादि हो, न दासी हो न दास हो, न कपडे हो न बर्तन हो तथा जिसने मोह जनित सर्व परिणतियो से भी ममता छोड दी हो अर्थात १४ प्रकार का अतरग परिग्रह भी न रखता हो। अर्थात जिसने मिथ्यात्व, क्रोध मानमाया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोकभय जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुवेद, नपुसकवेद इन १४ बातो से ममता हटा ली हो। तथा जिसने अपना मन अपने अधीन किया हो, जिसका मन चचल न हो ऐसा वश मे हो कि जब साधु चाहे तब उसे ध्यान व स्वाध्याय मे ''गाया जा सके तथा मन मे यह वैराग्य हो कि ससा' असार है मोक्ष ही सार है। इद्रियो के भोग क्षण भगुर व अतृप्तिकारक है व आत्मा सुख ही सच्चा भोग है, शरीर नाशवत व मलीन है, आत्मा अविनाशी व पवित्र है। ऐसे ही साधु जब स्वात्मानुभव का अभ्यास करते २ शुक्ल ध्यान पर पहुचते है तब कर्मों का सहार कर मुक्त हो जाते है। श्री पद्मनदि मुनि यत्याचार धर्म मे कहते हैं--

आचारो दशधर्मसंयमतपो मूलोत्तराख्या गुणाः।
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः ॥
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं।
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानंदाय धर्मो यतेः ॥३८॥

भावार्थ—अविनाशी मोक्षपदकी प्राप्तिके लिए यतिका धर्म यह है कि वह चारित्रवाले, दशलाक्षणी धर्मके अभ्याससे सयमी रहे, तपस्वी हो २८ मूलगुण व उत्तम गुणपाले, मिथ्यात्व मोह व मदको त्यागे, समभाव रक्खे इद्रिय दमन करे, ध्यान करे, प्रमादी न हो, वैराग्य धारण करे, सिद्धान्तशास्त्र का ज्ञान व दाता रहे, निर्मल रत्नत्रय पाले, अन्तमे समाधि भावसे मरण करे। वास्तव मे सच्चे ध्यानी साधु ही मोक्षके पात्र होते हैं—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिसने अक्षकषाय शत्रु जीते, व्यवहार लौकिक तजा।
बाह्याभ्यंतरसंग सर्व छोड़ा, मनको स्ववशमें भजा॥
भवतन भोग विराग श्रेष्ठ धरके निजध्यान उत्तम किया।
ते सज्जन सब कर्ममैल हरके शिवधाम वासा लिया॥३६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान ही लाभकारी है—

संघतस्य न साधनं न गरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठै कुतः संस्तरः॥
कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा॥३७॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस आत्मध्यान या आत्मशुद्धि का (साधन) उपाय (न सघ)न तो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका का सघ है (न गुरवः) न गुरु आचार्य हैं (नो परा लोकपूजा) न लोको से बडी पूजा पाना है (नो योग्यैः तृणकाष्ठ शैलधरणीपृष्ठैः

कृत: संस्तर:) न योग्य तृण काठ पाषाण व भूमितलका बनाया हुआ सथरा है किन्तु (तस्य) उस आत्मध्यान का (कर्ता) करने वाला (अयम्) यह (अमल:) निर्मल व (आत्मतत्वस्थिर:) आत्मतत्वमे स्थिर (आत्मा एव)आत्मा ही है। जो (जलदुग्धयो: इव) जल और दूधके समान (देहात्मनो भिदा) शरीर और आत्मा के भेदको (सर्वदा) सदा (जानान:) जानने वाला है (विबुध्यत) ऐसा समझो।

भावार्थ—यहा आचार्य बतलाते है कि भेद विज्ञानसे ही आत्मध्यान की सिद्धि होती है। जो आत्मा ऐसा भले प्रकार समझ गया है कि जैसे दूध और पानीका सम्बध है ऐसेही आत्मा और कार्मण तैजस व औदारिकादि शरीरोका सम्बन्ध है, जैसेदूध से पानी अलग है वैसे आत्मासे पुद्गलमयी शरीरादि अलग है। जो परको पर जानकर पर से ममत्व छोड देता है और निर्मल आत्माके शुद्ध चैतन्यमई सिद्ध भगवानके समान जानकर उसी आत्मीक तत्वमे अपने उपयोगको स्थिर कर देता है वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्माकी सिद्धिकर सकता है। जिस किसीके ऐसा आत्मध्यान तो हो नही और वह मुनियोके सघमे घूमा करे या आचार्यों की पाद पूजा व भक्ति किया करे व संसारी जीवोंमे अपनी विद्याका चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठाको पाया करे व कभी तिनके का कभी काष्ठ का कभी पाषाणका व कभी भूमितल का ही आसन विछाकर निश्चल बैठा करे तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यानके साधक नही हैं। इसलिए जो स्वहित करना चाहते हैं उनको उचित है कि इन सब कारणोको मात्र बाहरी निमित्त कारण जाने, इनके सहारेसे जो सामायिकका अभ्यास करते हुए आत्मध्यानमे लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भावको

पाते हैं व उनका ही साधन मोक्षका साधन है। बिना शुद्ध निश्चयनयका आलम्बन पाए परसे विराग नही होता है परसे विराग बिना स्वात्मारामसें विश्राम नही होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तीक है तथापि उसको निर्मल जलके समान अपने शरीररूपी घट में देखना चाहिए और जैसे गगा नदी मे गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्माके जल सदृश निर्मल स्वभाव में अपने मनको डुबाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मंत्र का आश्रय लेकर बारबार मनको आत्मारूपी नदी मे डुबाने से मन का चचलपना मिटता है और वीतरागताका भाव बढता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसी पर चढके भव्य जीव ससार पार हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी को आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते है—

विरज्यकामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥२३॥
भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम् ॥१२॥

भावार्थ—कामभोगोसे वैराग्य प्राप्त करके व शरीरकी भी वाछाको छोड़कर यदि तू ममता रहित हो जायगा तब ही तू ध्यान करने वाला होगा अन्य प्रकारसे नही। इसलिए संसारके क्लेशोको नाश करनेके लिए आत्मज्ञानरूपी अमृतके रसका पान कर तथा ध्यारूपी जहाज पर चढ़कर ससारसमुद्रसे पार हो जा।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

नहिं होवे मुनिसंग साधन कभी नहि लोक पूजा कधी।
नहि गुरु भक्ति न संस्तरं तृणमयी नहिं काठधरणी कधी ॥१

जिन जाना निज आत्मतत्वनिर्मल निजमे भये तत्पर ।
जैसे दूध अलग अलग जल सदा तिम देह आतमपर ।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मज्ञानी ही मोक्ष जा सकते है—

विगलितविषयः स्व प्रस्थित बुध्यते यः ।
पथिकमिव शरीरे नित्यमात्मानमात्मा ।।
विषमभवपयोधि लीलया लघयित्वा ।
पशुपदमिव सद्यो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम् ।।३८।।

अन्वयार्थ—(य) जो (विगलितविषय) इद्रियोके विषयोकी इच्छाओका दमन करनेवाला (आत्मा) आत्मा (शरीरे) शरीरमे (पथिक इव) यात्रीके समान (प्रस्थित) प्रस्थान करते हुए (स्व आत्मान)अपने आत्माको (नित्यम्) अविनाशी(बुध्यते)समझता है (असौ) वही (विषमभवपयोधि) इस भयानक ससाररूपी समुद्रको (पशुपद इव) गायके खुरके समान (लीलया) लीला मात्रमे (लघयित्वा) पार करके (सद्य)शीघ्रही (मोक्षलक्ष्मीम्) मोक्षरूपी लक्ष्मीको (याति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यहाँ पर भी आचार्यने आत्मज्ञानी को ही मोक्षका अधिकारी बताया है। पहले तो पदार्थोंमे किंचित् भी राग नही रखता है, वही आत्मा आत्मध्यानके प्रतापसे बढा चला जाता है उसके लिए यह ससार समुद्र जो महा भयानक व विशाल है वह गायके खुरके समान हो जाता है वह उसको बहुत शीघ्र पार कर लेता है और मुक्तिद्वीपमे जाकर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनद मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं—

तत्परः परमयोगसपदाम् पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः।

नापरेण चलितः पथेप्सितः स्थानलाभविभवो विभाव्यते।१०

भावार्थ—जो आत्मध्यान मे लीन हैं वही उत्तम योग की सपदा का पात्र होता है। जो आत्मध्यान से बाहर हैं वह योगी नही ले सकता है। जो कोई आत्मध्यान के सिवाय अन्य मार्गसे चलता है वह अपने इच्छित मोक्ष स्थान के लाभ को नही प्राप्त कर सकता है। अतएव आत्मध्यान ही को उत्तम कार्य मानना व इसीका अभ्यास करना हितकर है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो विषय विकार त्याग निज आत्म जाने।
पथिक सम विहारी देह मे नित्य माने॥
विषम भव समुद्र तुर्त ही पार करता।
पशुपद वत् क्षण में मुक्तितिय आप वरता॥३८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ससारिक सुखसे विमुख होता है वही आत्मसुख को पाता है :—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्य श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥३९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (दुरन्त) दुःखदाई (बाह्यं) बाहरी (विषयजनितं) इन्द्रिय जनित (सौख्य) सुखको (मुचते) त्याग देता है (असौ) वही (स्वस्थ) अपने आत्मामें स्थित (स्थेयं) अविनाशी व (निरुपमम्) उपमारहित व (पूतम्) पवित्र (सौख्यम्) सुखको (आप्नोति) पा लेता है (यः) जो कोई (अन्यः जन्य श्रुति -

विरतये)दूसरोसे कहे हुए शब्दोको सुननेसे विरक्त होनेके लिए (कर्णयुग्मं)अपने दोनो कान(विधत्ते) ढक लेता है (तस्य) उसके (कर्णमध्येऽपि)कानोके मध्य ही(छन्न·) गुप्त(घोष) शब्दो का उच्चारण (नियत·)सदा(भवति) होता रहता है।

भावार्थ--यहाँ आचार्य कहते हैं कि विषयसुखका व आत्मसुखका विरोध है, जिसको इन्द्रियोंके विषयोके भोगोकी लालसा है उसका लक्ष्य वही रहेगा, उसको कभी भी आत्मसुखका लाभ नही हो सकता है तथा जिसको आत्मसुखका स्वाद आ जाता है वही विषयोके स्वादको विषके समान जानता है। जिसकी वृत्ति विषयसुखमे विरक्तहो जाती है वही आत्मीक सुखको पालेता है, विषयो का सुख सुखसा दिखता है यह अत मे दुःखोका कारण है तथा बाहरी पदार्थों के आधीन हैं। जब कि आत्मसुख स्वाधीन है और उपमा रहित है जिसकी मिसाल नहीं दी जा सकती है। इसपर आचार्य दृष्टान्त देते है कि जो जगतके लोगोके शब्दोको सुनता रहेगा वह अतरगके छिपे हुए घोषको नही सुन सकता है परन्तु जो अपने दोनो कानोको ढक लेवे ताकि बाहरी शब्द न सुनाई पडे उसको अपने कानके भीतर छिपा हुआ शब्द सदा ही सुन पडता है। कहनेका प्रयोजन यह है कि जो बाहर से विरक्त होता है वही भीतरकी सपदाको पाता है इसलिए हमे ससारिक सुखसे विराग भजकर निजात्मिक सुखमे रुचि बढाकर उसी के लिए आत्मा मे ध्यान लगाना चाहिए और सामायिक के द्वारा समताभाव को बढ़ाना चाहिए। जिस किसीने अमृत फल का स्वाद नही पाया है उसी को तुच्छ मीठे फल स्वादिष्ट मालूम

पड़ते हैं, अमृत फल खानेवाले को वे फल स्वादिष्ट नही भासते हैं। आत्मीक सुखका स्वाद ही परम विलक्षण है। इंद्रिय सुखका लाभ प्राणीको महान अज्ञानी बना देता है। अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

लोकार्चितोऽपि कुलजोपि बहुश्रुतोपि,
धर्मस्थितोपि विरतोपि शमान्वितोपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्य-
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निद्यम् ॥१००॥

भावार्थ—कोई मानव लोगोसे पूज्यनीय हो, अत्यन्त कुलीन हो, बहुत शास्त्रका पारगामी हो, धर्ममे चलने वाला हो, विरक्त हो व शांतभाव सहितभी हो। यदि उसके इन्द्रियविषयरूपी सर्प का विष चढ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा बावला हो जाता है कि वह कौनसा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नहीं कर डालता है। वास्तवमें इन्द्रिय सुखमें आशक्ति मानवको धर्मभाव से गिराने वाली है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

विषय सुख विकारं दुःखमय छोड़ता जो।
निरुपम थिरपावन आत्मसुख वेदता सो॥
जो दोनों कर्ण मूंदता पर न सुनता।
से निज कर्णोंमें, घोष प्रच्छन्न सुनता ॥३९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पर संपत्तिको अपना मानना अज्ञान है—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

संयोगेन विचित्रदुःखकरणे दक्षेण संपादिता-
मात्मीयां सकलत्रपुत्रसुहृदं यो मन्यते सपदम् ।
नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां मन्ये ऋणोपार्जिता ।
लक्ष्मीमेष निराकृतामितगतिर्ज्ञात्वा निजां तुष्यति ।४०।

अन्वयार्थ—(यः)जो कोई (विचित्रदुखकरणे दक्षेण) नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न करने में प्रवीण ऐसे (सयोगेन) शरीर व कर्म के सयोग से (सपदादिताम्) प्राप्त हुई (सकलत्रपुत्रसहृद) स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सहित (सपदम) सम्पत्तिको (जात्मीयां) अपनी ही (मन्यते) मानने लगता है (मन्ये) मैं समझता हू कि (एषः) यह (निराकृतामितगतिः) विशेष ज्ञान रहित या मिथ्या ज्ञानी (नानापायसमृद्धिवर्द्धनपरां) प्राणी तरह-तरह की आपत्तियों को बढाने वाली (ऋणोपार्जिता) कर्ज से प्राप्त होने वाली (लक्ष्मीम्) लक्ष्मीको (निजाँ) अपनी लक्ष्मी (ज्ञात्वा) जानकर (तुष्यति) सुखी हो रहा है ।

भावार्थ--यहाँ आचार्य ने बताया है वह मानव महा मूर्ख है जो कर्म सयोग से प्राप्त पदार्थों को अपना मान लेता है। इस जीवके साथ कर्मोंका सयोग नाना प्रकार दुखोको उत्पन्न कराने वाला है, कर्मों के उदय से ही रोग, शोक, वियोग होता है। कर्मोंके उदयसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ का विकार होता है। कर्मोंके निमित्त से शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर मे इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियोसे इच्छापूर्वक विषय ग्रहण करता है। विषयों को पाकर राग करता है उनके चले जाने पर शोक करता है । पुण्यके उदयसे जब इसको मनोज्ञ स्त्री, सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते है तब उनमे राग करता है, जब यह नही रहते

व उनपर कोई आपत्ति आती है तो इसे बड़ा खेद होता है। सांसारिक पदार्थोंका सम्बन्ध व रक्षण आदिकी विधि करते हुए महान संकटों को सहना पडता है। जो कोई मूर्ख कर्मोंके उदयसे प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदा को अपनी मानता है वह मानो कर्ज लाकर पर की लक्ष्मीको अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर ब्याज सहित धन चुकाता नहीं है वह अन्त मे राजदण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्ज के धन मे कभी ममता नही करते हैं। वह उसको परका ही मानते हैं व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं इसी तरह कर्मोंके उदयसे प्राप्त पदार्थोंको ज्ञानी जीव अपना कभी नही मानते हैं—वे कर्मोंके छूटने पर छूट जाने वाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मीक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई सम्पत्ति के सिवाय और किसीको अपनी नही मानता है। तत्वज्ञानी को यही भाव अपने मन मे रखकर आत्मतत्वका मनन करना चाहिए। ज्ञानी ऐसा विचारते हैं जैसा स्वामी अमितगतिजी ने सभाषितरत्नसदोह मे कहा है—

किमिहपरमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेत-
त्किमथ परमदुःख सस्पृहत्व यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसगाः सदा ये,
विधदति जिनधर्म ते नरा. पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऐसा मनमे निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही परम सुख है तथा इच्छा सहितपना ही महान दुःख है परिग्रहो को छोडकर जिनधर्म को धार करके सेवते हैं वह ही पुण्यात्मा हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

नाना दुखकरकर्मसंग वशते, पाई सकल संपदा।
वनितापुत्रसुमित्र राजलक्ष्मी, वृष नाश करती सदा।

इनको अपनी मानता नर कुधी मोही महा पातकी ।
सो ऋणसे धन पाय मग्न रहता नहिं लाज है बातकी ।४०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव किसी पदार्थ से रागद्वेष नही करते हैं—

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम् ।
तन्मे किंचिदचेतनं नकुरुते मित्रस्य वा विद्विषः ।।
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते ।
कस्याहं बत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ।।४१।।

अन्वयार्थ—(मित्रस्य) मित्र के (वा विद्विषः) वा शत्रु के (यत) जिसके(कलेवर) शरीरको (बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्) नाना प्रकार आरभ करनेमे व बात करनेमे लगा हुआ(पश्यामि) देखता हूँ(तत्) वह शरीर (अचेतनं) चेतनता रहित जड है(मे) मेरा (किंचित्) कुछ (न कुरुते)नहीं कर सकता है (यः आत्मा) उनका जो आत्मा (सुखदुःखजनकः) सुख तथा दुःखका स्वरूप कर्मोंको उत्पन्न करनेवाला है(असौ)वह(मया)मेरेसे(न दृश्यते) देखा नही जाता है तथा (अह)मैं (सर्वसंगविकलः)सर्व कर्मादि पर वस्तु के संग से रहित शुद्ध हू तब(कस्य)किसपर(तुष्यामि) प्रसन्न होऊं (रुष्यामि च) तथा रोष करूं (बत) यह विचारने की बात है ।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने रागद्वेष मिटाने की एक रीति समझाई है । यह संसारी प्राणी उन मित्रोसे प्रेम करता है जो अपने वचनो से हमारे हितकी बातें करते हैं व अपने आचरणसे हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझ

द्वेष करता है जो हमारे अहित की बातें करते हैं तथा अपने व्यवहारसे हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणीके मनसे रागद्वेष हटानेके लिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिए। यदि तू मित्रके शरीरसे राग व शत्रुके शरीरसे द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खताही होगी क्योंकि शरीर विचारा जड अचेतन है वह न किसीका बिगाड करता है न सुधार करता है। शरीर के सिवाय उनका आत्मा है उसको यदि तू सुख तथा दु.खका देने वाला माने तो वह आत्मा बिलकुल नही दिखता, उसका भाव यह हो गया है कि इन्द्रियोके भोगोसे आत्माको सुख-शाति नही होती है। किन्तु उल्टा रागद्वेषकी मात्राए बढ़कर मोक्षमार्ग मे विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने-पीने देखने आदिसे हट गई हो। तथा आत्मसुखका अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रामें भिन्न-२ स्थानोंसे विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्राका ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जबतक मोक्ष न पहुचे यह भिन्न-२ शरीरमे वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीरके बिगड़ते हुए आत्मा नही बिगडता है। यह अनादिसे अनतकाल तक अपनी सत्ता रखने वाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीररूपी ठहरनेके स्थान पर नही रहता है किन्तु मुक्तिद्वीपमे पहुँचना है यह लक्ष्य रहता है तथा जिस किसी शरीरमे कुछ कालके लिए ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है उस शरीरमे व उसके संबधी चेतन व अचेतन न जाने तबतक उस पर राग व द्वष किस तरह किया जा सकता है। तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करने का नहीं है। मैं सर्व संगसे रहित हूँ। न मेरे मे कोई ज्ञानावरणादि

द्रव्य कर्म है न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भाव कर्म हैं। मैं निश्चयसे सबसे निराला सिद्धके समान ज्ञातादृष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिए मुझे उचित है कि समताभावमे रमण कर आत्मीक सुखका अनुभव करूँ। जगतमे न मेरा कोई शत्रु है न मेरा मित्र है। इसी तरह श्रीपूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक मे कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ—मेरे को न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्म की आखो से मेरे आत्माको कोई देख नही सकता है इसलिए मेरे आत्माका न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मेरेको अर्थात् मेरे आत्माको देखनेवाला लोक है वह भी मेरा शत्रु व मित्र नही हो सकता क्योकि वीतरागी आत्मा ही आत्माको देख सकता है। इसलिए न मेरा कोई मित्र है न शत्रु है—

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णवमे कहा है :—

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥३३॥

भावार्थ—जिस मानव ने मेरे आत्माके स्वराजको देखा ही नही है वह न मेरा शत्रु है न मित्र है व जिसने प्रत्यक्ष मेरे आत्मा को देख लिया है वह महान मानव भी न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र।

निश्चय नय के द्वारा देखते हुए शत्रु मित्र की कल्पना ही मिट जाती है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

या जग में हितकारि मित्र मेरा, वा शत्रु जो दुःख करे।
देखूं देह अचेतनं तिन्होंको, सो देह मम क्या करे।
सुखदुःखकारी आत्मा यदि कहो, सो दृष्टि पड़ता नहीं।
मैं निश्चय परमात्मा असंगो, रुष तोष करता नहीं ॥४१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मेरा कोई नाश कर नहीं सकता मैं किससे राग व द्वेष करूँ।

क्रोधाबद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता॥
संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विघ्वस्ते।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः॥४२॥

अन्वयार्थ—(क्रोधाबद्धाधिया) क्रोध से युक्त बुद्धिवाले (शत्रुणा) शत्रु से (यत्) जो (इद) यह (शरीरकम्) शरीर (नाश्यते) नाश किया जाता है (तेनविचेतनेन सार्धं) उस अचेतन शरीरके साथ (मम) मेरा (कापि) कुछ भी (सम्बन्धता) सम्बन्ध (नोअस्ति) नही है (येन) जिसके साथ (मम शश्वत् अचल सबध.) मेरा हमेशा निश्चल सम्बन्ध है (स) वह (आत्माः) आत्मा (न विध्वस्यते) नही नाश किया जा सकता है (इति) ऐसा समझकर (मतिमता) बुद्धिमान पुरुष के द्वारा (क्वापि) किसी मे भी (विद्वेषरागोदयः) रागद्वेष का प्रकाश (न विधीयते) नही किया जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने शत्रुभाव को मिटानेकी और एक रीति बताई है। जो कोई किसीका शत्रु बनकर उनको नाश

करता है वह मानव उस क्रोधरूपी पिशाच के वश होकर बावला बन जाता है। वह उन्मत्त पुरुषके समान है जिसने गाढ़ नशा पी लिया हो। बावलेकी चेष्टाका बुरा मानना मूर्खता है। तिस पर भी उस क्रोधी मानवने यदि मेरे इस शरीरको नाश किया तो मेरा क्या बिगडा। शरीर तो स्वयं जड है, नाशवत है मेरा और उसका क्या सम्बन्ध ? यह तो मात्र मेरे रहने का घर है घरके जलनेसे व नष्ट होनेसे घर वाला नष्ट नहीं हो सकता। मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूँ मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूपसे ऐसा निश्चल है कि वह कभी छूट नही सकता। इस मेरे आत्मा को नाश करनेकी किसीकी ताकत नही है। जब मेरे आत्माका कोई बिगाड या सुधार करही नही सकता है तब मैं किस मानव मे राग करूँ व किस मानवसे द्वेष करूँ ? यदि मैं राग-द्वेष करता हूँ तो मैं मूर्ख व बावला हूँ। इसलिए न मुझे किसीसे राग करना चाहिए न द्वष। मुझे पूर्ण समताभाव मे ही रमण करके सुखी रहना चाहिए। निश्चयनय से यहा भी साधकको अपने आत्मा को शुद्ध अविनाशी चेतन धातुमय अमूर्तिक अनुभव कर लेना चाहिए। मेरा कोई शत्रु है व कोई मेरा मित्र है इस कल्पना को बिलकुल मिटा देना चाहिए।

परमार्थविंशति मे श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा।
प्रेमांगेपि न मेस्ति सप्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।
संयोगेन यदत्र काष्ठमभवत्संसारचक्रे चिरं।
निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥४५॥

भावार्थ—मेरा कोई सम्बन्ध न किसी आश्रय करने वाले इस सेवक से है न किसी मित्रसे है। मेरा प्रेम इस शरीर पर भी नहीं है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हू इस संसार मे अनादि से इस शरीरादि के सग से बहुत कष्ट पाए इसलिए मैं अब इनसे उदास हो गया हू, मुझे सदा एक अपना निराला रूप ही रुचता है। वास्तवमे ज्ञानीके ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दुलविक्रीडित छन्द

क्रोधांधी यदि शत्रुने तन यही मम नाशकर दुख दिया।
सो जड़ हूं मैं चेतना गुणमई, सम्बंध मुझसे जु क्या।
मेरा है सम्बन्ध नित्त निजसे सो नाश होवे नहीं।
इम लख बुधजन रागद्वेष कोई, किंचित् जु करता नहीं॥४२

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीरका मोह ही सकटोका मूल है—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि सकुर्वता।
गुर्वी दुःखपरम्परानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममता विस्तारिणीं संपदम्।
काशक्रेणनृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्॥४३

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस ससार से (एकत्रापि कलेवरे) इसी एक शरीर मे ही (स्थितिधिया) स्थिरतापने की बुद्धि करके (कर्माणि सकुर्वता) नाना प्रकार पाप कर्मों को करते हुए (आत्मना) आत्माने (गुर्वी) बडी भारी (दुःखपरम्परानुपरता) दुखो की सतान को बढ़ाने वाली अवस्था (लभ्यते) प्राप्त कर ली है (तत्र) उसी ससारमे (विनष्टममतां) ममतारहितपनेको या वीतरागभावको (स्थापयता) स्थापित करने वाले आत्मासे (का) कौनसी (विस्तारिणी) बड़ी भारी (सम्पदा) सम्पदा (नहीं प्राप्यते) न प्राप्त कर ली जा सकती है कि जिसको

(शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा) इन्द्र चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात अवश्य मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति की जा सकती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बतलाया है कि ममता ही दु खोको बढानेवाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपीलक्ष्मी को प्राप्त करानेवाला है। इस ससारमे इस जीवने अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर पाये व छोडे व हर एक शरीरमे रहकर व उसी मे लिप्त होकर बहुत से कर्मों का बधन किया। जिस कर्मबध के कारण ससार मे भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीर मे व शरीर के इद्रियोमे ममता की जावेगी तो ऐसा कर्मों का बध होगा जिससे इस जीवको नर्कनिगोद आदि गतियोमे जाकर दुखोकी परिपाटीको बढा देना होगा, फिर मानव जन्मका मिलनाही दुष्कर हो जायगा और यदि यह मानव बुद्धिमान होकर इस क्षणभगुर व अपवित्र शरीरपर ममत्व न करे और अपने आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्षपाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्मसे मोक्ष की अनुपम सम्पदाको पा सकता है और यदि शरीर मोक्षके पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम सयोगोके पाने का पात्र होता हुआ परम्परा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मोक्ष की सम्पदा अनुपम है। वह आत्मीक है, पराधीन नही है। वह आत्मा का ही अनत ज्ञान, सुख वीर्य आदि है। इस मुक्ति की सम्पत्ति को इन्द्र चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नही पा सकते है। वास्तव मे आत्मज्ञानी ही व आत्मध्यानी ही ऐसे सुखके अधिकारी हैं। जो शरीर के दास हैं वे ही ससार के दास हैं, वे ही अनतकाल भ्रमण करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानी जीवको इस क्षणिक शरीर

में मोह न करके नित्य निरजन निज आत्मा मे ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपचाशत् मे पद्मनदि मुनि कहते हैं—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि।

प्रतिभाति यत्तदेकं जयति पर चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

भावार्थ—जब मनका मोह शरीरादि से छूट जाता है और यह मन आनदसागर मे डूब जाता है तब मनमे जो कुछ प्रतिभास होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवंत रहो।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो कोई इस एक देहको ही, थिर मान अघको करे।

सो सन्तान महान् दुःख लहिके चारो गतीमे फिरे ॥

पर जो ममता टाल आप माहीं, आपी रती धारता।

अनुपम शिव सपत् अपारलहता इत्द्रादि नहिं पावता ॥४३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिन बातोसे शरीरका लाभ होता है उनसे आत्मा का बुरा होता है इससे उनसे बचना ही हितकर है—

ये भावः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-

स्ते संमारपयोधिमज्जनपरा जीवापकार सदा ॥

जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-

निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा ॥४४

अन्वयार्थ—(ये) जो (परिवर्धिता भावा) धारण किये हुए व बढ़ाए हुए रागादि भाव व स्त्री, पुत्र, मित्र राज्यधन सम्पदा

आदि पदार्थ (कायोपकार) इस शरीरका भला (विदधते)करते हैं (पुन.) परतु (ते) वे भाव या पदार्थ (संसारपयोधिमज्जन-परा:) ससारसमुद्रमे डुबाने वाले हैं इसलिए (सदाजीवापकारं) हमेशा जीवका बुरा करते हैं। (पुन:) तथा (जीवानुग्रहकारिण:) जो वीतराग भाव या तप, व्रत, सयम आदि जीव के उपकार करने वाले हैं वे (कायापकार) शरीरका बुरा (विदधते) करते अर्थात् शरीरको सयमी व सकुचित रहने वाला बताते हैं (इति) ऐसा (निश्चित्य) निश्चय करके (अनघधिया) निर्मल बुद्धिवान मानवको (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनो प्रकारसे (कायोप-कारि) शरीरको लाभ देने वाले और आत्माका बुरा करने वाले पदार्थोको या भावोको (विमुच्यते) छोड देना उचित है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि शरीरका दास-पना करोगे तो आत्माका बुरा होगा और जो आत्मा का हित करोगे तो शरीरका दासपना छूटेगा। वास्तवमें जो मानव स्त्री पुत्र धनादि सम्पदाओमे मोही हो जाते हैं अथवा अपने आत्माके भीतर कर्मोके उदयसे पैदा होने वाले रागादि भावोमे तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन अनादि सामग्रीके एकत्र करनेमें, रक्षण करने मे व विषयभोगो मे लगे रहते हैं। वे इन कामो से शरीर का रात-दिन चाकरीपन करते हैं, उसको बड़े आराम से रखते हैं। वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपने आत्माके हित की तरफ ध्यान नही देते, उनसे न जप होता न तप होता न व्रत पाले जाते न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते न वे पात्रोको दान देनेका कष्ट उठाते न वे सामायिक करते न संयम पालते न शुद्ध भोजन करते, वे हिंसादि पापोंको स्वच्छन्द वृत्ति से करते हुए व तीव्र विषयवासना में लिप्त होते हुए ऐसे पापकर्मोको बांध लेते

कि जिनसे इस आत्मा को दुर्गतिमें जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता और उसको उद्धारका मार्ग मिलना कठिन हो जाता है तथा जो बुद्धिमान इस मानवदेहको धर्मसाधनमे लगाते जप, तप, शील, संयम पालते ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्मा का सच्चा हित करते उसे सच्चे सुखका भोग कराते, उसी मुक्ति के मार्ग पर चलते हैं। यद्यपि इसी तरह वर्तन करते हुए शरीरको काबूमें रहना पड़ता तब शरीर अवश्य पहले की अपेक्षा कुछ सूखता। इतना ही नहीं ये सब कार्य जो मोक्षमार्ग के साधक हैं वे वास्तव मे शरीर के नाशके ही उपाय हैं। इन साधनोसे कुछ कालके पीछे शरीरका सम्बन्ध बिलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगी। ऐसी व्यवस्था है तब ज्ञानीको यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना बुरा न कर डाले। उसे शरीरके मोह मे नही पडना चाहिए और शरीर का सम्बन्धही न मिले ऐसाही उपाय करना चाहिए अर्थात् आत्मा के हित के लिए तप आदि आत्मध्यान को बडे भाव से करना चाहिए यही आचार्य का भाव है।

पूज्यपाद स्वामी ने भी इष्टोपदेश में कहा है :—

तज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

भावार्थ—जो बातें जीवको लाभकी हैं उनसे शरीरका बुरा होता है तथा जिनसे देहका भला होता है उनसे जीव का उपकार होता है।

इसमें ज्ञानीको यही विचारना चाहिए कि कोईका घर नष्ट हो परन्तु घरमे रहने वाला बच जाय तो वह काम करना अच्छा

है कि घर तो बच जाय व रहने वालेका नाशहो जाय यह काम करना अच्छा है ? वास्तवमे घरसे घरवालेका मूल्य बहुत ज्यादा है। घर तो फिर भी बन सकता है। परन्तु घरवाला मर गया तो फिर जोना कठिन है। इसलिए शरीर के मोह मे न पडकर आत्महित ही करना श्रेष्ठ है।

एकत्वाशोति मे श्री पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

बहिर्विषयसम्बन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद् भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥१॥

भावार्थ—बाहरी शरीर आदि पदार्थों का सम्बन्ध तो सर्व जीवोके सदा ही होता रहता है वह तो सुलभ है। परन्तु बाहरी पदार्थोंसे भिन्न आत्माका ज्ञान व आत्मा का ध्यान कठिनता से मिलते हैं इसलिए इनका अभ्यास हितकारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो धन आदि पदार्थ भाव रागी, या देह को हित करें।
सो संसार समुद्र माहि पटकें निजको सदा दुख करें॥
हितकर्ता तप आदि भाव जियको सो देहको दुख करें।
निर्मलधी इम जान देह हितकर परिणाम वर्द्धन करें ॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा की आराधना से ही आत्मा के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है —

शालिनी छन्द

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानमासेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥
सर्वत्रेदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुमं क्वापि कस्यापि दत्ते ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (ज्ञानी) ज्ञान स्वरूप है, (आसेव्यमानः) यदि इसकी सेवा की जावे तो यह (परमम्) उत्कृष्ठ, (अमलं) निर्मल (ज्ञान) ज्ञान को (वितरित) देता है (पुन.) जब कि (कायः) शरीर (अज्ञानी) ज्ञान रहित हैं (घोर अज्ञान एव) यदि इसकी सेवा की जावे घोर अज्ञान को ही देता है (जगति) इस जगत में (इद) यह बात (सर्वत्र) सर्व स्थानमे (विदितं) प्रसिद्ध है कि (विद्धमान दीयते) जिसके पास जो होता है वही दिया जाता है (कश्चित्) कोई भी (त्यागी) दानी (स्वकुसुमं) आकाश के फल को (क्वापि) कही भी (कस्यापि) किसी को भी (नहिदत्ते) नही दे सकता है।

भावार्थ—यहाँपर आचार्य कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्दकी प्राप्ति करना चाहे उनको उचित है कि अपने आत्माका ही सेवन करे। क्योंकि आत्मा स्वय ज्ञान स्वरूप व वीतराग आनन्दमयी है। यदि आत्माका ध्यान किया जायगा तो आत्मा को अवश्य ही जो उसके पास गुण हैं वे स्वय प्राप्त हो जायेंगे। यदि कोई शरीर की सेवा करे, शरीरके मोह मे रहकर उसकी सेवाचाकरीमे लगा रहे, उसके कारण जो राग, द्वेष, मोह होता है उसीका अपना स्वरूप मानता रहे, रातदिन अहकार ममकार मे लीन रहे तो उस अज्ञानी को आत्मीक गुणो को छोड़कर जड़ अचेतन रूप शरीर व कर्मबध व कर्मोदय रूप रागद्वेष रस इनकी सेवा करते रहने से अज्ञानका ही लाभ होगा, कभी भी शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। क्योंकि जगत मे यह नियम है कि जो किसीकी सेवा सच्चे भावसे करता है उसको वह वही वस्तु दे सकता है जो उसके पास है। यदि कोई उससे ऐसी वस्तु मागे जो उसके पास नही है तो, वह उसे कभी नही दे सकता है।

आकाशका फूल कभी होता नही, फूल तो किसी वृक्ष की शाखा में होता है। यदि कोई बडा भारी दाता है और उससे कोई याचक यह कहे कि तू मुझे आकाशका फूल दे तो वह कभी उसे दे नही सकता क्योंकि उसके पास आकाशका फूल है ही नहीं। तात्पर्य कहनेका यह है कि शरीर जड है इसकी पूजासे जड-मूर्ख ही रहोगे। कभी सम्यग्ज्ञानी व केवलज्ञानी नहीं हो सकते किंतु जब निज आत्मा का ध्यान करोगे तो अवश्य सम्यग्ज्ञान व सुख शांति की प्राप्ति होगी।

इष्टोपदेश में श्री पूज्यपादस्वामीने भी ऐसा ही कहा है—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यस्तु यस्याति सुप्रसिद्धमिद वचः ॥२३॥

भावार्थ—अज्ञानकी सेवासे अज्ञान होगा और ज्ञानी आत्मा की सेवासे ज्ञान होगा। यह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वही दूसरे को उसी मे से कुछ दे सकता है।

एकत्वाशीति मे पद्मनंदि मुनि कहते हैं—

अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

भावार्थ—जो कोई स्थिर होकर आत्माके द्वारा अजन्मा, एक रूप, उत्कृष्ट, वीतराग, सर्वरागादि उपाधिरहित अपने आत्माको

जानकर अपने आत्मामे तिष्ठता है व आत्मानुभव करता है वही मोक्षमार्ग मे चलने वाला है, वही आत्मानंदरूपी अमृतका भोग करता है, वही अर्हंत वही जगतका स्वामी व वही प्रभु व वही ईश्वर है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो निज आतम स्वच्छ ज्ञानमयको भजता परम प्रेम से ।
पाता निर्मलज्ञान और सुखको लहता शिवं नेम से ॥
जो सेता निजतन अचेतन महा लहता न ज्ञानं कभी ।
दाता देवे जो कि पास निज हो नभ फूल दे नहिं कभी ।४५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि लोग सुख की तो इच्छा करते हैं परन्तु उपाय उल्टा करते हैं ।

कांक्षन्तः सुखमात्मनोऽनवसितं हिंसा परैः कर्मभिः ।
दुःखोद्रेकमपास्तसंगधिषणाः कुर्वन्ति धिक्कामिनः ॥
बाधां किं न विवर्धयन्ति विविधैः कंडूयनैः कुष्टिनः ।
सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः खर्जूकषाकांक्षिणः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(अनवसित)निरन्तर (आत्मनः सुख) अपने को सुख की(कांक्षन्तः)इच्छा करने वाले(अपास्तसगधिषणाः)विवेक बुद्धि से रहित(कामिनः)कामी पुरुष(धिक)यह बडे दु.खकी बात है कि (हिसापरैः कर्मभि.) हिसामई क्रियाओ के द्वारा (दुःखोद्रेक) दु.खो के वेगको (कुर्वंति) बढ़ा लेते हैं। जैसे (खर्जूकषा-कांक्षिणाः) खुजाने की इच्छा करने वाले (कुष्टिन.) कोढी लोग (विविधैः) नाना प्रकार (कडूयनै.) खुजाने की वस्तुओ से (सर्वांगावयवोपमर्दनपरैः) सारे अग के भागो को मलने से(किं) किस (बाधां) कष्टको (न विवर्धयति) नहीं बढ़ा लेते हैं ?

अर्थात् अवश्य बढ़ा लेते हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्यने बताया है कि इन्द्रियोके भोगो को भोगकर सुख की इच्छा करना मूर्खता है। जैसे कोढो लोग जिनको खाज खुजाने की इच्छा इसलिए होती है कि खाज मिट जावे, सारे अग को खुजाते हैं इससे उनकी खाज मिटती नही उल्टी बढ आती है वैसे इद्रियो के भोगो से जो तृप्ति चाहते हैं उनके कभी तृप्ति व संतोष नही होता है, उल्टी तृष्णाकी ज्वाला और बढ जाती है। इन्द्रियोंके भोगो में लिप्त होने से उस जन्म मे सुख नही मिलता, इतना ही नहीं उससे आगामी जीवन को भी नष्ट करता है क्योकि इन्द्रिय भोग योग्य पदार्थों की इच्छा करके यह प्रचुर धन प्राप्त करना चाहता है या अनेक विषयोकी सामग्रीको इकट्ठा करना चाहता है जिससे बहुत अधिक हिंसामई आरम्भ करता है, असत्य बोलता है व अनेक अन्याय कर लेता है। इस कारण तीव्र पापोको बांध लेता है उस पाप के उदय से परलोक में महान् दु ख की योनियों में पड जाता है व वहा भी पाप के उदयसे दु:खी हो जाता है व आपत्ति संकटोंमें पड जाता है। खाज खुजाने वाले को खाज जैसे मिटने के स्थान मे बढ़ जाती है तैसे इन्द्रियभोगो को भोगकर तृप्ति चाहने वालो की तृष्णा की आग और अधिक बढ जाती है। ऐसा समझकर जो सुख की इच्छा हो तो आत्मीक सुख की खोज करनी चाहिए और उस सुख के लिए अपने आत्मा का ध्यान ही उपाय है इसको ग्रहण करना चाहिए।

अमितगति महाराज ने सुभाषितरत्नसदोह में कहा है कि सच्चा सुख वीतरागी महात्माओ को ही मिलता है—

यदिह भवति सौख्य वीतकामस्पृहाणा।
न तदमरविमना नापि चक्रेश्वराणामे॥

इति मनसि नितान्तं प्रीतिमाधाय धर्मं।
भजत जहित चैतान् कामशत्रून्दुरन्तान् ॥१०॥

भावार्थ—जो सुख इस लोक में उन महात्माओं को होता है जिनके कामभोगो की इच्छा नही रही है वह सुख न देवताओं को और न चक्रवर्ती राजाओं को हो सकता है। ऐसा जानकर मनमें गाढ़ प्रीतिको धारण कर धर्म की सेवा कर और कठिनता से छूटने वाले इन भोगो की इच्छारूपी शत्रुओं को त्याग दे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो चाहें नित सौख्यको परकुधी हिंसामई कृति करें।
करते बुद्धि विना जु भोग रत हो वे सुख कभी ना भरें।
जो कोढ़ी निज खाज टालन निमित अंगांग खुजलावता।
साता पाता है नहीं वह कुधी बाधा अधिक पावता ॥४६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो अपने आत्माको अपने आत्मामें स्थिर करता है वही अपने आपका मित्र है व जो ऐसा नही करता है वह अपने आत्मा का शत्रु है—

व्यापारं परिमुच्य सर्वमपरं रत्नत्रयं निर्मलम्।
कुर्वाणो भृशमात्मन सुहृदसावात्मप्रवृत्तोऽन्यथा।
वैरी दुःसहजन्मगुप्ति भवने क्षिप्त्वा सदा पातय-
त्यालोच्येति स तत्रजन्मचकितैः कार्यः स्थिरः कोविदैः॥

अन्वयार्थ—जो (सर्वं अपरं व्यापार) सर्व दूसरे व्यापार को (परिमुच्य) छोड करके (निर्मल) पवित्र (रत्नत्रयं) रत्नत्रय धर्मको भृशं कुर्वाण·) भले प्रकार पालने वाला व (आत्मप्रवृत्त.) अपने आत्माका मित्र है। (अन्यथा) जो ऐसा नही करता है वह (वैरी)

अपने आत्माका वैरी है। वह अपने आपको(सदा)सदा (दु.सह-जन्मगुप्तिभवने) न सहने योग्य ससारके भयानक जेलखाने में (क्षिप्तवा) पटक कर (पातयति) अधोगतिमे पहुचाता रहता है (इति) ऐसा(आलोच्य) विचार करके (जन्मचकितैः) संसार के जन्मसे भय रखने वाले(कोविदै)बुद्धिमानोको(तत्र) इस ससार मे (स स्थिर. कार्यं) वही स्थिर कार्य करना चाहिए अर्थात् अपने आत्मामे स्थिर होनेका उपाय करना चाहिए।

भावार्थ—यहा आचार्य ने बताया है कि वह आत्मा अपने आत्मा का घातक तथा शत्रु है, जो ससार के अनेक व्यापारो मे तो उलझता है परन्तु अपने आत्मा के ध्यान को कभी नही आचरण करता है क्योंकि वह जीव नाना प्रकार पाप कर्मों को बांधकर अपने आत्मा को नरकनिगोद पशुगति आदि के महान कष्टो मे डाल देता है। फिर उसको संसार मे सुखी होने का मार्ग कठिनता से मिलता है और वह मोक्षमार्ग से दूर होता जाता है परन्तु जो कोई बुद्धिमान और सब शरीर सम्बन्धी व्यापारो को त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को भले प्रकार पालता हुआ अपने आत्मा के ध्यान मे लयता पाता है वह अपने आत्मा का मित्र है। क्योकि ध्यान के बल से वह कर्मों का नाश करता है आत्मा मे सुख-शाति तथा बल को बढ़ाता है और मोक्ष मार्ग को तय करता जाता है, ऐसा जानकर जो कुछ भी बुद्धि रखते हैं उनका कर्तव्य है कि रागद्वेष भूलकर सर्व ही व्यापारो को छोडकर ऐसा उपाय करें जिससे अपने आत्मा मे स्थिरता पावे और फिर मुक्त हो जावे।

बुद्धिमानो को आत्मघाती होना बड़ा भारी पाप है। जो अपने आत्माकी रक्षा करता है वही सच्चा आत्मा का मित्र है।

सुभाषितरत्नसदोह में स्वामी अमितगतिजी कहते हैं—

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंग सौख्यं।
तद्वत्त्वं चेज्जिनेन्द्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदुःखप्रपंचं।
सचिन्त्यैवं विधिस्त्वं स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वम्।४०६

भावार्थ—जिस प्रकार तू कामदेव के वाणसे वींधा हुआ स्त्री भोग के सुख मे अपना मन लगाता है उसी तरह यदि तू श्री जिनेन्द्र भगवान से कहे हुए मोक्ष के मार्ग मे चित्त को जोड दे तो तू जन्म जरा मरण के दु खोके प्रपच से रहित क्या-क्या सुख को न प्राप्त करे ? ऐसा विचारकर अपनी बुद्धि को उत्तमपने स्थिर करके उसी धर्म मे स्थिरता रखनी चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो तजके व्यापार अन्य जगके रत्नत्रय निर्मलं।
सेवें धावें आत्मको रुचि धरें सो मित्र आतमपरं॥
जो राचें संसार दुःख पावें हैं आत्म वैरी सदा।
बुधजन भवभयधार कार्य निजमें थिरता धरें सर्वदा॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मूढ पुरुष धनादि मे मग्न होकर मरणादि संकटो का विचार नही करता है।

मूढः संपदधिष्ठितो न विपदं संपत्तिविध्वंसिनीं।
दुर्वारां जनमर्दनीमुपयतीमात्मात्मनः पश्यति॥
वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगव्याधादिभिः सकुलं।
कक्षं वृक्षगतो हुताशनशिखां प्रप्लोषयन्तीमिव॥४८॥

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख (आत्मा) जीव (संपदधिष्ठितः) जो संपत्तिको रखने वाला है सो (आत्मनः) अपने ऊपर (जनमर्दनी)

मानवों को नाश करने वाली (संपत्तिविध्वंसिनी) तथा लक्ष्मी आदि का वियोग करने वाली (दुर्वारा) कठिनता से निवारने योग्य (विपद) विपदाको (उपयती) आते हुए (न पश्यति) नहीं देखता है जैसा (वृक्षगत.) वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ कोई मानव या पक्षी (वृक्षव्याघ्रतरक्षुपन्नगमृगव्याधादिभि) वृक्ष, बाघ, तरस, सर्प, मृग व शिकारी आदि से (सकुल) भरे हुए (कक्षं) वन को (प्रप्लोषयन्ती) जलाने वाली (हुताशनशिखा) अग्नि की शिखाके (इव) समान नही देखता है। अर्थात् जैसे वह मानव आग जलती तो देखता है परन्तु उठके भागता नही है ऐसा यह धनोन्मत्त पुरुष है।

भावार्थ—यहा पर आचार्यने बताया है कि यह ससार रूपी वन महा भयानक है जिसमे मरण की आग जल रही है जो इस वनमे रहते हैं वे मरते रहते हैं। जब प्राणीको मरण आ जाता है उस समय सर्व सपत्ति धन दौलत स्त्री पुत्र मकान राज्य आदि छोड जाना पडता है। इस मरण की आपत्तिको कोई टाल नही सकता है। अज्ञानी लोग यह देखा करते है कि आज यह मरा कल वह मरा था, आज यह सब छोडके चल दिया कल वह छोड के गया था। ससार मे मरण किसोको छोडता नही, न बालकको न वृद्ध को न बुद्धिशाली को न मूख को न राजा को न रकको न इन्द्रको न धर्णेन्द्रको न चक्रवर्तीको न तीर्थंकरको, तो भी लोग अपना ध्यान नही करते। जो मूर्ख धनके मदमे उन्मत है, सपदा मे लिप्त है वह ऐसा अन्धा हो जाता है कि विषय भोगो को भोगता ही रहता है और मरण पाने वाला है इस बातको अपने लिए नही विचारता है, वह मूर्ख अज्ञानसे मरकर संसारमे कष्ट पाता है। यहां पर आचार्यने उस मूर्ख मानव या पक्षीका दृष्टात दिया है जो किसी भयानक वनके भीतर एक वृक्ष पर बैठा हुआ

हो और उस वनमे आग लग रही हो तथा आगसे जल जावे इस भयसे शेर, हिरण, सर्प आदि पशु भागे जा रहे हैं, अग्नि बढ़ते-२ उस वृक्ष पर भी आने वाली है जिस पर वह बैठा है तथापि वह ऐसा बेखबर है कि आगको बढती हुई देखकर आप उससे बचने का प्रयत्न नही करता है, भागता नहीं है। यही दशा अज्ञानी और मिथ्यादृष्टी जीव की है, तात्पर्य कहने का यह है कि ससार में परपदार्थके सम्बन्धको क्षणभगुर जानकर व शरीरको कालके मुख मे बैठा हुआ मानकर हमको सदा ही अपने आत्मोद्धार के प्रयत्नो मे दत्तचित्त रहना चाहिए। श्री शुभचन्द्र आचार्य ने ज्ञानार्णव मे कहा है—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधी.।

मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥२३॥

भावार्थ—शरीर तो गलता जाता है परन्तु आशा नही गलती है, आयु तो कम होती जाती है परन्तु पाप की बुद्धी नही जाती है मोह तो बढता जाता है परन्तु आत्मा का हित नही होता है। शरीरधारी प्राणियो का चरित्र देखो कैसा आश्चर्यकारी है। यह मोह का महात्म्य है जिससे अपने नाशको सामने देखकर भी बावला हो रहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मूरख संपत् लीन होय रहता भावी नहीं देखता।
धन नाशक मरणादि संकट बड़े आते नहीं पेखता॥
वृक्षादी मृग बाघ नागपूरित वनमाहिं अग्नी लगी।
बैठा वृक्ष जु देखता बन जले नांहि बुद्धि भागन लगी॥४७

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमात्मा पद की प्राप्ति **आत्मध्यान से ही होती है**—

आत्मात्मानमशेषबाह्यविकलं व्यालोकयन्नात्मना ।
दुष्प्रापां परमात्मतामनुपमामापद्यते निश्चितम् ॥
आत्मानं घनरूढ़कीचकचयः किं घर्षयन्नात्मना ।
वन्हित्वं प्रतिपद्यते न तरसा दुर्वारतेजोमयम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (आत्मानम्) अपने आत्माको (नशेषबाह्यविकल) सर्व बाहरी पदार्थों से भिन्न (आत्मना) अपने आत्मा के द्वारा (व्यालोकयन्) अनुभव करता हुआ (निश्चितम्) निश्चय से (दुष्प्रापा) कठिनता से प्राप्त होने योग्य (अनुपमा) तथा उपमा रहित (परमात्मता) परमात्मा पद को (आपद्यते) प्राप्त कर लेता है (किं) क्या (धनरूढकीचकचय) गाढ डटा हुआ बासके वृक्षका समूह (आत्मना) अपने मे (आत्मान) आपको (घर्षयन्) घिसते-२ (तरसा) शीघ्र ही (दुर्वारतेजोमय) न बुझाने योग्य तेजस्वो (वह्नित्व) अग्निपने को (न प्रतिपद्यते) नही प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि आत्माको कर्मोंके मैल से छुडाने का व इसके गुणो को प्रकाश कर इस परमात्मा पद में पहुचाने का उपाय इस आत्माके पास ही है । यदि यह आत्मा सर्व पुद्गलादि द्रव्यो से सर्व कर्म बन्धनो से, सर्व रागादि भावों से भिन्न मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमयी अविनाशी अमूर्तीक एक द्रव्य हू ऐसा निश्चय करके अपने आपको अपने आप ही से विचार करे, विचारते-२ उसीमे लय हो आत्मानुभव करे तो अवश्य उसके कर्म बन्ध कट जावे और यह शुद्ध परमात्मा हो जावे । इसपर दृष्टात देते हैं कि जैसे वनमे बांसके वृक्ष के समूह स्वयं रगड़ते-२ अग्नि में बदल जाते हैं और ऐसी प्रचडता को धारण करते हैं कि फिर कोई भी उसको बुझा नही सकता है ।

इसलिए जो अपना आत्मकल्याण चाहते हैं उन्हें अपने आत्मा का ध्यान ही करना उचित है।

श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदयमे कहते हैं—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिः र्वाजतं किमपियत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशम् मोक्षहेतुरितियोगनिश्चयः।।२५

हमारा आत्मतत्व ज्ञानरूप है, सर्व रागादि की उपाधि से रहित है। इसके सिवाय और कोईभी जरासा भी हमारा तत्व नही है। ऐसा जो ध्यान का निश्चय है वही मोक्ष का मार्ग है। असल मे बात यही है कि मोक्ष अपना ही शुद्ध चैतन्यरूप है, जहाँ अपने आप को सर्व परभावोसे भिन्न अनुभव किया वही मोक्ष का आनन्द आने लगता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो आतम निज आत्म आप ध्यावे परभावको टालता।
सो निश्चय दुर्लभ अनूपम परम शुद्धात्मा पावता।।
बनमें बांस समूह आप आपो घर्षण करें आपको।
झटसे दुर्धर तेज धार अग्नी होवे करे तापको।।४९।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो शरीरके कार्यमे मोही है वह आत्मकार्य नही कर सकता।

व्यासक्तो निजकायकार्यकरणे यः सर्वदा जायते।
मूढात्मा स कदाचनापि कुरुते नात्मीयकार्योद्यमं।।
दुर्वारेण नरेश्वरेण महति स्वार्थे हठाद्योजिते।
भीतात्मा न कथंचनापि तनुते कार्यं स्वकीयं जनः।।५०

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (सर्वदा) सदा (निजकायकार्यकरणे) अपने शरीर के कार्य के करने मे (व्यासक्तः) लगा हुआ (जायते) रहता है (सः) वह (मूढात्मा) मूढ़ बुद्धि (कदाचनापि)

कभी भी (आत्मीयकार्योद्यम) अपने आत्माके कार्य का उद्यम (न कुरुते) नही करता है। (भीतात्मा जन) भयभीत कायर जन (दुर्वारेण नरेश्वरेण) जिसकी आज्ञा उलघन करना कठिन है ऐसे राजा द्वारा (हठात्) बलात्कारसे (महति स्वार्थे) किसी महान अपने कार्यमे (योजिते) लगा दिये जाने पर(स्वकीयंकार्य) अपने स्वय के कार्यको (कथचनापि) कुछ भी (न) नही (तनुते) करता है।

भावार्थ—यहा पर आचार्य बताते हैं कि जैसे कोई मूर्ख प्राणी किसी राजा के यहा नौकर हो वह राजा उसको किसी कामको पूरा करने की आज्ञा देवे। वह मूर्ख राजासे डरता हुआ दिन-रात राजाके ही काममे लगा रहे, अपना निजका काम करने को समय ही न बचावे तब वह जगतमे मूर्खही कहलाएगा क्योकि उसने अपने हितका काम करने के लिए कुछ भी समय नही निकाला। इसी तरह जो मूर्ख शरीर मे अति आशक्ति रखता हुआ इन्द्रियो का दास हो जाता है। वह निरतर शरीर को पोषा करता है, आराम दिया करता है, शरीर के लिए धन कमाया करता है, रात-दिन शरीरको आराम देनेमे लग जाता है वह अपने आत्मीक हितको बिलकुल भूल जाता है। बुद्धिमान प्राणीको शरीरके मोहमे इतना न पडना चाहिए कि वह अपनी आत्मीक उन्नति को भूल जावे। यदि वह गृहस्थ है वह धन कमावे, इन्द्रियो को न्यायपूर्वक भोगो मे लगाये परन्तु अपने आत्माके कल्याणके लिए आत्म-धर्म को अवश्य सेवन करता रहे। किसी भी दशामे अपने सच्चे धर्मको भूल जाना बडी भारी नादानी है। हरएक गृहस्थी को भी सामायिक व ध्यान का अभ्यास करना चाहिए व नित्य कर्ममें सावधान रहना चाहिए।

धर्मका विस्मरण किसीभो समय न करना चाहिए। श्रीपद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृतमे कहते हैं—

विहायव्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये।
कुरुध्वं तत्तूंणं किमपि निजकार्यं वतबुधाः॥
नयेनेह जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना।
पुनः स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडबरशतैः ॥५२॥

भावार्थ—हे बुद्धिमानो। धन, गृह, शरीरादि के सम्बन्ध मे ममताको छोडकर शीघ्र ही अपने आत्महितके कार्य को करो जिससे यह ससार न बढने पावे क्योकि फिरसे यह उत्तम मनुष्य जन्म आदि की प्राप्ति हो वा न हो व्यर्थ की बातो के बनाने से क्या लाभ होगा।

प्रयोजन यह है कि कैसी भी अवस्थामे हो, धर्म साधन को सदा ध्यानमे रखना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो निज देह मयी कुभोग रत हो निज देहको पालता।
सो मूरख निज आत्मकार्य हित को कुछ भी नहीं साधता॥
जो चाकर भयभीत हो नित रहे निज स्वामि कारज करे।
सो निज हितको भूल त्रास सहता निज जन्म पूरा करे ॥५०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धनादि पदार्थों में लीनता मोक्ष के साधनो मे बाधक है—

लक्ष्मीकीर्तिकलाकलापललनासौभाग्यभाग्योदया—
स्त्यजन्ती स्फुटमात्मनीह सकला एते सकामीतिः॥

जन्माभोधिनिमज्जिकर्मजनकैः किं साध्यते कांक्षितं ।
यत्कृत्वा परिमुच्यते न सुधियस्तत्रादरं कुर्वते ।।५१।।

अन्वयार्थ—(इह) इस ससार मे (लक्ष्मीकीर्तिकलाकलाप-ललनासौभाग्यभाग्योदया·) धन, यश, कलाओ का समूह, स्त्री, सौभाग्य, भाग्य का उदय आदि (एते सकला) ये सब पदार्थ (आत्मना) आत्मा द्वारा (स्फुट त्यज्यन्ते) प्रत्यक्ष छोड दिये जाते हैं (अर्जितै·) इन पदार्थों को उत्पन्न करने से (जन्माभोधिः-निमज्जिकर्मजनकै) ससार समुद्रमे डुबाने वाले कर्मोका बध होता है इसलिए इन पदार्थों से (सता) सज्जन पुरुषो का (किं) क्या (कांक्षित) चाहा हुआ मोक्ष पुरुषार्थ (साध्यते) साधन किया जा सकता है ? अर्थात् नही साधन होता है। (यत्कृत्वा परि-मुच्यते) जिस वस्तु व कामको पैदा करके फिर छोडना पडे (तत्र) उस काम मे या पदार्थ मे (सुधिय) बुद्धिमान लोग (आदर) आदर (न कुर्वते) नही करते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि लक्ष्मी, धन, पुत्र, राज्यपाट, ससारिक यश, कला, चतुराई, स्त्री आदि सर्व पदार्थ मात्र इस देहके साथ हैं। आत्माका और इनका साथ कभी नही हो सकता है। एक दिन आत्माको छोडना ही पडता है। फिर इनके पैदा करने मे, इकट्ठा करनेमे, प्रबध करनेमे, बहुत राग-द्वेष मोह व बहुत पाप का सचय करना पडता है उस पापसे इस आत्माको ससार-समुद्रमे डूबना पडता है, दुर्गतिके अनेक कष्टो को सहना पडता है तथा जो बुद्धिमानो के लिए इष्ट है अर्थात् मोक्ष व स्वाधीन आत्मीक सुख है वह और दूर होता चला जाता है। इन स्त्री पुत्र धनादि के भीतर मोह करने से आत्म-ध्यान व वैराग्य नहीं प्राप्त होता जो मोक्षका साधक है।

प्रयोजन कहने का यह है कि धनादि पदार्थों का मोह करना वृथा है, इनको सचय करना भी वृथा है क्योकि एक तो ये कभी आत्माके साथ-२ जाते नही स्वय छूट जाते हैं, दूसरे इनके मोह मे आत्माका उद्धार नही होता है, आत्मा पवित्र नही हो सकता है। इसलिए ज्ञानी को इसमे राग ही न करना चाहिए। इसको उत्पन्न करने का भी मोह छोड देना चाहिए और आत्मकार्य में लगा देना चाहिए। जिस वस्तुको बड़े परिश्रम से कष्ट सह करके एकत्र किया जावे और उसे फिर छोड़ना ही पड़े उस वस्तु की प्राप्तिके लिए बुद्धिमान लोग कभी भी चाह नही करते हैं। इसलिए हमको धनादि की चाह को छोड़कर स्वहित ही कर्त्तव्य है। ऐसा ही भाव श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश के भीतर बताया है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सचिनोति यः।
स्वशरीर सपकेन स्नास्यामिति विलपति ॥१६॥
आरभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम कः सेवते सुधी ॥१७॥

भावार्थ—कोई निर्धन मनुष्य यह विचार करता है कि धन कमाकर दान करूगा इसलिए धन का इकट्ठा करू वह ऐसा ही मूर्ख है जो यह विचारे कि मैं अपने शरीरको कीचडसे लिप्तकर फिर स्नान कर लूँगा इसलिए कीचड से लीपने लगे। जिस पाप को छुडाना ही पड़े उस पाप को लगाना ही अच्छा नही है। यदि धन कमाने से पाप सचय होता है तो जो मुक्ति चाहता है उसे इस जजालमे नही पड़ना चाहिए। ये इद्रियोके भोग आरभ मे सताप करने वाले हैं। अर्थात् इनके प्राप्त करने के लिए

बहुत कष्ट उठाने पडते हैं और जब ये मिल जाते हैं तब इनके भोगो से तृप्ति कभी नही होती है फिर ये इतना मोह बढा देते हैं कि इनका छूटना कष्टप्रद हो जाता है । इसलिए बुद्धिमान मानव इन भोगोकी इच्छा नही करता है। यदि गृहस्थमे पुण्योदयसे मिल जाते हैं तो उनमे आसक्त नही होता है। उनसे मोह करके अपने आत्मकार्य को नही भुलाता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

लक्ष्मीकीर्तिकला समूह ललना सौभाग्य आदिक सभी ।
छुट जाते इस जीव से इक दिन अघ बंधकारी सभी ।
भवदधि डूबन हेतु मुक्तिपथ रिपु नहिं चाह धारें सुधी।
जो हो तजने योग्य लाभ उसका करते नहीं जो सुधी ॥५१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान लोग कभी भी अनर्थ कार्य नही करते हैं—

हेयादेयविचारणास्ति न यतो न श्रेयसामागमो ।
न वैराग्यं न कर्मपर्वतभिदा नाप्यात्मतत्वस्थितिः ॥
तत्कार्यं न कदाचनापि सुधियः स्वार्थोद्यताः कुर्वते ।
शीतं जातु नुनुत्सवो न शिखिनं विध्यापयंते बुधाः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(यत)जिस कार्यके करने से (हेयादेयविचारणा न अस्ति) ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ऐसा विचार नही पैदा होवे (न श्रेयसामागम:) न मोक्ष आदि जो कल्याणकारक है उसका लाभ होवे (न वैराग्य) न ससार देह भोगो से वैराग्य पैदा होवे (न कर्मपर्वतभिदा)न कर्मरूपी पर्वतो का चूरा किया जासके(नापि आत्मतत्वस्थिति)और न आत्मीक तत्व मे स्थिति हो अर्थात् आत्मध्यान हो (तत्कार्यं) उस कार्यको (स्वार्थोद्यता) अपने आत्माके प्रयोजन मे उद्यमी(सुधिय.)बुद्धि-

मान लोग (कदाचनापि) कभी भी नही (कुर्वते) करते हैं जैसे (शीत नुनुत्सव.)शीतको दूर करने की इच्छा करने वाले(बुधाः) बुद्धिमान लोग (जातु) कभी भी (शिखिनं) अग्निको(न विध्यापयते) नहीं बुझाते हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने बताया है कि बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो विचारके साथ इस ससार मे काम करते हैं, हरएक मानव को अपना लक्ष्यविन्दु बना लेना चाहिए और जो लक्ष्य हो उसीके साधन की जो क्रियायें हों उनको मन वचन काय से करना चाहिए। जिसको शीत लग रही है और वह शीत से बचना चाहते हैं तो वह अग्नि को कभी नही बुझावेगा क्योकि अग्नि उसके हितमें साधक है। इसी तरह जो बुद्धिमान लोग अपने आत्माको उन्नति करना चाहते हैं वे ऐसे हो साधनों को करेंगे जिनसे तत्वो का ज्ञान होकर यह बिबेक हो जावे कि क्या तो त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है, तथा जिस चारित्र से मोक्षका लाभ होगा उसी चारित्र को पालेंगे व जिस तरह मनमे ससार देह भोगोसे वैराग्य रहे वह उद्यम करेंगे जिस ध्यानसे कर्म पर्वतो का चूरा हो वैसाही ध्यान करेंगे, जिस तरह आत्मा का अनुभव हो जावे ऐसा तप साधेंगे। कभी भी ऐसे प्रपचोमे न फसेंगे कि जिनमें फसने से तत्वज्ञान न हो, वैराग्य न हो, कर्मका नाश न हो व मोक्ष की प्राप्ति न हो।

प्रयोजन कहने का यह है कि मानवोको स्त्री' पुत्र, मित्रादि धन परिग्रहमे ममताबुद्धि रखकर अपना अहित न करना चाहिए सर्व पर पदार्थोंको अपने से भिन्न जानकर उनसे मोह निवारण कर आत्महितके लिए स्वाध्याय ध्यान सत्संगति आदि में लगे रहना चाहिए। गृहस्थ मे रहे तो जल मे कमल के समान भिन्न

रहे। यदि साधु हो तो रात दिन वैराग्य मे भीजा रहकर ध्यान की शक्ति बढ़ावे। गृहस्थ मे कभी भी ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्याय आदि के कार्य न करे जिनसे विषयोमे अन्धा होकर इस नरजन्म के अमूल्य समयको यो ही खो दे और पीछे पछताना पड़े। मानवजन्म का समय बडा ही अमूल्य है। जो आत्महितमे दक्ष हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ व साधु हैं—

श्री पद्मनंदि मुनिने धर्मोपदेशामृत मे कहा है कि आत्मध्यान करना ही श्रेष्ठ है।

आत्मामूर्तिविवर्जितोपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां।
प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यवहमित्युल्लेखत: संततं ॥
तत्किं मुह्यत शासनादपिगुरोर्भ्रान्ति समुत्सृज्यता-
मंत: पश्यत निश्चयेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजा: ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा अमूर्तीक है तो भी शरीर में मौजूद है, यद्यपि दिखाई नही पडता है तथापि 'मैं' इस शब्द से निरन्तर प्रगट है तब क्यो तुम मोहित होते हो, गुरु के उपदेश से भ्रम को छोडो और मन के द्वारा निश्चय करके उसी आत्मा की तरफ अपने इन्द्रियसमूह को तन्मयी करके उसी का ही अनुभव करो।

वास्तवमे आत्मध्यान ही आत्माके कल्याण का मार्ग है इस-लिए उसीका ही यत्न करना एक बुद्धिमान प्राणी के लिए हित-कारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो बुध आतम काय उद्यमक्ती मो कार्य करते नहीं।
जासे कृत्य अकृत्य बोध नहिं हो निज मोक्ष होवे नहीं।
नहिं होवे वैराग्य कर्म क्षय ना ध्यानात्म होवे नहीं।
जो जन बाधा शीत टालनमती सो अग्नि शमता नहीं ॥५२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्याता मानव को उचित है कि क्रोधादि भावों को दूर रखें।

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते।
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(यत.) क्योकि (कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेष-प्रमादादिभि.) कामभाव, क्रोधभाव, शोक, ईर्षा, गर्व, द्वेष व प्रमाद आदि अशुद्ध भावोके द्वारा (शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः) शुद्ध ध्यानको बढ़ाने वाले मन की (स्थैर्यं) स्थिरता (परितापदान-चतुरै हुताशैः हेम्न काठिन्य इव) तीव्र गर्म करने वाली अग्नि के द्वारा सुवर्ण की कठिनता के समान (क्षिप्यते) नष्ट हो जाती है (तत) इसलिए (ध्यानविधायिभि.) ध्यान करने वालो के द्वारा (इमे कामादय:) ये काम क्रोधादि भाव (दूरतः) दूर से ही (त्याज्या:) छोडने योग्य है।

भावार्थ—जैसे सोना कठिन होता है परन्तु यदि उसको अग्नि की ज्वालाओ का ताप लग जावे तो पतला होकर बहने योग्य हो जाता है, सोने की कठिनता नष्ट हो जाती है, इसी तरह जो मानव आत्मध्यान करना चाहते हैं और वीतरागभावों को मन मे बढ़ाना चाहते हैं उनके मन की थिरता, काम, क्रोध,

मान, माया, लोभ, भय, प्रमाद आदि भावोंके आक्रमण से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उनको इन भावोसे दूर रहना चाहिए तथा उन निमित्तोसे बचना चाहिए जिनके द्वारा मन, काम क्रोधादि भावोमे फँस जावे। इसीलिए उनको आरम्भ परिग्रह का त्याग करना चाहिए। गृहस्थी के प्रपचजालो से अलग रहना चाहिए। लौकिकजनो की सगति से बचना चाहिए। स्त्रियो के ससर्ग से दूर रहना चाहिए। वनो में व एकात स्थानो मे बैठना, शास्त्र स्वाध्याय करना व ध्यान करना चाहिए, अल्पाहारी होना चाहिए। मिष्ट हितकारी वचन बोलने चाहिए। स्वाध्याय व ज्ञान के विचार मे नित्य अनुरक्त होना चाहिए। जिन-जिन कारणो से मनमे चचलता हो जावे व कषायका वेग उठ जावे उन सब निमित्तो से परे रहकर व बिल्कुल मन को निश्चिन्त करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

श्री शुभचद्राचार्य ज्ञानार्णवमे कहते हैं कि वीतरागी को ही आत्मध्यान की सिद्धि होती है—

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेष मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७॥
स कोपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कीचड के हट जाने से मुनि के निर्मल मनरूपी जलमे सम्पूर्ण वस्तु का सर्वस्व प्रकट होता है अर्थात् आत्मा का ध्यान प्रकाशमान होता है। वीतरागी को ही ऐसा कोई परमानंद प्राप्त होता है जिसके सामने तीन लोक का भी अचिंत्य ऐश्वर्य तृण के समान मालूम होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

काम क्रोध विषाद मोह मद से द्वेष प्रमादादि से।
जो मन निर्मल ध्यान बीच रत हो थिरता न होवे तिसे।।
जैसे सुवरण अग्नि ताप वश हो काठिन्य तज देत है।
इम लख ध्यानी काम आदि सबको अति दूर कर देत है।५३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ध्यानीजन मुक्तिके लिए ही ध्यान करते हैं—

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्।।
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धि लभंते ध्रुवं।।५४।।

अन्वयार्थ—(निर्मुक्तभोगस्पृह) जिस महात्मा ने भोगो की इच्छाको त्याग दिया है वही (दुर्वारं) इस कठिनता से वश मे आने योग्य (लोल) लोलुपी या चचल (मनोमर्कटम्) मन रूपी बन्दर को (इन्द्रियगोचरोरुगहने) जो पाचो इन्द्रियो के भोगरूपी महान वन में(चिर)अनादिकाल मे (चरिष्णु) क्रीडा कर रहा है (व्यावृत्य) वहा से हटाकर(हृदयोदरे) हृदय के भीतर (स्थिरतर कृत्वा) पूर्ण स्थिर करके (भवतते मुक्तये)ससार के फैलाव से छुट जाने के लिए (ध्यान ध्यायति) ध्यान का अभ्यास करता है। (हि) यह निश्चय है कि (उपायेन बिना) उपाय के बिना (विधय. कृता.) जो रीतिया की जावे तो वे (ध्रुवम्) खातरी से (सिद्धि) सफलता को (न लभते) नही पाती हैं।

भावार्थ—ससार आठ कर्मों के बधन से ही चल रहा है, इस लिए इन कर्मोंका नाश होना ही ससारका नाश है और मोक्षका

लाभ है। कर्मोंका नाश वीतराग भाव से होता है क्योकि उनका बन्धन रागद्वेषादि भावो से हुआ करता है। वीतराग भावो की प्राप्ति तब ही होती है जब आत्मा का ध्यान किया जाता है। आत्मा का ध्यान उसी समय होता है जब मनरूपी बन्दर को वैराग्यके खूंटेसे बाँध दिया जावे। यह मन अनादिकाल से पाचो इन्द्रियो के भोगो की इच्छामे उलझा हुआ रहता है और महा चचल तथा लोलुपा हो रहा है। इस मन को बारह भावना के चिन्तवन से इन्द्रियो की तरफ से हटाकर स्थिर किया जाता है तब ही ध्यान हो सकता है। इसलिए ध्यान के अभ्यासकर्ता को उचित है कि सम्यग्ज्ञान व वैराग्यके द्वारा मनकी दशा को ठीक करे। पुरुषार्थ के बिना किसी भी कार्यकी सिद्धी नही हो सकती है। लौकिक कार्य के लिए जैसा दीर्घदर्शीपने के साथ विचार करके परिश्रम करने की जरूरत है ऐसे ही पारमार्थिक कार्यों के लिए विचारपूर्वक परिश्रम करने की जरूरत है। मनके मारने से ही कार्य को सिद्धी हो सकती है।

सुभाषित रत्नसदोह मे स्वय अमितगति महाराज कहते हैं–

नो शक्य यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं।
सर्वे नश्यन्ति दोषा भवभयजनका राधतो यस्य पुंसाम्॥
जीवाजीवादितत्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्य निवेश्य।
तत्वे चेतो विदध्याः स्ववशसुखप्रद स्वं तदा त्वं प्रयासि।४०८

भावार्थ—जो तीन लोक के बीच मे मारा-मारा फिरता है उस मन का रोकना बड़ा कठिन है तथापि इसके रुक जाने से मनुष्यो के सर्व ही ससार मे भयको देने वाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए तुम मन को जीव अजीव आदि तत्वोके प्रगट करने में निपुण ऐसे जैन वचन मे लगाकर तत्व के विचार मे इसे जमा

दो तब तुम आत्मीक सुखको देनेवाले अपने आत्मा के स्वभाव को प्राप्त कर लेवे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो इन्द्रिय वन गहन मध्य रमता चिरकाल लोलुपमहा।
दुर्जन मन कपि थांभ आप वशकर कर ध्यान आतम महा।।
इच्छा तजकर भोग होय निस्पृह भवजाल काटो महा।
विन पुरुषार्थ प्रधान काज कोई नहिं सिद्ध होता महा।।५४।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि योगी को एक आत्मतत्वका ही ध्यान करना चाहिए—

चंद्रार्कग्रहतारकाप्रभृतयो यस्य व्यापायेऽखिलाः।
जायंते भुवनप्रकाशकुशला ध्वांतप्रतानोपमाः।।
यद्विज्ञानमयप्रकाशविशदं यद्ध्यायते योगिभिः।
तत्तत्व परिचितनीयममलं देहस्थितं निश्चलं।।५५।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस तत्वके (व्यपाये) अभाव मे (भुवन-प्रकाशकुशला) लोक को प्रकाश करने मे कुशल ऐसे (अखिला.) सर्व (चद्रार्कग्र-तारकाप्रभृतय) चद्रमा, सूर्य, ग्रह तारे आदिक (ध्वानप्रतानोपमा) अधेरे के समूह के समान (जायते) हो जाते हैं (यत् विज्ञानमयप्रकाशविशद) जो ज्ञानमई प्रकाशको बहुत निर्मल रखने वाला है व (यत् योगिभि ध्यायते) जो योगियोके द्वारा ध्याया जाता है (तत्) उस (अमल) निर्मल (निश्चल) व निश्चल (तत्व) आत्मतत्व को (देहस्थित) अपने ही शरीर में विराजमान (परिचितनीयम्) ध्याना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने आत्मा की तरफ ध्यान खिचाया है। वह आत्मा जिसका ज्ञान हमको प्राप्त करना

चाहिए और ज्ञान प्राप्त करके जिसको हमे ध्याना चाहिए यह आतमराम कही दूर नही है आपही है अपने शरीरभरमे सपूर्णपने व्यापक या फैला हुआ है। जैसे घड़े मे जल भरा होता है ऐसेही अपने शरीररूप घटमे सर्व स्थानमे फैला हुआ है। वह पूर्ण ज्ञान मय है—उसका ज्ञान ऐसा निर्मल है कि उसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ दर्पण के समान झलकते हैं, इस आत्मा का जब तक सबध शरीरसे रहता है तबतक ही हम अपनी आँखोसे चद्रमा, सूर्य ग्रह, तारे आदि पदार्थों को देख सकते है। यद्यपि वे लोक में प्रकाशमान हैं और जगतके बाहरी पदार्थोंको झलकाते हैं तथापि यदि हमारे भीतर आत्मतत्व न हो तो हम उनको देख नहीं सकते तब तो वे हमारे लिए मानो अधकार के समूह ही है। जिस आत्मा के होते हुए हम बाहर भीतर सब कुछ देख सकते हैं व जान सकते हैं तथा यही वह आत्मतत्व है जिसका योगीगण ध्यान करते हैं। तीर्थंकर भी इसीका हो अनुभव करते हैं। वही आत्मतत्व हमारी देह मे है वह बिलकुल निर्मल है, कर्मोंके मध्य पडा है तो भी स्वभाव से उनसे भिन्न है। यह ऐसा निश्चय है कि कभी भी अपने स्वभाव को त्यागता नही है ऐसे ही आत्म-तत्व का चिन्तवन हरएक गृहस्थ या मुनि को करना उचित है। यहाँ पर आचाय ने बता दिया है कि जिस तत्व पर पहुचना है व जिस तत्व का ध्यान करना है वह तत्व आप ही है, वह तत्व बिलकुल हमको प्रगट है। यदि वह शरीरमे न होवे तो इद्रियां कुछ जान नही सकती हैं। वह तत्व ज्ञानस्वरूप है सो भी अच्छी तरह प्रगट है। यह निर्मल जलके समान परमशात, परम पवित्र व परम आनन्दमई है, इस तरह जो ज्ञानके चिह्नसे उसे पकडेगा उसे अवश्य वह तत्व मिल जाएगा। बडे-२ साधुजनो को वही तत्व प्यारा है, हमे भी उसे ही ध्याना चाहिए। श्री पद्मनंदि

मुनि सद्बोध चंद्रोदय में कहते हैं—

यः कषायपवनैरचुंबितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दशः ।
किं न मोहतिमिरं विखंडयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ।३७

भावार्थ—जो क्रोधादि कषायो की हवासे स्पर्शित नही होता है, जो ज्ञानरूपी अग्नि को धारने वाला है, जो निर्मलपने उद्योत मान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक जगतमे प्रकाशमान है तो क्या वह मोहरूपी अंधरेको नही खडन करेगा ? वास्तवमे वह दीपक मैं आत्मा ही हूँ । वही मुनि एकत्वाशीति मे कहते हैं—

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोहमिति मे मतिः ।।२७।।

भावार्थ—जो कुछ शरीरादि का सयोग मेरे साथ चला आ रहा है वह सब मुझसे पर है—भिन्न है । जब मैं उनसे मोह त्याग देता हूँ मैं मानो मुक्तरूप ही हूँ ऐसी मेरी बुद्धि है ।

इस तरह के आत्मतत्वको ध्याना परम सुखका कारण है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

शशि सूरजग्रह तारकादि ये सब लोग प्रकाशी रहें ।
पर आतमबिन तन समह जैसे कुछ भी न कोमत लहें ।।
जो विज्ञानमई सुनिर्मल महा यतिजन जिसे ध्यावते ।
वह निश्चल है आत्मतत्व बुधजन निज देह में पावते ।।५५।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी मन मरण आनेवाला है इसको नही देखता हुआ अधर्म मे फसा रहता है—

भक्ष्येतेत्य शरीरमंदिरमिदं मृत्युद्विपेन्द्रः क्षणा-
दित्युच्छ्वासमिषेण मानसबहिर्निर्गत्य किं ॥
पश्यंस्त्वं न निरीक्षसेऽतिचकितं तस्यागतिं चेतनां ।
वै येनामरचेष्टितानि कुरुषे निर्धर्मकर्मोद्यमम् ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मानस) हे मन ! (मृत्युद्विपेन्द्र) मरण रूपी हाथी (एत्य) आकर (क्षणात्) क्षणभर मे (इद शरीरमदिरम्) इस शरीररूपी घरको (भज्येत) तोड डालेगा (इति) ऐसा जानकर (त्व) तू (उच्छ्वासमिषेण) श्वासोच्छवास के बहाने (बहि) बाहर (निर्गत्य निर्गत्य) आ-आकर (अतिचकित) अति भयभीतपने से (पश्यन्) देखता हुआ (वै) बडे खेदकी बात है (तस्य आगतिं) उस मरण के आने की (चेतना) चेतना को (न निरीक्षसे) नही देखता है अर्थात मरण आने वाला है ऐसी बुद्धि अपने भीतर नही जमाता है (येन) यही कारण है जिससे तू (अमरचेष्टानि)अपने को अजर अमर मानके व्यवहार करता हुआ (निर्धर्मकर्मोद्यमम्)धर्म रहित कर्मोका उद्यम(कुरुषे)करता रहता है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने ससारी जीवके मनकी मूर्खता को बताया है कि यह मन मरणसे दिनरात डरता रहता है इसके डरके दष्टातको आचार्यने अलकार देकर बताया है-कि प्राणी के जो श्वास चला करता है सो यह श्वास नही है किन्तु मन बाहर आकर बार-बार डरते हुए देखता है कि कही मरणरूपी हाथी आ तो नही गया। जैसे किसीको कोई कह दे कि तुझे मारने को कोई शत्रु आनेवाला है तो वह उस शत्रु से बचने का उपाय तो न करे, बार-बार घरके बाहर आकर देखा करे कि कही शत्रु आ तो नही गया।

ऐसी मूर्खता यह मन कर रहा है कि बारबार शका किया करता है कि कही मरण न आ जावे परन्तु इस बातमें अपना मन नही जमाता है कि मरण तो एक दिन जरूर आवेगा ही मुझको सावधान हो जाना चाहिए और ऐसा उद्यम करना चाहिए जिस से मेरे आत्माका कल्याण हो, मैं मरकर दुर्गतिमे न जाऊँ। यह ऐसी मूर्खता करता है कि फिरभी अपनेको अजर अमर समझता है और मनचाहा अधर्म कार्य करता रहता है, यही बडे खेद की बात है। प्रयोजन यह है कि हे भव्य जीव ! मरणरूपी हाथी किस समय इस शरीररूपी घरको तोड डाले इसका कोई समय नियत नही है। वह जब अचानक आ जाता है उस समय कुछ उपाय नही बन सकता। इसलिए मरणके आनेके पहले ही तुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए और वह उत्तम कार्य एक आत्मध्यान है। उसकी तरफ पूर्ण लक्ष्य देना चाहिए, यह तात्पर्य है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसद्रोहमे कहते हैं—

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत--
स्तीव्रव्याधिदुरन्तदु:खतरुमत्संसारकांतारगम् ॥
क-शक्नोति शरीरिणं त्रिभुवने पातु नितान्तातुरं।
त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेन्द्रधर्मामृतम् ॥३१७॥

भावार्थ—यह शरीरधारी प्राणी ऐसे भयानक ससाररूपी वनमे पडा हुआ है जहा तीव्र रोग व दु सह दु खमई वृक्ष भरे हैं व जहा बुढापारूपी शिकारी है जिससे वह डरता रहता है व जहाँ मरणरूपी सिंह है और यह प्राणी उसके भयकर मुख के बीचमे आ गया है। अब इस महान् व्याकुल प्राणीको तीन भुवन मे ऐसा कौन है जो बचा सके ? यदि कोई है तो जन्मजरा मरण

को क्षयकारी श्री जिनेन्द्रका धर्मरूपी अमृत है, इसके बिना कोई बचा नहीं सकता है। वास्तवमे वही मानव बुद्धिमान है जो इस मानव देह को अत्यन्त दुर्लभ व छूटने वाला मानकर इसको आत्म धर्म मे लगाकर सफल करते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

क्षण मे नाशे घर शरीर तेरा है मृत्यु हाथो बड़ा।
भय से श्वासें बार बार लेके क्यो है तु बाहर खड़ा॥
श्रद्धा नहि करता कि होय मरना माने अमर मैं रहूँ।
रे मन! मूरख पापकर्म उद्यम करता तुझे क्या कहूँ॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो परिग्रहवान हैं वे सदा आरम्भ के विकल्प किया करते हैं और जैनधर्म मे प्रीति नहीं करते।

शिखरिणी वृत्तम्

करिष्यामीद व कृतमिदमिद कृत्यमधुना।
करोमीति व्यग्र नयसि सकल कालमफलम्॥
सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं।
न जंने शुचितत्वे बचसि रमसेनिर्वृतिकरे॥५७॥

अन्वयार्थ—(इद) यह (करिष्यामि) मैं करूँगा (वा) अथवा (इद कृत) यह मैंने किया था (अधुना इद कृत्य करोमि) या अब मैं यह काम करता हूँ (इति) इस तरह (व्यग्र) घबडाया हुआ (सदा) हमेशा (रागद्वेषप्रचयनपर) रागद्वेष के करने मे लगा हुआ (स्वार्थविमुख) अपने आत्माके हितमे विमुख होता हुआ तू (सकल काल) अपने सम्पूर्ण जीवके समय को (अफल) निष्फल (नयसि) गमा रहा है परन्तु (शुचितत्वे) पवित्र तत्व को बताने

वाले व (निर्वृतिकरे) मोक्षको प्राप्त कराने वाले (जैने वचसि) जिन वचन मे (न रमसे) रमण नही करता है।

भावार्थ--यहाँ पर आचार्य इस मूर्ख मनको समझाते हैं कि तू ऐसा शरीर स्त्री, धन, पुत्र, कुटुम्ब आदि के मोह में पड़ा हुआ हैं कि रात-दिन तेरे यही विचार रहा करता है कि मैंने यह काम तो कर लिया है और यह काम मैं इस समय कर रहा हूँ व ऐसा वैसा काम मुझे भविष्यमे करना है, यह तेरी विचारोकी शृंखला तेरी जिन्दगी भर चलती रहती है। जैसे तू विचार करता है कि अब इतना धन कमा लिया है, अब वह धन कमा रहा हूँ, अभी इतना धन कमाना है। एक पुत्रका विवाह कर चुका हूँ दूसरेका विवाह करना है। एक पुत्रको व्यापार मे लगा चुका हूँ दूसरेको व्यापार मे लगाना है। पुत्रके पुत्रका अर्थात् पोते का मुँह देखना है। पोता होवे तो शीघ्र बडा करके उसका विवाह करके उसकी वधू को भी देखना है। उसने मेरा बडा बिगाड किया है उसे इसका बदला पहुचाना है। मेरी स्त्री बहुत वस्त्राभूषण चाहती है इसके लिए गहना बनवाना है। आज अमुक व्यापारी का दिवाला निकल गया। रकम डूब गई क्या करूँ। उस पर किसी तरह मुकद्दमा चलाना है। इस तरह करोड़ो कामोको तू विचार करता है। सबेरे से शाम होती है, शाम से सबेरा होता है, तू तो ससारी काम धधोकी ही चितामे फँसा रहता है, कभी उन कामों की डोरी नही टूटती। उधर मरण निकट आ जाता है, तू बावला अपने आत्मा के हितके लिए कुछ भी समय नही निकालता है—ममता मोहमे और रागद्वेष मे फँसा हुआ सारा जीवन बिताकर इस अमूल्य नरजन्म को खो देता है। परमोपकारी जैनधर्म मे रुचि नही लगाता है न जिनवाणी को पढ़ता है जिससे

सच्चे आत्मतत्त्व का ज्ञान होवे और इस मोक्षमार्ग को प्राप्तकर सके। अतएव आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान प्राणी को उचित है कि गृहस्थ के जजालमे बावला न होवे और जिनवाणीकी शरण लेकर अपना सच्चा हित कर डाले।

वास्तव मे जो इंद्रियो के विषयो मे उलझ जाता है उसका जन्म यो ही चला जाता है। सुभाषितरत्नसदोह मे स्वामी अमितगति जी कहते हैं—

एकैकमक्षविषयं भजताममीषा
संपद्यते यदि कृतान्तगृहातिथित्वम्।
पंचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्य—
मक्षार्थमित्यमलधीरधियस्त्यजन्ति ॥८८॥

भावार्थ—एक एक इद्रियो के वश मे रहने वाले जीवो को यदि यमराज के घर का अतिथि होना पडता है तब जो जीव पाचो इद्रियो के विषय मे रत होता है उसके लिए क्या कहा जावे ऐसा जानकर निर्मल और धीर बुद्धि रखने वाले पुरुष इद्रिय विषयो को छोड देते है।

मूल श्लोकानुसार शिखरिणी छन्द

करूँगा यह कारज अर कर चुका कार्य यह मै।
अभी यह करता हू रत नित प्रीति मोह तन्मय॥
गमावे सब जीवन विफल कर निज हित न देवे।
शिवकर जिन वच मे ध्यान कुछ भी न देवे ॥५७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि धर्मही प्राणीका रक्षक है—

कुर्वाणोऽपि निरंतरामनुदिनं बाधां विरुद्धक्रियां।
धर्मारोपितमानसैर्न रुचिभिर्व्यापाद्यते कश्चन॥

धर्मापोढधियः परस्परमिमे निघ्नन्ति निष्कारणम् ।
यत्तद्धर्ममपास्य नास्ति भुवने रक्षाकरं देहिनां ॥५८॥

अन्वयार्थ—(कश्चन) कोई मानव (अनुदिन) प्रतिदिन (निरतरा) बहुतसी (बाधा) बाधा कारक (विरुद्धक्रिया) विरुद्ध क्रिया को (कुर्वाणः अपि) करता रहता है तो भी (धर्मारोपित मानसैः रुचिभि) धर्म मे मन को जमाये रखने वाले रुचिवान प्राणियोके द्वारा (न) नही (व्यापाद्यते) पीड़ित किया जाता है, (धर्मापोढधियः) धर्ममे जिनकी बुद्धि नही है ऐसे मानव (परस्परम्) परस्पर (निष्कारणम्) बिना कारण (निघ्नन्ति) घात करते रहते हैं (यत् तत् धर्मम्) ऐसा धर्म है उसको (अपास्य) छोडकर (भुवने) इस जगतमे (देहिना) शरीर धारियो का (रक्षाकर) रक्षा करने वाला और (नास्ति) नही है ।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने धर्म की महिमा बताई है कि जिनके चित्तमे धर्मभाव है, जो दयालु है व क्षमावान हैं वे किसी को पीड़ा नही देते । यदि कोई उनको बाधा देता है व उनके विरुद्ध क्रिया करता है तो भी उस पर क्षमा भाव रखके उनको कष्ट नही देते । वीतरागी जैन साधुओमे धर्म भाव पूर्ण रीति से भरा रहता है इसलिए वे किसी को सताते नही है कोई उपसर्ग करे तोभी क्रोध नही लाते है । यह महिमा उनके भीतर शात भावरूपी धर्महीकी है परन्तु जिनके हृदयमे दया, क्षमा, शाति आदि धर्म नही होते हैं व बिना कारण ही एक दूसरे से लडते झगड़ते रहते हैं व कष्ट देते रहते हैं व प्राण तक लेते रहते है । वास्तवमे तीन लोकमे जीवोकी रक्षा करने वाला एक धर्मही है । धर्म जिसके मन मे है वह प्राणियो का रक्षक है । धर्म जिसके मन नही वह प्राणियो का हिंसक है । यदि कष्ट दूगा तो इसको

वैसा ही कष्ट होगा जैसा मेरेको होता है यह भाव जिनके दिल में होता है वे ही धर्मात्मा हैं। धर्म जिसमे नही है वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। स्वामी अमितगति सुभषित रत्नसदोह में कहते हैं—

हरतिजननदुःखं मुक्तिसौख्यं विधत्ते।
रचयति शुभबुद्धि पापबुद्धि धुनोते॥
अवतिसकलजन्तून् कर्मशत्रून्निहन्ति।
प्रशमयति मनोर्यस्यं बुधा धर्ममाहुः॥७०८॥

भावार्थ—जो ससार के दु खोको हरता है, मुक्तिके सुख को देता है, सच्ची बुद्धि बनाता है, पाप की बुद्धिको मिटाता है, सर्व प्राणियो की रक्षा करता है, तन तथा मनको शात रखता है उसे ही बुद्धिमानो ने धर्म कहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो करता दिन रात कार्य उल्टे बाधा करे सर्वदा।
जो धर्मी रुचिवान आर्द्रचित हा वाको न मारे कदा॥
आपसमें कारण बिना हि हिंसक जो धर्म पावे नहीं।
प्राणीरक्षक धर्म बिन जगत में को और भावे नहीं॥५८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परिग्रह को एक दिन छोडना पडेगा उसको तू अपने आप ही क्यों नहीं छोडता है—

नानारंभपरायणैर्नरवरैरावर्ज्य यत्त्यज्यते।
दुःप्राप्योऽपि परिग्रहस्तृणमिव प्राणप्रयाणे पुनः॥
आदावेव विमुंच दुःखजनकं तं त्वं त्रिधा दूरत—
श्चेतो मस्करिमोदकव्यतिकरं हास्यास्पदं मा कृथाः॥५९

अन्वयार्थ—(नानारम्भपरायणैः)तरह-२ के आरम्भोमे लीन (निरवरै) बडे-२ मनुष्योंके द्वारा (आवर्ज्य) एकत्र करके (दु·-प्राप्य अपि)कठिनतासे प्राप्त करने योग्य ऐसाभी (य: परिग्रह.) जो परिग्रह (प्राणप्रयाणे) प्राणोके वियोग होने पर (तृण इव) तिनके के समान (त्यज्यते) छोड़ देना पडता है (पुन) परन्तु (त्व) तू (दुःखजनक तं) दूःखोंको उत्पन्न करने वाले उस परिग्रह को (आदौ एव) पहले ही (दूरतः) दूरसे (त्रिधा) मन, वचन, काय तीनोसे (विमुच) छोड़ दे (चेत. मस्करिमोदकव्यतिकर) तू अपने चित्तको भिष्टामें पडे हुए लाड्डूको उठाकर फिर फेंककर (हास्यास्पद) मा कृथा·) हँसी का स्थान मत बन।

भावार्थ—यहां पर आचार्य कहते हैं कि राज्य लक्ष्मी आदि परिग्रह बडी-२ मिहनतोसे एकत्रित किये जाते हैं। ऐसीभी वस्तुएँ सग्रह की जाती हैं जो हरएकको मिलना दुर्लभ हैं। परतु करोडो की सपत्ति क्यों न हो व कैसी भी कठिनता से क्यो न एकत्र की गई हो वह सब परिग्रह बिलकुल छोड देना पडता है जब मरण का समय आ जाता है। जैसे हाथ से तिनका गिर पडे ऐसे ही सब छूट जाता है। जब परिग्रह आत्मा के साथ जाने वाला नही है तब ज्ञानवान प्राणीको उचित है कि पहले वह परिग्रह स्वयं छूटे, ज्ञानीको स्वय मोह त्यागकर छोड देना चाहिए और यदि परिग्रह नही हो तो नया परिग्रह एकत्र करने की लालसा न करनी चाहिए। परिग्रहको ग्रहण कर फिर छोडना वास्तव मे हँसी का स्थान है। जैसे एक फकीरको किसीने बहुतसे लड्डू दिये उसमे से एक लड्डू विष्टा मे गिर पड़ा, उस लोभी ने उसे उठा लिया तब किसी ने कहा कि ऐसे अशुद्ध लड्डू को तुमने क्यो उठाया ? तब वह कहने लगा कि मैंने उठा लिया है परन्तु घर

जाकर इसे छोड दूगा। तब उसने बडी हँसी उडाई कि अरे जिसको फेंकना ही है उसको उठाने की क्या जरूरत थी ? इसी दृष्टातसे आचार्य ने समझाया है कि यह परिग्रह त्यागने योग्य है, इसे ग्रहण करना बुद्धिमानी नही है—यह आत्मकार्यमें बाधक है वास्तव मे चेतन अचेतन परिग्रह का मोह आत्माको करोडों सकल्प विकल्पो मे पटक देने वाला है। इससे जो निर्विकल्प समाधि को चाहते हैं और आत्मीक आनद के भोगने के इच्छुक हैं उनको यह परिग्रह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

श्री शुभचन्द्र आचार्य ने ज्ञानार्णव में कहा है—

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणै.।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः संगैरभिद्रुतः ॥१८॥

भावार्थ—यह मानव परिग्रहो से पीड़ित होता हुआ इद्रियों के विषयरूपी सर्पोंसे काटा जाता है, कामके बाणोसे भेदा जाता है तथा स्त्रीरूपी शिकारीसे पकड़ लिया जाता है।

यः संगपंकनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात् त्रिदशाचलम् ॥१९॥

भावार्थ—जो मूर्ख परिग्रहकी कीचड़ मे डूबा हुआ भी मोक्ष के लिए चेष्टा करता है वह मानो फूलो के बाणोसे सुमेरु पर्वत को तोडना चाहता है।

अणुमात्रादपि ग्रंथान्मोहग्रंथिर्दृढीभवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥२०॥

भावार्थ—जरासे भी परिग्रह से मोहकी गांठ दृढ हो जाती है। इससे तृष्णा की बुद्धि ऐसी होती है कि उनकी शातिके लिए सर्व जगत भी समर्थ नही होता।

मूलश्लोकानुसार शार्दुलविक्रीडित छन्द

नाना उद्यम बांध-बांध दुष्कर संचय परिग्रह किया।
आवा अब कहिं मरण बल नहिं चला तृणवत् सु त्याग जु किया॥
दुःखकारी तिहजान बुधजन तिसे पहले हि त्यागनकरो।
मूरख मलगति मोदक तु गहके क्यो त्याग लज्जाहरो॥५६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो मानव भाई, पुत्र, मित्रादि मे मोह करता है वह वृथा शोक करके कष्ट पाता है।

स्वाभिप्रायवशाद्विभिन्नगतयो ये भ्रातृपुत्रादयः।
तांस्त्व मीलयितुं करोषि सततं चित्त प्रयास वृथा॥
गच्छन्तः परिमाणवो दश दिशः कल्पान्तवातेरिताः।
शक्यंते न कदाचनापि पुरुषैरेकत्र कर्तुं ध्रुवम्॥६०॥

अन्वयार्थ—(भ्रातृपुत्रादयः) जो भाई व पुत्र आदि कुटुम्बी (स्वभिप्रायवशात्) अपने-अपने आशयरूप भावोके द्वारा कर्म बाधकर (विभिन्नगतय) भिन्न-२ गतिको चले गए हैं (तान्) उनसे (मीलयितु) मिलने के लिए(चित्त) रे मन(त्व) तू(सतत) निरन्तर (प्रयास) प्रयत्न(वृथा) बेमतलब (करोषि) करता है (कल्पातवातेरिता:)कल्पकालकी पवनकी प्रेरणासे(परिमाणव·) जो परमाणु (दश दिशः) दस दिशाओ मे (गच्छन्त.) चले गए हैं उनको(एकत्र कर्तुं) इकट्ठा करना(ध्रुवं)निश्चयसे(कदाचनापि कभी भी (पुरुषैः) पुरुषो के द्वारा (न शक्यन्ते) नही शक्य हो सकता है।

भावार्थ—यहा आचार्य अज्ञानी जीव की चेष्टा बताते हैं कि यह जीव स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदिको को अपना मान लेता है। जब उनमेंसे किसीका मरण हो जाता है तब उनके मिलनेके लिए शोक किया करता है। वे कभी फिर उसी शरीरमे आकर मिल नही सकते, क्योंकि उनमे से हरएक का जीव अपने-अपने शुभ या अशुभ भावोंके अनुसार जैसा आयु कर्म बांध चुका था उस ही गति मे चला गया है। किसीने देवआयु बांधी थी तो वह देव हो गया, किसीने नरक आयु बाधी थी वह नारकी हो गया, किसीने पशु आयु बांधी थी सो पशु हो गया, किसीने मनुष्य आयु बांधी थी सो फिर कोई अन्य प्रकार का मनुष्य हो गया। उनके शरीरो को उनके कुटुम्बी अपने सामने दग्ध हो कर चुके हैं। इस लिए अपने मरे हुए पुत्रादि का सोच करना कि वे किसी तरह मिल जावें, महान बावलापना है। यह ऐसा ही असंभव है जैसे उन परमाणुओको फिर इकट्ठा करना असम्भव है जो कल्पकाल की पवन की प्रेरणासे दस दिशाओमे उड गए हैं। किसी मानव को शक्ति नही है कि उनको सचय कर सके। इसी तरह किसी मानव की शक्ति नही है कि मरे हुओको जिला सके व उनसे मिल सके। इससे हमें व्यर्थकी चिंता छोडकर अपने निज कार्यमें तत्पर रहना चाहिए।

श्री पद्मनंदि स्वामी ने अनित्य पंचाशत् मे बहुत अच्छा कहा है—

एकद्रुमे निशि वसंति यथा शकुंताः।
प्रातः प्रयांति सहसा सकलासु दिक्षु॥
स्थित्वाकुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा।
लोकाः श्रयंति विदुषा खलु शोच्यते कः॥१६॥

भावार्थ—जैसे एक वृक्ष पर रात्रिको बसेरा करनेवाले पक्षी सबेरा होते ही सर्व दिशाओं में यकायक भाग जाते हैं। इसी तरह प्राणी एक कुलमें आयुपर्यंत ठहरकर फिर मरकर अपने-२ कर्मानुसार अन्य कुलोमे आश्रयकर लेते हैं विद्वान किस किसका सोच करे ? सोच करना वृथा है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

भाई पुत्र कलत्र मित्र आदि निज भाव अनुसार थे।
गतिको बाँधत जात भिन्न गतिको मिलते न को काल थे।
तिनका सोच वृथा न बुद्ध करते परमाणु मिलना कठिन।
जो भागे दसदिशा पवन सेती कल्पांत के अशुभ दिन ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भोगोपभोग पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है क्योंकि उनसे तृप्ति नही होती है।

भोजं भोजमपाकृता हृदय ये भोगास्त्वयानेकधा।
तांस्त्वं कांक्षसि किं पुनः पुनरहो तत्राग्निनिक्षेपिणः॥
तृप्तिस्तेषु कदाचिदस्ति तव नो तृष्णोदयं बिभ्रतः।
देशे चित्रमरौ चिसंचयचिते वल्ली कुतो जायते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(हृदय) हे मन (त्वया) तेरे द्वारा (ये अनेकधा भोगाः) जो अनेक प्रकार के भोग(भोजं भोजं)भोग-भोग करके (अपाकृता) छोड़े जा चुके हैं (अहो) अहो बड़े खेद की बात है कि(त्वं)तू(पुनः पुनः)बारबार(तान्)उन ही को(कांक्षसि)इच्छा करता है वे भोग (तत्र अग्निनिक्षेपिण.) तेरी इच्छा में अग्नि डालने के समान है अर्थात तृष्णाको बढाने वाले हैं (तृष्णोदयं बिभ्रतः तव) तृष्णा की वृद्धिको रखने वाला ऐसा तू जो है सो तेरी (तृप्तिः) तृप्ति(तेषु)उन भोगोंके भीतर(कदाचित्)कभीभी

(न अस्ति)नही हो सकती है। जैसे(चित्रमरीचिसचयचिते देशे) कड़ी धूप से तप्तायमान स्थान मे या आग मे तपाए हुए स्थानमें (कुतः)किस तरह (वल्ली) वेल (जायते) उग सकती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने भोगा सकता मानवकी भोगो की वाछाको धिक्कारा है। इस जीवने अनतकाल हो गया चारो ही गतिके भीतर भ्रमण करते हुए अनेक शरीर धारण करके उनमे अनेक प्रकार इद्रियो के भोग भोगे और छोडे, उनके अनतकाल भोग लेने से भी जब एक भी इद्रिय तृप्त नही हुई तब अब भोगोके भोगने से इन्द्रिया कैसे तृप्त होगी ? वास्तवमे जैसे अग्निमे इन्धन डालने से अग्नि बढ़ती चली जाती है वैसे इन्द्रियो के भोगोके भोगने से तृष्णाकी आग और बढ़ती चली जाती है। तृष्णावान प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसको इन भोगो से कभी भी तृप्ति नही हो सकी है जैसे अग्नि से या धूप से तपे हुए जलते स्थानमे कोई भी बेलका वृक्ष नहीं उग सकता है। इसलिए बुद्धिमानोको बारबार भोगोको भोगकर छोडे हुए भोगो की फिर इच्छा न करनी चाहिए। क्योकि जो तृष्णारूपी रोग भोगोके भोगनेरूप औषधि सेवन से मिट जावे तब तो भोग को चाहना मिलाना व भोगना उचित है, परन्तु भोगो के कारण तृष्णाका रोग और अधिक वढ़ जावे तब भोगोकी दवाई मिथ्या है यह समझकर इस दवाका राग छोड़ देना चाहिए। वह सच्ची दवा ढूढ़नी चाहिए जिससे तृष्णाका रोग मिट जावे। वह दवा एक शात रसमय निजआत्माका ध्यान है जिससे स्वाधीन आनद जितना मिलता जाता है उतना-उतना ही विषय भोगोका राज घटता जाता है स्वाधीन सुख के विलास से ही विषयभोग की वाछा मिट जाती है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोड़कर

अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

सौख्यं यदत्र विजितेन्द्रियशत्रुदर्पः।
प्राप्नोति पापरहितं विगतान्तरायम्॥
स्वस्थं तदात्मकमनात्मधिया विलभ्यं।
किं तद्दुरन्तविषयानलतप्तचित्तः॥६४॥

भावार्थ—जिस महात्मा ने इन्द्रियरूपी शत्रु के घमंड को मर्दन कर दिया है वह जैसा पाप रहित तथा अपने आत्मामें ही स्थित अनात्मज्ञानी जीवोसे न अनुभव करने योग्य आत्मीक सुख को पाता है वैसे सुख को वह मनुष्य कदापि नही पा सकता है जिसका चित्त भयानक विषयो की अग्नि से जलता रहता है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

रे मन ! तूने भोग भोग छोड़े इन्द्रिय विषय बहु तरह।
क्यो तू चाहे बारबार उनको तृष्णाग्नि वृद्धि करै॥
जो तृष्णातुर होय भोग करते तृप्ति न होवे कभी।
अग्नि से जलते कुखेत माहीं नहिं बेल उगती कभी॥६१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जीवको पर पदार्थ में अहंकार छोडकर आत्मध्यान करना योग्य है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम्।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः॥६२॥

अन्वयार्थ—(आत्मन) हे आत्मा (अह शूरः) मैं वीर हूँ (अह शुभधीः) मैं शुभ बुद्धिधारी हूँ (अह मान्य.) मैं माननीय हूं (अह गुणवान्) मैं गुणवान् हूँ (अह विभुः) मैं समर्थवान हूँ (अह पुसाम् अग्रणीः) तथा मैं पुरुषो मे मुखिया हूँ (इति) इस तरह को (दुष्कृतकरी) पापको बाधनेवाली (कल्पनाम्) कल्पना को व मान्यताको (सर्वथा) सब तरह से (अपहाय) दूर करके (त्व) तू (शश्वत्) निरन्तर(तत् अमल आत्मतत्व) उस निर्मल आत्मतत्वको (ध्याय)ध्यान कर (यतः) जिससे (नै.श्रेयसीश्री.) मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बताया है कि आत्मध्यान के लिए आत्मा के यथार्थ ज्ञान होने की आवश्यकता है। ससारी लोग शरीर, धन, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा, बल, बुद्धि आदि पाकर ऐसा अहकार कर लेतेहै कि मैं सुन्दर हूँ, मै धनवान हूँ, मैं बहुकुटुम्बी हूं, मैं प्रतिष्ठावान हूं, मै बलवान हूं मैं धनवान हूँ यह उनका मानना बिलकुल मिथ्या है क्योकि एक दिन वह आएगा जिस दिन ये सब परपदाथ व परभाव जो कर्मों के निमित्त से हुए है छूट जाएगे और यह जीव अपने बांधे पुण्य पापको लेकर चला जाएगा। ज्ञानी जीव अपना आत्मपना अपने आत्मामे ही रखते हैं वे निश्चय नयके द्वारा अपने आत्मा के असली स्वभाव पर निश्चय रखते हैं कि यह आत्मा सर्व रागादि विभावो से रहित है सर्व कर्म के बधनो से रहित है। सर्व प्रकार के शरीरसे रहित है। आत्माका सम्बन्ध किसी चेतन व अचेतन पदार्थसे नही है। ये सब शरीरसे सम्बन्ध रखते है जो मात्र इस आत्माका क्षणिक घर है इसलिए उन ज्ञानी जीवो की अह बुद्धि अपने ही शुद्ध स्वरूप पर रहती है। व्यवहार मे काम करते हुए गृहस्थ ज्ञानी चाहे यह कह दें कि मैं राजा हू, वैद्य हूँ, शूर हूँ, चतुर हूँ, समर्थ

हूँ परन्तु वह अपने भीतर जानते हैं कि यह मुझे व्यवहार के चलाने के लिए व्यवहार नय से ऐसा कहना पड़ता है परन्तु मैं इन स्वरूप असलमे नहीं हूँ। मैं तो वास्तव मे सिद्ध भगवान के समान ज्ञाता दृष्टा आनदमई पदार्थ हूँ। ऐसा श्रद्धान रखता हुआ ज्ञानी जीव सर्व ही व्यवहारिक कल्पना जालको जो पाप बधकारक हैं छोडकर एक अपने आत्माको ही निश्चल मन करके ध्याता है। आत्माके ध्यानसे ही वीतरागता की अग्नि जलती है जो कर्मोंके ईन्धनको जला देती है और आत्माको स्वर्णके समान शुद्ध करती चली जाती है। इसलिए ज्ञानीको आत्मध्यान ही करना योग्य है जिससे मुक्ति की लक्ष्मी स्वय आकर मिल जावे और ससारके चक्र का फिरन मिट जावे।

एकत्वाशीति मे श्री पद्मनदि मुनि कहते हैं—

शुद्धं यदेव चैतन्य तदेवाहं न संशयः।
यथा कल्पनया येतद्धीनमानन्दमंदिरम् ॥५२॥

भावार्थ—"जो कोई शुद्ध चैतन्यमयी पदार्थ हैं वही मैं हूँ इसमे कोई संशय नही हैं।" ये वचनरूप व विचाररूप कल्पना भी जिसमें नही है ऐसा मैं एक आनन्द का घर हूँ।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्।
सं 'धोपि न केनापि दृढ़ पक्षो ममेदृशः ॥५४॥

भावार्थ—मैं एक चैतन्यमयी हूँ और कुछ अन्य रूप कभी नही होता हूँ। मेरा किसी भी पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है यह मेरा पक्ष परम मजबूत ऐसा ही है।

इस तरह जो दृढ़ता से आत्मज्ञानी हैं वे ही आत्मध्यान करने को समर्थ हो सकते हैं—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मैं हूं शूर सुबुद्धि चतुर महा धनवान सबसे बड़ा।
मैं गुणवान समर्थ मान्य जगमें मैं लोक में हूं बड़ा।
हे आत्मन् ! यह कल्पना दुःखकरी तू सर्वथा दूर कर।
नित निज आतमतत्त्व ध्याय निर्मल श्रीमोक्ष आवेश्यकर ।।६२।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि क्रोधादि कषायोंके त्याग बिना मोक्ष होना कठिन है।

मालिनी वृत्तम्

धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्।
यदि यतिनिकुरुम्बं जायते कर्मरिक्तम् ।।
भवति ननु तदानीं सिंहपोताविदार्य-
शशकनलकरंध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ।।६३।।

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (धृतविविधकषायग्रंथलिंगव्यवस्थम्) नाना प्रकार क्रोध मानादि कषायोंको, परिग्रह को तथा भेषकी व्यवस्था को पकडकर रहने वाले (यतिनिकुरुम्बं) साधुओं का समूह (कर्मरिक्तम्) कर्मों से खाली (जायते) हो जावे अर्थात मुक्त हो जावे तो (ननु) मैं ऐसा मानता हूँ कि (तदानी) तब तो (सिंहपोताविदार्य शशकनलकरध्रे) सिंह के बच्चे के द्वारा विदारण करने को अशक्य खरगोश की हड्डी के महीन छेद मे (हस्तियूथं) हाथियो का समुदाय (प्रविष्टम् भवति) प्रवेश कर जावे।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने दिखलाया है कि जो यथाजात मुनि भेष, परिग्रह रहितपना व कषायोंकी उपसमताको ध्यानमें न

लेकर तथा मनमानी परिग्रह व मनमाने तरह-२ के भेषोंको रख लें तथा क्रोध मान माया लोभादि कषायों को भी न छोडें और यह मान लें कि हम मुनि हैं, हम तो जरूर कर्मों से छूटकर मुक्त हो जावेगे तो उनका यह मानना एक असंभव बात को सम्भव करनेकी इच्छा करना है। जैसे यह असंभव है कि खरगोश की हड्डी के भीतर ऐसा महीन कोई छेद हो जिसको सिहका बच्चा भी नही फाड सके उस छेदके भीतर कोई मान ले कि हाथियों के समूह घुसे चले जावेगे तो यह मानना बिलकुल असंभव है उसी तरह यह मानना असभव है कि अतरग व बहिरंग को परिग्रहको त्यागे बिना कोई मुक्तहो जायगा। परिग्रह और क्रोधादि कषाय ही तो ससारके बढाने वाले हैं बधको नित्यप्रति कराने वाले हैं उनके रहते हुए मानना कि मैं मुक्त हो जाऊँगा बिलकुल उन्मत्तका भाव है। प्रयोजन कहनेका यह है कि यदि मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहते हो तो सर्व परिग्रहको व कषायादि भावोको त्यागो। पूर्ण साम्यभाव रूपी चारित्रका आश्रय लो। तब ही वीतरागता झलकेगी, यही परिणति कर्मोंकी निर्जरा कराने वाली है तथा मोक्षकी प्राप्ति कराने वाली है।

परिग्रह मोक्षमार्ग मे बाधक है ऐसा श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं—

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥२६॥

भावार्थ—यदि कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड़ दें और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे तो भी अंतरंग-बहिरंग परिग्रह सहित मुनि कभी जितेन्द्रिय नही हो सकता है।

न स्यात् ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥३९॥

भावार्थ—जिस मुनि का मन परिग्रहरूपी पिशाच से अनेक तरह से पीडित है उसका चित्त ध्यान करते समय स्वप्न मे भी निश्चल नही रह सकता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

धर विविध कषाये ग्रंथ कर भेष नाना।
यदि यति गण चाहें कर्म से छूट जाना।
शशक हाड़ छिद्रं शिशु सिंह नहिं छेद पावे।
किम हस्ती यूथं वामें प्रवेश पावे ॥६३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्त्रियो के सुख को सुख जानते हैं उनकी समझ ठीक नही है।

कष्टं वंचनकारिणीष्वपि सदा नारीषु तृष्णापराः।
शर्माशां न कदाचनापि कुधियो मर्त्या विपर्याशया ॥
मुंचंते मृगतृष्णिकास्विव मृगाः पानीयकांक्षा यतो।
धिक्तं मोहमनर्थवानकुशलं पुंसामवार्योदयम् ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कष्टं) यह बडे दुखकी बात है कि (विपर्याशया) विरुद्ध अभिप्राय रखने वाले मिथ्यादृष्टि (कुधियाः)और मिथ्यात्व बुद्धिधारी (मर्त्या) मनुष्य (वचनकारिणीषु अपि नारीषु)मानवके मनको फँसाने वाली स्त्रियोमे भी (सदा तृष्णापरा.)सदा तृष्णाको रखते हुए (कदाचनापि)कभी भी(शर्माशा) सुख की आशा को (न मुचते) नही छोडते है (मृगा. मृगतृष्णिकासु पानीयकाक्षां इव) जैसे हिरण मृग जलमे अर्थात् पानी जैसे

चमकने वाले रेत मे पानी की इच्छा को कभी नही छोड़ते हैं (यतः) इसीलिए यह कहना पड़ता है कि (पुसाम्) जीवो को (अनर्थदानकुशल) संकटो के देने मे कुशल (अवार्योदयम्) व जिसके प्रभाव को दूर करना कठिन है (त मोह) ऐसे मोह को (धिक्) धिक्कार हो।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने बताया है कि स्त्रियो की तरफ का मोह ऐसा भुलाने वाला है कि यह मोहित प्राणी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसे वासित हो बारबार स्त्रियोके फदेमे फँसता है और बारबार दुःख उठाता है अपनी तृष्णा को बुझाने के स्थान में अधिक बढा लेता है। फिर भी स्त्रियो के भीतर सुख की वाछा से मोह करता है। दु.ख सह करके भी दु खके कारणको बार-२ ग्रहण करता है इस मोही प्राणी का हाल ठीक उस हिरण के समान है जो रेतीके जगल मे प्यासा होकर पानीको न पाता हुआ दूरसे चमकती हुई रेतको पानीके भ्रम मे फँसकर पीने को जाता है। वहा पानी न पाकर प्यासको अधिक बढ़ा लेता है फिर भी नही समझता है बारबार रेतो मे जा-जाकर व कष्ट उठा-उठाकर आकुलित होता है। आचार्य कहते हैं कि इस मोहके नशे को धिक्कार हो जिसके कारणसे यह प्राणी व्यर्थ महान कष्ट पाता है व जिस मोहको दूर करना भी बड़ा कठिन है। तात्पर्य यह है कि हे मन ! तू सावधान रह किसी भी तरह स्त्रियो के मोहमे न फँस नही तो महान आपत्तियो मे फँस जायगा और निरन्तर तृष्णावान रहकर व्याकुल रहेगा। आत्मीक सुख का प्रेमी होना योग्य है जो स्वाधीन है, पराधीन सुखमे लिप्त होकर ससारमे कष्ट पाना उचित नही है। स्त्री विषय का सुख सदा प्राणीको कष्टमे पटकने वाला है। जैसा सुभाषितरत्नसदोह में श्री अमितगति आचार्य कहते हैं—

एकभवे रिपुन्नगदुःखं जन्मशतेषु मनोभवदुःखम् ।
चारुधियेति विचिन्त्य महान्तः कामरिपुं क्षणतः क्षपयंति ।५९४
संयमधर्मविबद्धशरीराः साधुभटाः शरवैरिणमुग्रम् ।
शीलतप शितशस्त्रनिपातैर्दर्शनबोधबलाद्विधुनन्ति ।।५९५

भावार्थ – शत्रु या सर्प एक जन्ममे दुःख देते हैं । परन्तु कामदेवके द्वारा सैंकडो जन्मोमे दुःख प्राप्त होता है इसलिए महान पुरुष बुद्धि द्वारा विचार करके इस कामरूपी शत्रु को क्षण में नाश कर देते हैं। जो वीर साधु संयम और धर्म के पालने में अपने शरीरको लगाने वाले हैं वे शील व तपरूपी तीक्ष्ण बाणों को मारकर अपने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बलसे इस भयानक कामरूपी वैरीका सहार कर डालते हैं ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मिथ्याती अज्ञान भावधारी नारीन में कर रती ।
पुन पुन लह भव कष्ट आश **सुखकी तजता नहीं दुर्मती ।।**
जिम मृगतृष्णा बीच चाह जलकी तजता नहीं मृग कभी ।
धिक् धिक् प्राणी कष्टकार मोहं जोता न जाता कभी ।।६४

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भव्य जीवोको उचित है कि आत्माके बैरी जो विषय कषाय हैं उनको नाश करे ।

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे ।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा ।।
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो ।
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं ।।

अन्वयार्थ—(पापानोकहसकुले) हिंसादि पापरूपी वृक्षों से गाढभरे हुए तथा (दु खादिभि दुर्गमे) दुःख शोक आदि कष्टोंसे

कठिनतासे बचने योग्य ऐसे (भववने) ससाररूपी वन मे (यै.-कषायविषयैं) जिन इद्रियो के विषय और क्रोधादि कषायो के द्वारा (त्व अज्ञानवश·) तू अज्ञानके फदेमे पडा हुआ (अनेकधा) अनेक तरहसे (पीड़ित.) दु खी किया गया है (रे) रे चतुर पुरुष तू (अधुना) अब तो (पूत) पवित्र (ज्ञान) ज्ञानको (उपेत्य) पा कर (तान्) इन विषय कषायोको (अशेषत.) सम्पूर्णपने(विध्वसय) नाश कर। (स्फुटं) यह बात साफ है कि (विद्वास:) विद्वान पुरुष (समये) अवसर पाकर (शत्रुन्) शत्रुओ को (अहत्वा) बिना मारे (न परित्यजति) नही छोड़ते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि इस ससार वनमे कषाय और विषय बड़े भारी लुटेरे हैं। अज्ञानी प्राणी इनके मोहमे फँसकर वनमे घूमता फिरता है हिंसादि क्रूर कर्मोंको करता है फिर उन पापोके फलसे अनेक प्रकारके दु.खोको उठाता है। इनके फदसे बचना चाहिए। उपाय यह है कि इन शत्रुओंको इसने अज्ञान से मित्र मान लिया है सो अब यह उस अज्ञानको छोडे और यह ठीक-२ समझे कि ये मित्र नही हैं किन्तु बड़े प्रबल शत्रु हैं। इनके मोह मे पडकर मैं दिनरात अपनी ज्ञानानन्दमई सपदा को लुटा रहा हूँ। जिस समय यह पवित्र ज्ञान हो जायगा कि मैं मोक्ष महलका रहने वाला त्रिलोकज्ञ, त्रिकालज्ञ, अविनाशी, परम वीतरागी, स्वाधीन आनन्दका भोगी परमात्मा हू मेरा और इन पौद्गलिक रागादि भावोका क्या सम्बन्ध है। ये कलुषता लिए हुए हैं मैं शान्त रूप हूँ—ये दुःखदाई हैं मैं सुखरूप हूँ—ये जड़ है व ज्ञान के निरोधक हैं मैं चेतन हू—ये अनित्य हैं मैं अविनाशी हूँ—ये आकुलताकारी हैं मैं आकुलता रहित हूँ। जिस समय यह भेदविज्ञान उत्पन्न होगा और यह सम्यक्दृष्टि होकर अपने आत्मसम्पदा को देखता हुआ वहा से ज्ञान वैराग्य शस्त्रों

को उठायेगा और अपने आत्मानुभवरूपी वीर्यको सम्हारेगा तो यह इन शत्रुओं को अवश्य भगा देगा। आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जन्म, उत्तम बुद्धि, जिनधर्म का समागम आदि सामग्री बहुत दुर्लभ है इन सबको पाकर यही अवसर है जो इस अनादि काल शत्रुओका सहार किया जावे यदि इस अवसर को चूका जायगा तो फिर इनके नाशका अवसर मिलना कठिनहो जायगा। बुद्धिमानोका कर्त्तव्य यही है कि जब मौका आ जाय और शत्रु अपने वशमें आजावे तब उसको बिना मारे या बिना अधिकार मे किए हुए न जाने दें। नहीं तो शत्रुसे सदा ही कष्ट मिलता रहेगा। इसलिए यही उचित है कि भेदविज्ञान के द्वारा आत्म-ध्यानका अभ्यास करके विषयकषायोको जीता जावे।

स्वामी अमितगतिजो सुभाषित रत्नसदोहमे कहते हैं—

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं।
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात्॥
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं।
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्तिसौख्येऽस्ति वांछा॥११॥

भावार्थ—यदि किसी भी तरह इस मनुष्य जन्म को अल्प भोगोमे फंसकर नाश कर डाला जायगा तो फिर प्राणियो को बडे कष्टसे इस मनुष्य जन्मका लाभ होगा इसलिए इस अपूर्व अवसर को पाकर इद्रियोके विषयों की आशा को छोड़कर धर्म कार्योंमे यतन कर यदि तेरी यह इच्छा है कि तू जन्म-मरण से रहित मुक्ति के सुख को पा ले।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

हिंसादिक तरुघार कष्टकारी भववन महा दुर्गमं ।
इंद्रिय विषय कषाय दुःख देते तू मूर्ख सहतापरं ।।
अब तो निर्मल आत्मज्ञान लहिके इन सर्वका नाशकर ।
अवसर पा निज शत्रु मार देते छोड़े नहीं ज्ञानधर ।।६५

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जितना परिश्रम यह ससारी प्राणी धनादिके लिए करता है उतना यदि मोक्षके लिए करें तो अनन्त सुखको पावे ।

मालिनी वृत्तम्

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्योगैः ।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ।।
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से ।
सुखममलमनंतं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ।।६६।।

अन्वयार्थ—(असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः)शास्त्र-कर्म, लेखनकर्म, कृषिकर्म, विद्याकला, सुदर्शन कर्म व्यापार कर्म व शिल्प इन छ प्रकार आजीविकाके साधनोके द्वारा(तनु-धनसुतहेतो) शरीर धन व पुत्रके लाभ के लिए (यादृक् कर्म) जिस तरहका परिश्रम (करोषि) तू करता है (यदि) यदि (सयमार्थं) सयम के लिए (सकृदपि) एक दफे भी (तादृक्) वैसा परिश्रम (विधत्से) करे (तदा) तो (किं) क्या (अमल) निर्दोष (अनतसुख) अनत सुखको (न अश्नुषे) नहीं भोग सके ? (अलं) अवश्य तू भोग सकेगा ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि गृहस्थजन इस शरीरमें मोही होकर इस शरीरको रक्षा व धन व संतानकी प्राप्तिके लिए दिन

रात उद्यम किया करते हैं कोई शस्त्रविद्या द्वारा सिपाही बन कर, कोई लिखने के काम से, कोई किसानी को, कोई कारीगरी को, कोई व्यापार को, कोई कला चतुराई को ऐसे नाना प्रकार के द्रव्य की प्राप्तिके उपायोको करते हुए आकुल व्याकुल रहते हैं। द्रव्यके लिए देश-परदेश जाकर बहुत कष्ट उठाते हैं। तो भी उससे क्षणिक सुख प्राप्त होता है जिससे प्राणीको सन्तोष नही होता। तथा ससारका भ्रमण बढ़ता जाता है। इसलिए जो बुद्धिमान अविनाशी आत्मीक सुख प्राप्त करना चाहे उनको उचित है कि जितना परिश्रम वे लौकिक उन्नतिके लिए करते है उतनी मेहनत वे अनन्त सुख के लिए मोक्षमार्ग पर चलनेके लिए व आत्मध्यान के लिए करें तो अवश्य उनको ऐसी तृप्ति प्राप्त हो कि वे फिर कभी भी ससारमे दुःखी न हो। भवसागरसे पार ही हो जावे। इसलिए ससारके पदार्थो को नाशवत समझकर उनसे मोह न करना चाहिए।

सुभाषित रत्नसदोहमे अमितगति महाराज कहते है—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता।
सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः ॥
मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वभविना—
महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२६॥

भावार्थ—सर्व प्राणियो के ये रूप, स्थान, स्वजन, पुत्र, सामान, स्त्री, कन्या, लक्ष्मी, कीर्ति, चमक, रति, बुद्धि, प्रीति, धैर्य आदि सब ही मद मे अन्ध स्त्री के नेत्र के समान चचल हैं तब भी यह बड़े कष्ट की बात है कि यह मानव इन इद्रियो के विषयो के सेवने का मन किया करता है।

अर्थात स्वय चंचल व अनिष्ट पदार्थों मे लुभाने से दु ख ही प्राप्त होगा।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

असि मसि कृषि विद्या शिल्प वाणिज्य करके।
वपु धन सुत अर्थे श्रम करे मोह करके।।
असश्रम इक वारं संयमार्थे करे तू।।
शुचि सौख्य अनंतं भोग कर ही रहे तू।।६६।।

उत्थानिका—आगे कहते है जो सयम का साधन करते हैं वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते है।

सुख जननपटूनां पावनाना गुणानाम्।
भवति सपदि कर्ता सर्वलोकोपरिस्थः।।
त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्येह पुसः।
स्वयमवनिरधस्ताज्जायते नाखिला कि।।६७।।

अन्वयार्थ—जो सयम पालन करता है वह (सपदि) शीघ्र (सर्वलोकोपरिस्थ) सर्व लोक के ऊपर सिद्ध क्षेत्र मे विराजमान होता हुआ (सुखजननपटूना) आत्मीक आनन्द को पैदा करने मे कुशल ऐसे (पावनाना गुणाना) पवित्र गुणो का (कर्ता) करनेवाला अर्थात अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुणोमे परिणमन करने वाला (भवति) रहता है (इह) इस जगतमे (त्रिदशशिखरिमूर्धाधिष्ठितस्य पुस.) सुमेरु पर्वतके मस्तक पर बैठे हुए पुरुषके लिये (किं) क्या (अखिला अवनि) यह सकल पृथ्वी (स्वय) अपने आप ही (अधस्तात्) नीची (न जायते) नही हो जाती है ? अर्थात् अवश्य हो जाती है।

भावार्थ—यहा आचार्य ने दिखलाया है जो मुनि संयम का भले प्रकार अभ्यास करते हैं वे शुक्लध्यान के प्रताप से सर्व कर्म बधनो को नाश कर व शरीर से रहित होकर मात्र एक अपने आत्मीक सत्ताको स्थिर रखते हुए स्वभाव से ऊपर जाकर तीन लोक के ऊपर सिद्ध क्षेत्र मे अनतकाल के लिए ठहर जाते है। वहांपर सर्व आत्माके गुण पवित्र हो जाते हैं और सर्व गुण अपने स्वभावम सदृश परिणमन क्रिया करते है। वहा न कोई ज्ञानमे बाधा होती है न वीतरागता मे बाधा होती है न वीर्य मे बाधा होती है। इसलिए यह आत्मा परम स्वतन्त्रता से अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिको भोग करता हुआ अपने आनन्द मे तृप्त रहता है तथा त्रिलोक पूज्य हो जाता है। तीन लोक के प्राणी उसकी पूजा करते है उसीको परमात्मा, परब्रह्म व परमेश्वर मानते हैं। यहा पर आचार्य ने दृष्टात दिया है कि जो पुरुष परिश्रम करके पर्वत की चोटी पर चढ जाता है वह स्वय ही सर्व जगतके प्राणियो से ऊँचा हो जाता है। उस पुरुषके लिए सारी पृथ्वी नीचे हो जाती है। यहा यह भी भाव है कि जैसे उद्यमी पुरुष सुमेरु पर्वत पर चढनेमे सर्वोच्च हो जाता है इसी तरह जो मोक्षमार्ग पर चढता चला जाता है और गुणस्थानो के क्रम से उन्नति करता जाता है वह स्वय ही अपने गुणो की वृद्धिके कारण औरो से ऊँचा होता है। इसी तरह जब वह चलते-२ मुक्त हो जाता है तब वह परमात्मा होकर लोकाग्र मे विराजमान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि क्षणिक ससार की सपदा के लिए अपना नर जन्म न खो देवे किंतु इस देहमे संयम पालन के लिए खूब परिश्रम करे तो यह श्रम ऐसा सफल होगा कि इसे परमात्मा बना देगा और अधिक क्या चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि यतिभावनाष्टक मे कहते हैं—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुध्वा श्रुत पुण्यतो।
वैराग्य च करोति यः शुचितपो लोके स एक. कृती।।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृत पीयते।
प्रसादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः।।५।।

भावार्थ—पुण्य के उदयसे पवित्र कुलमे जन्म पाकर व उत्तम शरीर का लाभकर जो कोई शास्त्र को समझकर व वैराग्य को पाकर पवित्र तप करता है वही इस लोकमे एक कृतार्थ पुरुष है यदि वह तपस्वी होकर मदको छोडकर ध्यानरूपी अमृतका पान करता रहे तो मानो उसने सुवर्णमई महल के ऊपर मणिमई कलश चढा दिया है। अर्थात् आत्मध्यानी ही सच्चे तपस्वी हैं और वे ही कर्मों को काटकर मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो सयम पाले लोकके अग्र जावे।
सुखकृत शुचि गुणका, परिणमन नित्य पावे।।
जो जन श्रम करके मेरू ऊपर सिधारे।
सब ही पृथ्वीको आप ही निम्न डारे।।६७।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि इस ससारचक्रमें सच्चा सुख नही मिल सकता।

मालिनी वृत्तम्

दिमकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिन्दोः।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जगमत्वम्।।

न पुनरिह कदाचिद्घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥६८॥

अन्वयार्थ—यदि (दिनकरकरजाले) सूर्य की किरण समूह मे कदाचित् (शैत्यम्) ठडकपना हो जावे तथा (इदो) चन्द्रमा के (उष्णत्व) गर्मी हो जावे व (जातु) कदाचित् (सुरशिखरिणि) सुमेरु पर्वत मे(जगमत्व)जगमपना या हलन चलनपना(प्राप्यते) प्राप्त हो जावे तो हो जावो (पुनः) परन्तु (कदाचित्) कभी भी (असुखनिधाने) दु खो की खान (इह घोर ससारचक्र) इस भयानक ससार के चक्रमे (भ्राम्यता) भ्रमण करते हुए (पुसा) पुरुष को (स्फुटम्) प्रगटपने (शर्म) सुख (न) नही प्राप्त हो सकता है ।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने दिखलाया है कि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित ही जीव चारो गतिमई ससार के चक्कर मे नित्य भ्रमण किया करता है । अज्ञानी को ससार ही प्यारा है । वह ससारके भोगो का ही लोलुपी होता है । इसलिए वह गाढे कर्मो को बाधकर कभी दु ख कभी कुछ सासारिक सुख उठाया करता है । उसको स्वप्नम भी आत्मीक सच्चे सुख का लाभ नही होता है । आचार्य ने यहा तक कह दिया है कि असभव बाते यदि हो जावे अर्थात सूर्य को किरणे गरम होती है वे ठडी हो जावे व चन्द्रमा मे ठडक होती है सो गरमी मिलने लगे तथा सुमेरु पर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लग जावे परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवको कभी भी आत्म सुख नही मिल सकता है । इसलिए हमे उचित है कि मिथ्यात्वरूपी विष को उगलने का उद्यम कर और सम्यग्दर्शन को प्राप्त करे । भेद विज्ञान को हासिल करे व आत्मा के विचार करने वाले हो जावें इसी ही उपाय से मुक्ति के अनन्त सुखका लाभ होता है । श्री पद्मनदि मुनि परमार्थविंशति मे कहते हैं—

दु.खव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे ।
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यति सर्वेगिनः ।।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो ।
यात्यानंदकरं परं स्थिरतर निर्वाणमेक पुर ।।१०।।

भावार्थ—इन दु·खोरूपी हाथियोसे भरे हुए व हिंसादि पापो के वक्षो को रखने वाले तथा खोटी गतिरूपी भीलो की पल्लियो के खोटे मार्ग मे नित्य पटकने वाले संसार वन मे सर्व ही प्राणी भटका करते हैं। इस वन के बीच मे जो चतुर पुरुष सुगुरु के दिखाए हुए मार्ग मे चलना शुरू कर देता है वह परमानन्दमई उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाणरूपी नगर मे पहुच जाता है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

सूर्य किरण ठढी उष्ण हो चन्द्र बिम्ब ।
यदि सुरगिरि थिर भी हो या अथिर और कम्बं ।।
पर कभी न पावे आत्म सुख मूढ जीवा ।
दु खमय भववन मे जो भटकता अतीवा ।।६८।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध है इसका सम्बन्ध ससार वासनाओ से नही है।

शार्दूलविक्रीडित

कायैः कर्मबिनिर्मितैर्बहुविधैः स्थूलाणुदीर्घादिभि ।
नात्मा याति कदाचनापि विकृति सबध्यमानः स्फुट ।।
रक्तारक्तसितासितादिवसनैरावेष्टयमानोऽपि किं ।
रक्तारक्तसितासितागुणितामापद्यते विग्रहः ।।६९।।

अन्वयार्थ—(कर्मविनिर्मितैः) कर्मों के उदय से रची हुई (बहुविधैः) नाना प्रकार की (स्थूलाणुदीर्घादिभिः) मोटी, पतली ऊँची, छोटी आदि (कार्यैः) देहों के द्वारा (स्फुट सबध्यमान) प्रगटपने सम्बन्ध रखता हुआ (आत्मा) यह जीव (कदाचनापि) कभी भी (विकृतिं न याति) विकारी नही हो जाता है अर्थात अपने स्वभाव को नही त्यागता है (किं) क्या (विग्रह) यह शरीर (रक्तारक्तसितासितादिवसनैः) लाल पीले, सफेद, काले वस्त्रो से (आवेष्टयमानोऽपि) ढका हुआ भी (रक्तारक्तसितादि-गुणिनाम्) लाल, पीले, सफेद, काले रग पाने को (आपद्यते) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—यहा आचार्य यह दिखलाते है कि निश्चयनय से अर्थात् वास्तव मे यह आत्मा शुद्ध है। इसने अज्ञान से जो कर्म बाधे है उन कर्मोंके उदय से इसके साथ कार्मण, औदारिक और तैजस शरीरो का सम्बन्ध है। ये शरीर भी पुद्गल द्रव्य के रचे हुए है। इनमे मोह कर्म के उदय से रागद्वेष, मोह भाव होते है, तथा नाम कर्म के उदय से शरीर मोटा, पतला, लम्बा व छोटा होता है। शरीर के सम्बन्ध से आत्माको दुबला, मोटा, बलवान, निर्बल व क्रोधी, मानी, लोभी आदि के नाम से पुकारते है। असल मे देखो तो आत्मा अपने स्वभावसे असख्यात प्रदेशी ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी है। आत्मा पुद्गल के सबध होने पर भी आत्मा ही रहता है कभी भी पुद्गलमई नही हो जाता है। यहा दृष्टात देते हैं कि जैसे शरीर पर लाल, पीले, नीले, सफेद कैसे भी रग क कपडे पहनो वे कपडे शरीर के ऊपर ही ऊपर है। शरीर लाल, पीला, काला, सफेद नही होता है। इसी तरह कर्मों के नाना प्रकार के सयोग होने पर भी आत्मा

वास्तव मे किसी भी कर्मकृत विकारो से विकारी नही हो जाता है। निश्चय से आत्मा शुद्ध स्वभाव मे ही रहने वाला है। ऐसा विचारवान को विचारना चाहिए।

ऐसा ही श्री पद्मनदि मुनि ने एकत्वाशीतिमे कहा है—

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः।
विकारकारिभिर्मेधैर्न विकारि नभो भवेत् ॥३५॥
नाम हि पर तस्मान्निश्चयात्तदनात्मकम्।
जन्ममृत्यादि चाशेष वपुधर्मं विदुर्बुधाः ॥

भावार्थ—जैसे विकारी होनेवाले मेघोसे आकाशका स्वभाव विकारी नही होता है वैसे क्रोधादिक कर्मो का सयोग होने पर भी उत्कृष्ट तेज वाला आत्मा भी क्रोधी मानी आदि रूप नही होता। इस आत्मा के स्वभाव मे तो नाम भी भिन्न हैं क्योकि चैतन्यप्रभुका कोई नाम नही है। जन्म मरण रोग आदि ये सर्व स्वभाव शरीर के है ऐसा ज्ञानी लोग मानते है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

मोटे सूक्ष्म दीर्घ देह बहुविध हैं कर्मने जो रचे।
इनमें बसता आत्म हो न उनसा निजभाव आतम नचे ॥
काला पीला लाल श्वेत कपडा जो देह को ढाकता।
काला पीला लाल श्वेत तनको, कबहू न कर डालता ॥६९

उत्थानिका—आचार्य और भी आत्माका स्वरूप कहते है—

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढ स्थूल. कृश. कर्कशः।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभू षढ पुमानंगना ॥
मिथ्या त्व विदधासि कल्पनमिद मूढो विबुध्यात्मनो।
नित्य ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यापायच्युतम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(त्व) तू (आत्मानः)आत्माके(नित्य)अविनाशी (अमल) निर्मल (सर्वव्यपाच्युत्तम्) सर्व ससारिक दुःख जालो से रहित (ज्ञानमयस्वभाव) ज्ञानमई स्वभाव को (विबुध्य)जान करके भी (मूढ) मूर्ख होकर(इद)इस(मिथ्या)झूठी (कल्पनम्) कल्पनाको(विदधासि) किया करता है कि मै (गौर) गोरा हूँ (रूपधर) मैं सुन्दर हूँ (दृढ)मैं मजबूत हूँ(परिवृढ)मै श्रीमान् हू (स्थूल)मैं मोटा हूँ (कृश)मैं दुर्बल हूँ(कर्कश॰)मै कठोर हूँ (गीर्वाण) मैं देव हूँ (मनुज)मैं मनुष्य हूँ (पशु) मैं पशु हूँ (नरकभ) मै नारकी हू (षढ.)मै नपुसक हूँ (पुमान) मैं पुरुष हूँ (अगना) तथा मैं स्त्री हूँ।

भावार्थ—यहा आचार्यने दिखलाया है कि आत्माका स्वभाव अविनाशी है जब शरीरादि पदार्थ नाशवत है,आत्मा ज्ञानमई है जब शरीरादि जड हैं, आत्मा निर्मल वीतराग है, जब क्रोधादि कर्म विकाररूप जड है, आत्मा सर्व आकुलता व दुःखो से रहित परमानन्दमई है जब कि शरीरादि व क्रोधादि सबध जीव को आकुलित व दुःखी करनेवाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्याश्रद्धानके नशेमे अपनेको नाना भपरूप माना करता है। जो अवस्थाएँ कर्मके निमित्तसे हुई है उनकोही अपना माना करता है अपने आत्मा के असली स्वभाव से गिर जाता है। देव मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नपुसक गोरा, सुन्दर बलिस्ट मोटा, दुबला, कठोर आदि सब पुद्गल की अवस्थाएँ है। जिस घर मे आत्मा रहता है उस घर की अवस्थाएँ है। तो भी मोही जीव अपने को उस रूप मान लेता है उसे आत्मज्ञान का श्रद्धान नही है।

तात्पर्य कहने का यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छाट ले और जो अनात्मा है उसको अलग कर दे। इसी प्रकार के विचार से स्वानुभव की प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव का बीज है।

पद्मनदि मुनि एकत्वाशीति मे कहते हैं—

एकमेव हि चैतन्य शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
नावकाशो विकल्पाना तत्राखडैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चय मे देखा जावे तो यह आत्मा एक ही चैतन्यरूप है तथा इस अखड पदार्थ मे अनेक दूसरे विकल्पो के उठाने की जगह ही नही है कि मै देव हूँ या नारकी हूँ। इत्यादि।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

गोरा सुन्दर वीर और श्रीमान हू थूल पतला कड़ा।
हू पशु नारक देव और मानव नारी पुरुष षढ वा ॥
मूरख मिथ्या कल्पना जु करता निज आत्म नाहि वेदता।
जो है नित्य पवित्र ज्ञानरूपी जह कष्टको शून्यता ॥७०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मुमुक्षु जीव को नित्य ही परमात्मा का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए—

सर्वारंभकषायसंगरहित शुद्धोपयोगोद्यतम्।
तद्रूप परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षातिगं ॥
तन्नि श्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरम्।
कृत्य क्वापि चिकीर्षवो न सुधिय कुर्वन्ति तद्ध्वंसकं ॥७१

अन्वयार्थ—(सर्वारम्भकषायसगरहितम्) जो सर्व आरम्भ,

क्रोधादि कषाय, तथा परिग्रह से रहित है (शुद्धोपयोगोद्यतम्) जो शुद्ध ज्ञानदर्शनमई उपयोग से पूर्ण है (विकलिल) जो सर्व कर्म मल से रहित है (वाह्यव्यपेक्षातिग) जिसको किसी भी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा या गरज नही है (तत्) वही (परमात्मन) इस उत्कृष्ट आत्मा का (रूप) स्वभाव है। (तत्) इसी स्वरूप को (नि श्रेयस-कारणाय) मोक्ष प्राप्ति के लिए (हृदये) मन मे (सदा) हमेशा (कार्य) ध्याना चाहिए (न अपरा) इसके सिवाय अन्य किसी स्वभावको न ध्याना चाहिए। (कृत्य) करने योग्य काम को (चिकीर्षव) पूरा करने की इच्छा करने वाले (सुधिय) बुद्धिमान लोग (नटध्वसक) उद्देश्य के नाश करने वाले कार्यको (क्व अपि) कहीभी व कभी भी (न कुर्वति) नही करते है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने दिखाया है कि जो भव्य जीव अपने आत्माको स्वाधीन करना चाहते है उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने ही आत्मा को परमात्मा के समान जाने, श्रद्धामे लावे तथा अनुभव करे। आत्माका स्वभाव किसी शुभ व अशुभ आरभ करने का नही है। जितने भी काम होते है वे इस जगतमे मन, वचन कायके हिलनेसे होते है। आत्मा के जब मन वचन काय ही नही है तब उनके द्वारा वर्तन या आरभ किस तरह हो सकते है। इस आत्मा मे क्रोधादि कषाय की कलुषता भी नही है क्योकि यह चारित्र मोहनीय कर्म का रस है, जैसे नीमका स्वाद कडवा, ईख का स्वाद मीठा। यह आत्मा सर्व पर पदार्थों के सगसे शून्य है। इसके पास न किसी शरीर का परिग्रह है, न धनधान्य का है न क्षेत्र मकान है न रुपये पैसे का है न स्त्री पुत्रादि का है। यह आत्मा सर्व प्रकार के पौद्गलिक मल से शून्य है यह अमूर्तीक है। इसके गुण इसके

भीतर स्वतत्र हैं उनके विकासके लिए किसी बाहरी प्रकाश की व अन्य किसीकी सहायताकी जरूरत नही है। यह आत्मा पूर्ण-पने शुद्ध अनतज्ञान व अनतदर्शन से भरा हुआ है। मैं ऐसा ही हूँ इस प्रकारका अनुभव सदा करना योग्य है। यह स्वात्मानु-भव ही आत्माको परमात्मा पद मे ले जाने वाला है। जो बुद्धि-मान भेदविज्ञानी निपुण पुरुष है वे आत्मचितवन को छोडकर और कोई रागद्वेषवर्धक चितवन नही करते हैं, क्योकि पर की चिता बन्धन को करने वाली है, जो आत्मा को मक्तिमार्ग मे विघ्नकारक है। लौकिक मे भी बुद्धिमान लोग अपना जो उद्देश्य स्थिर कर लेते है उसके अनुकूल ही कार्य करते है उसके विरुद्ध कार्य मे सदा बचते रहते है।

श्री पद्मनदि मुनि निश्चय पचाशत् मे कहते है—

अहमेवचित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जडत्वात् प्रीति सदृशेषु कल्याणी ॥४२॥
स्वपरविभागावगमे जाते सम्यकपरे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्ध ॥४२॥

भावार्थ - मैं ही चैतन्य स्वरूप हूँ तथा मेरेको चैतन्य का ही आश्रय है मैं और किसी का आश्रय नही लेता हूँ क्योकि मेरे सिवाय अन्य पदार्थ सब जड है तथा यह भी न्याय है कि समान स्वभाव वालो मे ही प्रीति करनी योग्य है। जिस समय इस आत्मा को अपना और पर का स्वरूप अलग-२ भले प्रकार समझ मे आ जाता है तब यह स्वय सिद्ध आत्मा पर पदार्थ को छोडकर अपने ही स्वाभाविक एक ज्ञान स्वभाव मे लवलीन हो जाता है।

वास्तव मे आत्मलीनता ही सच्ची सामायिक है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

परमात्मा है सर्व मल दूरं नहिं चाह परकी करै ।
शुद्धपयोगमई कषाय रहितं नारम्भ परिग्रह धरै ॥
सो ही शिवके हेतु नित्य चितमे ध्याओ नही और कुछ ।
बुधजन निज उद्देश्य घातकारक करते नहीं कार्य कुछ ॥७१

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीरमे प्रीति करना है सो आत्मा की उन्नति मे बाहर रहना है।

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्ति विधत्ते यतो ।
हेयादेयविचारशून्य हृदयो नात्मक्रियायामसौ ॥
स्वार्थं लब्धुमना विमुचतु तत शश्वच्छरीरादरम् ।
कार्यस्य प्रतिबधके न यतते निष्पत्तिकाम सुधी ॥७२॥

अन्वयार्थ—(यत) क्योंकि (य) जो कोई (शरीरकार्यकरणे) शरीरके कामके करनेमे (जागर्ति) जाग रहा है (असौ) वह (हेयादेयविचारशून्यहृदय) त्यागने योग्य व करने योग्य के विचार से शून्य मन वाला होता हुआ (आत्मक्रियायाम्) आत्मा के कार्य मे (वृत्ति न विधत्ते) अपना वर्तन नही रखता है। (तत.) इसीलिए (स्वार्थ लब्धुमना) अपने आत्मा के प्रयोजन को जो सिद्ध करना चाहता है उसको (शश्वत) सदा ही (शरीरादरम्) शरीर का मोह (विमुचतु) छोड देना चाहिए (निष्पत्तिकाम) अपनी इच्छाको पूर्ण करने वाला (सुधी) बुद्धिमान पुरुष (कार्यस्य) अपने काम के (प्रतिबधके) रोकने वाले कार्य मे (न यतते) उद्यम नही करता है।

भावार्थ—यहा आचार्य कहते है कि शरीर और आत्मा दो भिन्न २ पदार्थ है। जिसको शरीरका मोह है वह रातदिन शरीर

की शोभा करने मे उसको पुष्ट करने मे व उसको आराम देनेमे अपना समय व बल नष्ट किया करता है उसको आत्मोन्नति की तरफ ध्यान नही रहता है। उसका हृदय विषयभोगो मे ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसको कर्तव्य अकर्तव्यका व त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यका विवेक नही रहता है। इसलिए जो अपने आत्माकी उन्नति करना चाहे उसको उचित है कि वे शरीर का मोह छोडे उसका आदर न करें उसको चाकर के समान रखकर उससे तपादि का साधन करे और अपना कार्य बना ल। जो बुद्धिमान पुरुष होते है वे सदा इस बातकी सम्हाल रखते है। कि जो कार्य करना निश्चय किया गया है उसकी सफलता का ही उद्योग करे तथा उस कार्यके विरोधी किसी उद्यम को न करे। जब यह निश्चय है कि शरीर का मोह मन को आत्मकाय से हटाने वाला है तो विवेकी को आत्मा के काम बनाने का ही ध्यान रखना चाहिए और इसलिए आत्म मनन करके स्वानुभव प्राप्त करना चाहिए, बिना आत्मध्यान के कभी भी आत्मा की शुद्धि नही हो सकती है।

जब तक शरीर सम्बन्धी मोह नही छूटता तब तक आत्म-हित नही हो सकता। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्न-सदोह मे कहते है—

मदमदनकषायारातयो नोपशान्ता।
न च विषयविमुक्तिर्जन्मदु.खान्न भीतिः॥
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो—
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै॥१७॥

भावार्थ—जिस मानवके घमड व कामभाव व क्रोधादि शत्रु शात नही हैं व जिसका मन विषयो से विरक्त नही हुआ है व

जिसको ससार के दुखोसे भय नही है तथा जिसके चित्तमे शरीर के सुख से वैराग्य नही भया है उसकी दीक्षा भी इस जगत में भोगो के लिए है मुक्ति पाने के लिए नही है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो जागे निज तन विलासपथ मे सो मूर्ख जाने नही।
क्या हितकर क्या नाशकर सुकर्तव निजआत्म करता नहीं ॥
जो चाहे परमात्म धाम अपना तन मोह करता नहीं।
बुध निज कारज सिद्धकाज उल्टा कब ही जु चलता नहीं ॥७२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान को व्यर्थ कार्य न करना चाहिए।

भीत मुचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा तत.।
सौख्य जातु न लभ्यतेऽभिलषित त्व माभिलाषीरिद ॥
प्रत्यागच्छति शोचित न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
पेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(गतघृण) दया रहित (अतक)यमराज(भीत) जो मरणसे डरता है उसको (न मुचति) छोडता नही है (तत·) इसलिए (वृथा) बेमतलब(मा भैषी)डर न कर (अभिलाषित) अपना चाहा हुआ (सौख्य) सुख (जातु) कभी (न लभ्यते) नही प्राप्त होता है इसलिए (त्व) तू (इद) इस सुख की (मा अभिलाषी) इच्छा न कर (विगत) जो मर गया नष्ट हो गया (शोचित) उसका शोच करने पर (न प्रत्यागच्छति) लौट कर नही आता है इसलिए (वृथा) बेमतलब (शोक मा कृथा) शोक न कर (प्रेक्षापूर्वविधायिन·) समझकर काम करने वाले विद्वान (निरर्थम्) बेमतलब (कृत्य) काम (कथम्) किस लिए (विदधते) करेंगे ?

भावार्थ—यहाँ आचार्यने बडी ही सुन्दर युक्तिसे यह समझा दिया है कि बुद्धिमान प्राणी को न तो मरनेसे डरना चाहिए, न भोगोको इच्छा करनो चाहिए और न वियोग हुई वस्तु का शोक करना चाहिए। जगत के प्राणी इन्ही भूलो मे फँसे रहते हैं। यह बात जब निर्णय की हुई है कि जब आयुकम समाप्त हो जायगा तब इस शरीर को आत्मा अवश्य छोड जायगा तब यह भय करना कि कही मरण न हो बडी भारी मूर्खता है। व कायरहना है। बुद्धिमान प्राणी कभी भी बेमतलब मौतसे डरता नही किन्तु वीर पुरुष की तरह जब मरण आवे तब मरने को तैयार रहता है। जब यह देखा जाता है कि ससारमे अधिकतर चाहे हुए इद्रियोके विषय नही प्राप्त होते है किन्तु जैसा न चाहो वेसा पदार्थ प्राप्त हो जाता है तब फिर वृथा पदार्थों के लिए तृषातुर व अभिलाषावान रहना अपने मनको क्लेषित रखना है। बुद्धिमान मनुष्य आगामी भोगो की तृष्णा से क्लेशित नही होता है जो पुण्यके उदयसे पदार्थ प्राप्त होता है उसी मे सन्तोष कर लेता है। यह जब पक्का निश्चय है कि जो प्राणी मर गया वह फिर उसी शरीरमे आ नही सकता तब बुद्धिमान कभो भी अपने मरण प्राप्त माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, मित्र आदि का शोक नही करता है। शोक करने से परिणामो मे क्लेश होता है वह क्लेश यहाँ भी दु.खी करता है व आगामी के लिए असाता-वेदनीय का बंध करा देता है। इत्यादि बातोको विचारकर जो चतुर मानव हैं वे कभी भी निरर्थक काम नही करते है वे जिस काम को करते हैं उसका फल पहले ही विचार लेते हैं जिसका फल पहले ही विचार लेते हैं। जिसका फल होना निश्चय है उस ही काम को करते हैं।

सज्जन पुरुष सदा उत्तम फलदायी कार्यों को ही करते हैं। जैसा अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसदोह मे कहा है—

चित्ताल्हा दिव्यसनविमुखः शोकतापापनोदि।
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि॥
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमलं सार्थकं मुक्तबाधं।
यो निर्दोष रचयति वचस्त बुधा सन्तमाहु ॥४६१॥

भावार्थ—जो कोई बरी आदतो से अलग रहता हुआ ऐसा वचन कहता है जो चित्तको प्रसन्न करने वाला हो, शोक सताप को हटाने वाला हो, बुद्धि मे उत्पन्न हुआ हो, कानो को प्रिय मालूम हो, न्यायमार्ग पर ले जाने वाला हो, सत्य हो, हजम होने योग्य हो, दोषरहित हो, अर्थसे भरा हो व बाधाकारक न हो उसी को बुद्धिमानो ने सन्तपुरुष कहा है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

निर्दय यम भयमति जन्तु मारे इससे जु डरना वृथा।
इच्छित सुखन प्राप्त होय कब ही अभिलाष करना वृथा॥
मृतगत शोच किये न लौट आता है शोक करना वृथा।
विद्वजन सुविचार कार्य निष्फल करते नही सवथा॥७३॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते है कि आत्मीक सुख के लिए प्रयत्न कर, ससारिक सुख के लिए वृथा क्यो इच्छा करता है।

स्वस्थेऽकर्मणि शाश्वते विकलिले विद्वज्जनप्रार्थिते।
संप्राप्ये रहसात्मना स्थिरधिया त्व विद्यमाने सति॥
बाह्यं सौख्यमवाप्तुमंतविरसं किं खिन्नसे नश्वरम्।
रे सिद्धे शिवमन्दिरे सति चरो मा मूढ भिक्षां भ्रमः॥७४

अन्वयार्थ— (स्वस्थे) जो सुख अपने आत्मा में ही स्थित है (अकर्मणि) जो कर्मोंके उदयसे प्राप्त नही होता अथवा जो कर्मों के नाशसे प्रगट होता है (शाश्वते) जो अविनाशी है (विकलिले व जो मल रहित निर्मल है (विद्वज्जनप्रार्थिते) जिस सुखकी विद्वान लोग सदा इच्छा किया करते हैं तथा जो (स्थिरधिया आत्मना) स्थिरभाव करनेवाले आत्माके द्वारा (रहसा हृप्राप्ये) सहजहीमे प्राप्त होने योग्य है (विद्यमाने सति) ऐसा सुख अपने पास होते हुए (त्व) तू (अतविरस) जो अत मे रस रहित है (नश्वर) व नाशवत है ऐसे (बाह्य सौख्यम्) बाहरी इद्रियजनित सुखको (अवाप्तं) प्राप्त करने के लिए (किं) क्यो (खिद्यसे) खेद उठाता है (रे मूढ़) रे मूर्ख (शिवमदिरे चरौ सिद्धे सति) महादेवजी के मदिरमे खाने को नैवेद्य मिलते हुए (भिक्षा मा भ्रमः) भिक्षा के लिए मत भ्रमण कर।

भावार्थ—यहा पर आचार्य कैसा सुन्दर कहते हैं कि जो वस्तु अपने पास ही हो उसको न जानकर उस वस्तु के लिए बाहर ढूंढते हुए खेद उठाना नितान्त मूर्खता है। कोई साधु महादेव जीके मदिरमे रहता था वही जब उसको पेटभर खानेको मिष्टान्न आदि मिल जावे तब उसको भिक्षा के लिए भ्रमण करना वृथा ही कष्ट उठाना है। आत्मा का स्वभाव आनन्द है यह अविनाशी है। पापरहित है। कर्मों के नाश से प्रगट होता है। इसी आनन्द को सदा साधुजन चाहा करते हैं तथा यह आनन्द मात्र अपने उपयोग को अपनेमे स्थिर करनेसे ही अपनेको प्राप्त हो जाता है। जो अपने ही पास है व जिसके लिए किसी दूसरे पदार्थकी जरूरत नही है व जो सदा ही तृप्तिकारक है, जो ऐसे सच्चे सुखको मर्ख जन नही पहचानते हैं और उस सच्चे सुख के

लाभ के लिए अपने आत्मा के भीतर प्रवेश नही करते हैं तथा बाहरी इंद्रियजनित नीरस और अतृप्तिकारी सुखकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते हैं, क्यो कि यदि परिश्रम करने से कदाचित इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भी हो जावे तोभी उससे तृप्ति नही होती तथा वह ठहरता नही है, वह शीघ्र नाश हो जाता है। जिस किसी को अपने स्थान मे ही मनमोहन खाने को मिले और वह उसको तो न खावे किन्तु भीख माँगता फिरे उसे भीख मे तो पूरा भोजन भी मिलना कठिन होगा और वह वृथाही खेद सहेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीवको अपने ही भीतर भरे हुए सुख समुद्रकी खोजकरके उसमे ही स्नान करना चाहिए व उसीके जलको पीना चाहिए। उसी से ही तृप्ति होगी और वही सदा पीने मे भी आयगा उसे जलका कभी वियोग नही होगा क्योकि वह सुखसमुद्र अपने ही पास है और अपनेको अपनेसे मिल जाता है। इसलिए इंद्रियोंके सुख की वाछा छोड आत्मिक सुख के लिए अपने आप मे रहना ही हितकर है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महेन्धनम्।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१२॥
अध्यात्मजं यदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम्।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिना मतम् ॥२३॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोने कहा है कि जो सुख इंद्रियोंसे पैदा होता है वह तृप्त करनेवाला नही है तथा वह सुख मोहरूपी दावानलको बढ़ानेके लिए महा ईंधन के समान है तथा दुखोंकी परिपाटीका बीज है, जबकि अध्यात्मिक सुख इंद्रियोंकी पराधीनता से रहित

हैं। मात्र अपने ही अनुभव गोचर है, अविनाशी है, स्वाधीन है, बाधारहित है तथा अनन्त है, योगियोंके द्वारा माननीय है।

वास्तव मे आत्मीक सुख जब अमृत है तब इंद्रियसुख खारे पानी के समान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडति छन्द

जो सुख अपने आत्म बीच बसता है मलरहित शाश्वता।
थिरभावोंसे आपमें सु मिलता विद्वान नित चाहता॥
फिर क्यों नीरस बाहरी क्षणिक सुख अर्थं जु कष्टं सहे।
शिवमंदिरमें भोज्य सहज मिलते भिक्षार्थ भ्रम दुख सहे॥७४

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो थिर सुख पाना तो चाहे पर उपाय उलटा करे उसको वह सुख कैसे मिल सकता है?

मालिनी वृत्तम्

अभिलषति पवित्रं स्थावरं शर्म लब्धुं।
धनपरिजनलक्ष्मीं यः स्थिरीकृत्य मूढः॥
जिगमिषति पयोधेरेव पारं दुरापं।
प्रलयसमयवीचिं निश्चलीकृत्य शके॥७५॥

अन्वयार्थ—(य मूढ.) जो मूख (धनपरिजनलक्ष्मीं) धन, बंधुजन व सम्पत्तिको (स्थिरीकृत्य) स्थिर रख करके (पवित्रं) निर्मल (स्थवर) अविनाशी (शर्म)सुख(लब्धु)पानेकी (अभिलषति)इच्छा करता है (शके)मैं ऐसी आशंका करता हूँ कि (एषः) यह मूर्खजन (प्रलयसमयवीचिं) प्रलयकालकी उठने वाली तरगों को (निश्चलीकृत्य)निश्चल करके(पयोधेः)समुद्रके (दुरापं पारं) न पार होने योग्य पारको (जिगमिषति) जाना चाहता है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि वह मानव महा मूर्ख है जो

अविनाशी, पवित्र सुख तो चाहे परंतु उसके लिए अपने आत्मा में ध्यान करना छोडकर धन परिवार परिग्रह को सचय करे और इन चचल वस्तुओको थिर रखना चाहे और यह भी चाहे कि थिर सुख मिल जावे। यह ऐसोही मूखताकी बात है कि जैसे कोई प्रलयकालकी पवनसे उद्धत समुद्रको उसकी न निश्चल रहनेवाली तरंगों को स्थिर करके उसे पार करना चाहे। थिर पवित्र सुख कभी भी इद्रियोके भोगो से प्राप्त नही हो सकता इद्रियभोग से जो कुछ सुख होगा वह मात्र क्षणिक होगा व तृप्तिकारी न होगा तथा मैला होगा। क्योकि जिस धन परिवार व परिग्रह के आश्रय से यह इद्रियसुख होता है वे सब पदार्थ चचल हैं व नाश-वत हैं इसलिए इद्रियसुख भी चचल व नाशवत है। तृप्तिकारी अविनाशी सुख तो मात्र अपने आत्मा के स्वभावमे है, वह तब ही प्राप्त होगा जब जगतके पदार्थोंसे मोह छोड के निज आत्मा का अनुभव किया जायगा। इद्रियोको भोगते हुए कभी भी थिर व पवित्र सुख नही मिल सकता है, वह तो आत्मसन्मुख होने ही पर मिलेगा। तात्पर्य यह है कि सच्चे सुखके लिए अपने आप मे ही खोज करनी चाहिए। ऐसा ही श्री शुभचन्द्र मुनि मे श्री ज्ञानार्णव मे कहा है—

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम्।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम्॥२४॥

भावार्थ—इन्द्रियो के विषयो को रोककर जो सुख स्वयम् आत्मामे ही आत्माके ही द्वारा योगियोको प्राप्त होता है वही आत्मीक सुख है। इन्द्रियो का सुख तृष्णा के दुःखो को बढ़ाने वाला है जैसा वही कहा है—

अपि संकलिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥३०॥

भावार्थ—जैसे-२ इच्छित भोग मिलते जाते हैं वैसे-२ मनुष्यों के चित्त की तृष्णा जगत मे फैलती जाती है ।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

शुचि थिर सुख पाऊँ चाह ऐसा करे है ।
धन सुत तिय पृथ्वी भोगमें मति धरे है ॥
मानूं मूरख सो उदधिका पार चाहे ।
प्रलय समय लहरं थिर करूँ बुद्धि गाहे ॥७५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष इन्द्रिय-विषयो से दूर रहते हैं ।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

ये दु·खं वितरन्ति घोरमनिशं लोकद्वये पोषिता· ।
दुर्वारा विषयारयो: विकरुणा· सर्वांगशर्माश्रया: ॥
प्रोच्यंते शिवकांक्षिभि· कथममी जन्मावलीवर्द्धिनो ।
द·खोद्रेकविवर्धनं न सधियः कुर्वन्ति शर्मार्थिनः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(ये) जब ये (दुर्वारा·) कठिनता से दूर होने योग्य (विकरुणा·) और निर्दयी (विषयरय) इन्द्रिय विषय-रूपी शत्रु (पोषिता) पुष्ट किये जाने पर (लोकद्वये) इस लोक व परलोक दोनों में (अनिशं) रातदिन (घोरं दुखं) भयानक कष्टों को (वितरंति) विस्तारते हैं तब (शिवकांक्षिभिः) मोक्ष के आनन्द को चाहने वाले (कथं) किस तरह (जन्मावली-वर्द्धिनः) संसार की परिपाटी को बढ़ाने वाले अभी इन विषय-रूपी शत्रुओं को (सर्वांगशर्माश्रय·) सर्व प्रकार शरीर को सुख

देने वाले हैं ऐसा (प्रोच्यन्ते) कह सकते हैं। (शर्मार्थिन:) जो सुख के अर्थी हैं वे (सुधिय:) बुद्धिमान प्राणी (दु.खोद्रेकविवर्धनं) दु ख के वेग को बढ़ाने वाले कार्य को (न कुर्वन्ति) नही करते हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि इद्रियो के भोगोकी चाहनाएँ इस जीव के लिए महान शत्रुता का काम करती हैं। ये चाहनाएँ ऐसी प्रबल होती हैं कि इनको दूर करना कठिन होता है। तथा इनको जरा भी दया नही होती है, इनके कारण रात्रिदिन इस लोकमे भी आकुलता व शोक आदि के दुःख सहने पडते हैं। व तीव्र कर्म बाधकर परलोकमे दुर्गति के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो इनको पुष्ट करते है उनको अधिक-२ दु ख देती है। ये विषयरूपी शत्रु वास्तव मे इस जीव की जन्म मरणरूपी परिपाटी को वढान वाल है तब मोक्षके आनन्द को चाहने वाले इन इद्रियो के विषयो को किस तरह ऐसे कह सकते है कि ये सर्व प्राणियो को सुखके देने वाल हैं ?। इनको सुखदायी कहना नितान्त भूल है। जिनसे उभयलोक कष्ट मिले उनको कोई भी बुद्धिमान सुखदायी नही मान सकता है। इसीलिए जो सुख के अर्थी बुद्धिमान हैं वे कभी भी ऐसा काम नही करते जिससे उल्टा दु ख बढ जावे। अर्थात् वे इन इद्रिय विषयो को बिल्कुल मुह नही लगाते है। किन्तु इनसे विरक्त हो आत्मसुख के लिए आत्मानुभव का ही प्रयत्न करते हैं।

सुभाषित रत्नसदोहमे स्वामी अमितगति कहते हैं—

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतु।
किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ॥
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विवित्वा।
पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थधियस्त्यजंति ॥९८॥

भावार्थ—यों पांचों इंद्रियो के सुख भोगते समय तो सुन्दर भासते हैं परन्तु ये अतृप्तिके ही बढ़ाने वाले हैं। जैसे इन्द्रायण का फल खाते समय मीठा होता है परन्तु उसका फल प्राणो का हरने वाला है। ये इन्द्रियसुख नित्य नही रहते तथा अनेक दोषोको पैदा करने वाले हैं ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग इन इन्द्रियो के सुखोकी इच्छाको ही छोड देते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो नित दुस्सह दु ख लोकद्वयमे पोषण किये देत हैं।
निर्दय हैं दुर्वार अरि विषय ये मनवृद्धि कर देत हैं॥
शिव सुख इच्छुक किस तरहसे कहे सर्वाङ्ग सुखदाय ये।
सुखअर्थी बुधजन न कार्य करते जो कष्ट देते नये॥७६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निर्मल भावों का और मलीन भावों का क्या क्या फल होता है—

कुर्वाणः परिणाममेति विमल स्वर्गापवर्गश्रियं।
प्राणी कश्मलमुग्रदु.खजनिका श्वभ्रादिरोति यतः॥
गृह्णानाः परिणाममाद्यमपरं मुंचंति सन्तस्ततः।
कुर्वन्तीह कुतः कदाचिदहितं हित्वा हितं धीधनाः॥७७॥

अन्वयार्थ—(यत) क्योंकि (प्राणी) यह प्राणी (विमल परिणाम) निर्मल भावको (कुर्वाण) करता हुआ (स्वर्गापवर्गश्रियं) स्वर्ग व मोक्ष की लक्ष्मी को (एति) प्राप्त कर लेता है तथा (कश्मल) मलीन भावको करता हुआ (उग्रदु खजनिका) भयानक दुखोको पैदा करने वाली (श्वभ्रादिरीति) नर्क आदि की अवस्था को पाता है (ततः) इसलिए (सन्त) सन्तजन (आद्यं) पहले (परिणामं) भावको (गृह्णाना) ग्रहण करते हुए (अपरं) दूसरे अशुभ भावो को (मुंचंति) त्याग देते हैं (इह) इस लोक

में (धीधनाः) बुद्धिमान प्राणी (हितं हित्वा) अपने हित को छोड़कर (कुतः) किस तरह (कदाचित्) कभी भी (अहितं) दुःखदाई काम को (कुर्वन्ति) करेंगे।

भावार्थ—यहां आचार्य कहते हैं कि यह जीव अपने भावों से ही अपना कल्याण कर लेता है तथा भावोंसे ही अपना बिगाड कर लेता है। जैसे भाव होते हैं वैसा कार्य होता है। शुद्ध भावो से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष हो जाता है तथा शुभ भावोंसे पुण्यबंध होकर स्वर्गादिक शुभ गति प्राप्त होती है तथा अशुभ भावोसे पाप बंधता है जिससे नरक आदिकी खोटी गति प्राप्त होती है ऐसा जानकर सन्त पुरुष सदा ही शुद्ध भावों मे रहने का उद्यम करते हैं। जब शुद्ध भावों मे परिणाम नहीं ठहरता है तब शुभ भावोमे जम जाते हैं परन्तु वे अशुभ मलीन भावोको कभी नही ग्रहण करते हैं। उनको तो दूरसे ही त्यागते हैं। बुद्धिमान मानव वे ही हैं जो अपने हित अहित का विचार करें। जिन कार्योंसे अपना बुरा होता जाने उनको तो छोड दें व जिनसे अपना भला होता जाने उनको साधन करे। तात्पर्य यह है कि सुख शांतिकी प्राप्ति अपने आत्मानुभव से ही होगी इसलिए विषयो की खोटी व्यासना को त्यागकर बुद्धिमान को सदा आत्म मननमे ही उद्योगी रहना योग्य है।

सारसमुच्चय मे श्री कुलभद्र मुनि कहते हैं—

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥
स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

यथा च जायते चेतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम्।
तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥१६१॥

भावार्थ—जो अपने आत्माके कामको छोडकर शरीरादि पर के कार्यमे लीन है वह ममता सहित चित्त वाला होकर अपने आत्महितका नाश कर डालता है। अपने आत्माका हित सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका साधन तथा तपका भले प्रकार रक्षण है ऐसा सर्वज्ञो ने कहा है। जिस तरह यह मन भले प्रकार ऊँची शुद्धनाको प्राप्त कर ले उसी तरह ज्ञानियो को बहुत प्रयत्न करके उद्यम करना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो करता शुचि भाव प्राप्त करता शिव स्वर्ग लक्ष्मी सही।
जो करता मलभाव सोहि लहता नरकादि दुखकर मही॥
सज्जन निर्मल भाव नित्य ग्रहते मल भावको त्यागते।
बुधजन हितकर कार्य छोड़ कबहूं दुखकर नहीं साधते ॥७७

उत्थानिका—आगे इस परिणाम की महिमा को और भी बताते हैं—

नरकगतिमशुद्धैः सुदरैः स्वर्गवासं।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(अशुद्धै) अशुद्ध (परिणामै·) भावो से (नरक-गति) नरकगति को (सुदरै:) शुभ भावोसे (स्वर्गवासं) स्वर्ग निवासको तथा (चेतनः पोष्यमाणैः शुद्धै.) चेतन को पुष्ट करने वाले शुद्ध भावो से (अकर्मा) यह जीव कर्म रहित होकर

(अनवद्यं) निर्दोष (शिवपदम्) मोक्षपदको (याति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा समझकर (शिवपदकामै) जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं उनको (ते विशुद्धा) उन विशुद्ध भावो को (विधेयाः) करना योग्य है।

भावार्थ—ससारी जीवोके भाव तीन प्रकारके होते हैं एक शुद्ध, एक शुभ, एक अशुभ। जहा वीतरागभाव, समताभाव व शुद्ध आत्माकी तरफ सन्मुख भाव होता है वहा शुद्ध भाव होता है। यह भाव रागद्वेषके मेलसे शून्य होता है इसलिए कर्मों की निर्जराका कारण है इसलिए वही वास्तवमे मोक्ष मार्ग है। यहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता होती है। मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए यही भाव ग्रहण करने योग्य है। अशुद्ध भाव वे कहलाते है जहा कषायो का उदय होकर कषाय-सहित भाव हो। कषायसहित भाव आत्मस्थ नही होते किन्तु परपदार्थके सम्मुख होते हैं। इन्ही अशुद्ध भावो के दो भेद हैं एक शुभ दूसरे अशुभ। जहाँ कषाय मद होती है व भावोमे प्रश-मता, धर्मानुराग, भक्ति, सेवाधर्म, दयाभाव, परोपकार, सन्तोष, शील, सत्य वचनमे प्रेम, स्वार्थ त्याग आदि मद कषायरूप भाव होते है उनको शुभ भाव कहते हैं। इन शुभ भावोसे मुख्यतासे पुण्यकर्मों का बंध होता है। जहा कषाय तीव्र होती है वहां भावोमे दुष्टभाव, अपकारके भाव, हिंसकभाव, असत्यपना, चोरीपना, कुशीलपना, असन्तोष, इन्द्रियविषय की लम्पटता, मायाचार, अति लोभ, व्यसनोमे लीनता, परनिन्दा मे प्रसन्नता, आदि भाव होते हैं उनको अशुभ भाव कहते हैं। इनसे पापकर्मों का ही बध होता है। अशुभ भावोके फलसे नरक व पशुगतिमे जाता है, शुभ भावोसे मनुष्य व देवगतिमे जाता है। ये दोनो ही भाव जीवको ससारचक्रमे फंसाने वाले है, मोक्षके कारण नहीं

है मात्र शुद्ध भाव ही मुक्तिके हेतु हैं। इसलिए आचार्यका उप-देश है कि मोक्षके इच्छुक प्राणीको उचित है कि शुद्ध भावो की प्राप्तिका उद्यम करे और इस हेतुसे वह अपने आत्माके अनुभव करनेका अभ्यास करे यह तात्पर्य है। श्री पद्मनद मुनि निश्चय पचाशत् मे कहते है—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—शुद्ध भाव से शुद्ध आत्मा का लाभ होता है तथा अशुद्धरूप ध्यान से अशुद्ध भावका ही लाभ होता है। जैसे सुवर्ण से सोनेका कडा व लोहेसे लोहे का कडाही मनुष्य बना सकता है।

यह सिद्ध है शुद्ध भाव ही आनद का हेतु है—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

अशुभ करें नरक स्वर्ग शुभ भाव लावें।
शिवपद सुखकारी शुद्ध परिणाम पावें॥
आतम बलकारी प्रगट हैं शुद्ध भावा।
इम लख शिवकामी नित करें शुद्धभावा॥७८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि चारो ही गति दु खरूप हैं इसलिए सुखके लिए मोक्षका प्रयत्न हितकर है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

श्वभ्राणां अविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजम्।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परम्॥
नृणा रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसम्।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥७९॥

अन्वयार्थ—(श्वभ्राणा) नरकगतिवाली प्राणियों को (अवि-सह्यम्) न सहने योग्य (दुर्जल्पम्) वचनों से न कहने योग्य (अन्योन्यजम्) परस्पर किया हुआ (अतरहितं) अनंत बार (परं दु:ख) उत्कृष्ट दु:ख होता है (तिरश्चा) पशु गति मे रहने वाले प्राणियोको (दाहच्छेदविभेदनादिजनितम्)अग्निमे डालनेका छेदे जानेका, भेदे जानेका, भूख, प्यास आदिके द्वारा होने वाला कष्ट होता है। (नृणा) मानवोको(रोगवियोगजन्ममरण)रोग, वियोग तथा जन्म मरण आदिका दु:ख रहा करता है (स्वर्गौकसा) स्वर्ग-वासी देवोंको (मानस) मन सबधी बाधा रहती है (इति) इस प्रकार (विश्वं) इस गति को (कष्टकलित) दु खोसे भरा हुआ (सदा) हमेशा (वीक्ष्य) देखकर (मुक्तये) मुक्त होने के लिए (मतिः) अपनी बुद्धि (कार्या) करनी योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकसे आचार्य ने दिखला दिया है कि चारो ही गतियोमे इस जीवको कही सतोष व सुख शाति नही मिलती है। सर्व ही में शारीरिक व मानसिक दु ख कम व अधिक पाये जाते हैं। हम यदि नरकगतिको लेवे तो जिनवाणी बताती है कि वहाँ के कष्ट अपार हैं। भूमि दुर्गंधमय, हवा शरीर भेदने वाली, वृक्षोके पत्ते तलवारकी धारके समान, पानी खारा, शरीर रोगों से भरा व भयानक, परस्पर एक दूसरेको मारते, सताते व दुखी करते हैं वहाँ के प्राणियों की कभी भूख, प्यास मिटती नही। क्रोधकी अग्निमे जलते रहते हैं, दीर्घकाल रो-रोकर बडे भारी कष्टसे अपने दिन पूरे करते हैं। पशु गति के दु ख तो हमारी आँखो के सामने ही हैं। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक प्राणियोंके कष्टोका

पार नही है । मानवो के आरम्भ द्वारा उनको सदा ही कष्ट मिला ही करता है । दबके, कुटके जलके, उबलके, धक्को से, बुझाए जानेसे, रौंदे जानेसे, काटे, छीले जाने से आदि अनेक तरहसे ये कष्ट पाते हैं । द्वेन्द्रियादि कोडे मकोडे, चीटी, चोंट मक्खी, पतग, भुनगे आदि मानवोके नाना प्रकारके आरम्भो के द्वारा दबके, छिलके, भिदके, जलके, गर्मी, सर्दी, वर्षा, भूख, प्यास आदिकी बाधासे व सबल पशुओसे नाशहोकर घोर त्रास उठाते है । पचेन्द्रिय पशु पक्षी, मच्छादि मानवोके द्वारा सताए जाने, मारे जाने, सबल पशुओसे खाये जाने, अधिक बोझा लादे जाने, भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, आदिके दुखोसे पीड़ित रहते हैं।

मानवोकी अवस्था यह है कि बहुत से तो पेटभर अन्न नहीं पाते, अनेक रोगोसे पोडित रहते हैं, पर्याप्त धनके विना आतुर रहते हैं, इष्टवियोग व अनिष्ट सयोगसे कष्ट पाते हैं । इच्छित पदार्थ के न मिलनेसे अधिक सम्पत्तिवान देखकर ईर्ष्या करते हैं, दूसरोको हानि पहुचानेके लिए अनेकषडयन्त्र रचते हैं, जब पकड़े जाते हैं कारावासके घोर दु ख सहते हैं । बहुतोको पराधीन रहने का घोर कष्ट होता है, बड़े-२ सकटो के उठाने पर आजीविका लगती है । धन परिश्रमसे सचय हुआ जब किसी आकस्मात से जाता रहता है तो बड़ा भारी कष्ट होता है । अपने जीते जी प्रिय स्त्री, प्रियपुत्र, प्रिय मित्र आदिका मरण शोक सागर में पटक देता है । मानवो का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है । इद्रिये दुबली होती जाती हैं परन्तु पाँचो इद्रियो के भोगो की तृष्णा दिनपर दिन बढ़ती जाती है । तृष्णाकी पूर्ति न कर सकने के कारण यह मानव महान आतुर रहता है । यकायक मरण आ जाता है । तब बड़े कष्ट से मरता है ।

चक्रवर्ती सम्राटभी जो इंद्रिय भोगोंके दास होते हुए आत्म-ज्ञान रहित होते हैं। वे भी जिन्दगी भर चिन्ता और आकुलता में ही काटते हैं अन्य साधारण मानवों की तो बात ही क्या है ? जिन-२ परपदार्थोंके सयोगसे यह मानव सुख मानता है वे पदार्थ इसके आधीन नही रहते उनका परिणमन अन्य प्रकार हो जाता है व उनका य ायक वियोग हो जाता है। बस यह मानव उनके वियोगसे महान दुखित होता है। देवगति मे यद्यपि शारीरिक कष्ट नही है क्योंकि वहाँ शरीर वैक्रियक होता है जिसमे हाड चमडा, मांस, नही होता है उनको मानवों के समान खाने पीने की जरूरत नहीं होती है जब कभी भूख लगती है तब कठ में अमृत झड जाता है, तुर्त भूख मिट जाती है। रोग शरीर मे नहीं होते, कोई खेती व व्यापार करना नहीं पडता। शरीर के लिए किसी वस्तु की चाह करनी नही पडती मनोरजन करने वाली देवियाँ होती है जो अपने हाव भाव, विलास, गान आदि से मनको प्रसन्न करती रहती हैं। तथापि मानसिक कष्ट सब जगह से अधिक होता है जो आत्मज्ञानी देव हैं उनको छोड़कर जो अज्ञानी देव है वे एक दूसरेको अपनेसे अधिक सम्पत्ति वाला देखकर मनमे ईर्ष्याभाव रखते हैं सदा जलते रहते हैं। भोगनेके लिए पदार्थ अनेक चाहते है उनके भोगने की आकुलतासे आतुर रहते हैं। देवी की आयु कम होती है देवकी आयु बडी होती है, बस जब कोई देवी मर जाती है तो उसके वियोगका दु.ख सहते हैं, अपना शरीर छूटने लगता है तब बहुत विलाप करते हैं कि ये भोग छूटे जाते हैं क्या करें।

इस कारण देवभी मानसिक कष्टसे पीडित हैं । जब चारो ही गति मे दुख है तब सुख कहाँ है तो आचार्य कहते है कि सुख अपने आत्मा मे है । जो अपने आत्माको समझते है और उसकी शुद्ध स्वाधीन अवस्था व मोक्षके प्रेमी होकर आत्मा के अनुभव में मग्न होते हैं उनको सच्चा सुख होता है । ऐसे महात्मा चाहे जिस गति मे हो सुखी रहते है । परन्तु ये सब महात्मा ससारी नही रहते हैं, वे सब मोक्षमार्गी हो जाते हैं । उनका लक्ष्यविंदु मोक्ष होता है । वे आत्मध्यान करते हुए शुद्ध भावो का लाभ पाते हैं जिससे कर्म झरते जाते है और यही शुद्ध भाव उन्नति करते करते मोक्ष के भाव मे हो जाते हैं । इसलिए आचार्य का उपदेश है कि आत्मीक शुद्ध भावोकी पहचान करो जिससे यहाँ भी सच्चा सुख पाओगे व आगामी भी सुखी होगे ।

श्री अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसदोहमे कहते है—

त्यजतु युवति सौख्यं क्षान्तिसौख्यं श्रयध्व,
विरमत भवमार्गान्मुक्तिमार्गे रमध्वम् ।
जहित विषय संगं ज्ञानसंगं कुरुध्वं,
अमितिगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वम् ॥१९॥

भावार्थ—स्त्रियोके सुखको छोडो क्षमाभाव सहित शातिमय सुखका आश्रय करो, ससारके भोगोसे विरक्त हो मोक्षके मार्गमें रमण करो, इन्द्रियोके विषयोका रस छोडो आत्मज्ञानकी सगति करो जिससे तुमनित्य अनतज्ञान के नवमोक्षको प्राप्नकर सको—

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

आपस में ये जीव नर्क भूके दु:सह महा दुख सहें,
पशुगति में हो बाह छिदभिदमरे दिनरात पीड़ित रहें ।

नरगतिमे हो रोग इष्टविछुड़न सुरमन जनित दुखलहै,
बुधबहुंगनि दुखजान बुद्धि अपनो शिवहेतुकर अघ दहैं ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जगतके क्षणभगुर पदार्थोंके लिए प्रयत्न करना वृथा है।

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यंरूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा॥
यत्तत्रापि विधीयते बत कुतः मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवल श्रम करे न व्याप्रियंते बुधाः ॥८०॥

अन्वयार्थ--(सलिल) पानीमे (रूप इव) मट्टीकी पुतलीके समान (दुष्कर) कठिन (श्रम) परिश्रम (कृत्वा) करके (यत्नत अपि रचित) यत्न से भी बनाया गया (सर्वं) सब (सांसारिक कार्य) ससारका काम (क्षणेन) क्षणभर मे (सर्वथा नश्यति) बिलकुल नाशहो जाता है। (यत जब ऐसा है तब(मूढ) हे मूर्ख (त्वया) तेरे द्वारा (तत्रापि) उसी ससारी कार्यमे ही (वत) बडे खेद की बात है (कुत) क्यो (प्रवृत्ति.) प्रवृत्ति (विधीयते) को जाती है ? (बुधाः) बद्धिमान प्राणो (केवलश्रमकरे) खाली बेमतलब परिश्रम करानेवाले (कृत्ये) कार्य मे (क्वापि) कभी भो (हि) निश्चय करके (न व्याप्रियन्ते) व्यापार नही करते हैं।

भावार्थ—जैसे मिट्टी की मूर्ति पानीमे रखने से गल जाती है वैसे ससार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीरही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओ के रहने का क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगतका यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नही होते न नये पैदा होते हैं परतु

इन द्रव्यो की जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएँ कभी भी थिर नही रह सकती हैं। हम सबको अवस्थायें ही दीखती हैं तब ही यह रात-दिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोडो की सम्पत्ति क्षणभर मे नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभरमें कालके गाल में समा जाता है, यौवन देखते-२ विलय हो जाता है, बल जरा सी देर मे जाता रहता है। संसार के सर्व ही कार्य थिर नहीं रह सकते हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यों के लिए उद्यम नही करता है। वह इन्द्रपद व चक्रवर्तीपद भी नहीं चाहता है क्योकि ये पद भी नाश होने वाले है। इसलिए वह तो ऐसे कार्यको सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभाव का लाभ है। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र हो जाता है फिर कभी मलीन नही हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमे परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देनेवाले ही कार्यों का उद्यम करते हैं। इसलिए सुख के अर्थी जीव को आत्मानन्द के लाभ का ही यत्न करना उचित है।

सुभाषित रत्नसदोह मे अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किञ्चिन्निज मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ॥

कर्मोद्‌भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्ति मार्गं श्रय त्वम्।४१६

भावार्थ—मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी सुख-मई, दुःखों का नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री, संसारिक सुखादि मेरे से अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नही है क्योंकि यह सब कर्मों के द्वारा उत्पन्न हैं, चंचल हैं, क्लेशकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थों में मोह करना वृथा है। ऐसा विचार कर हे जीव ! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

संसारिक जो काम यत्न करके करता बहुत श्रम लिए।
सो सब क्षण मे नाश होत जैसे मृत्पिड जल में दिए॥
फिर क्यों मूर्ख प्रवृत्ति व्यर्थ अपनी करता क्षणिक कार्यको।
बुधजन खूब विचार कार्य करते तजते वृथा कार्य को॥८०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्माएं कषायो की तीव्र बाधा से आकुलित हैं वे ससार मे ही आशक्त रहती हैं, उनको आत्मीक शाति की परवाह नही रहती है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम्॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं ससृतौ रज्यते॥८१॥

अन्वयार्थ—(चित्रोपद्रवसंकुलाम्)नाना प्रकारकी आपत्तियो से भरे हुए (उरुमला) महा मलीन(नि.स्वस्थतां)आत्मीक शाति से रहित महा आकुलतामय(संसृति)इस संसारकी तथा(आपत्ति-

भिर्वर्जिताम्) सर्व आपत्तियों से रहित (नित्यनिरंतरोन्नतसुखां) व सदा ही बिना अन्तर के उच्च सुख को देने वाली (मुक्ति) मुक्ति को (कोपि) कोई भी (कषायमोहितमतिः) कषाय से बुद्धिको मूढ बनाने वाला (प्राणी) मानव (तत्वतो) तत्वदृष्टि से या वास्तव मे (नो बुध्यते) नही समझता है। आचार्य कहते हैं फिर वह (अनुत्तमाम्मुक्ति मुक्ता) ऐसी मुक्ति को जिसके समान जगत मे कोई उत्तम पदार्थ नही है त्याग कर (अपरथा) उससे विरुद्ध (संस्तृतौ) ससार में (किं) क्यो (रज्यते) राग करता है।

भावार्थ—यहा पर आचार्य ने बताया है कि जिसकी बुद्धि बिगड जाती है वह हितकारी पदार्थ को छोड़कर बाधाकारी पदार्थ को लेता फिरता है। यदि किसी मूर्ख को एक हाथ से अमृत व एक हाथ से सूखी रोटी दी जावे तो अमृतको छोड़कर उस रोटी को ही ले लेता है क्योंकि उसको यह विश्वास नही है कि अमृत मे क्या गुण है। इसी तरह अज्ञानी प्राणी को यदि श्री गुरु एक तरफ तो मोक्ष का स्वरूप बतावें, दूसरी तरफ ससार का स्वरूप बतावे और यह समझावें कि संसार जब जन्म, मरण, शोक, भय, रोग, वियोगादि उपद्रवो से रात-दिन भरा है तब मोक्ष इन सर्व आपत्तियो से बिलकुल दूर है। ससार जब मलीन व आकुलतामय है तब मोक्ष पूर्ण निराकुल व नित्य परमोत्तम सुख को देने वाला है तब भी वह मूर्ख अपनी अनादि कालीन आदत के अनुसार अनतानुबधी कषाय से अन्धा होता हुआ संसार ही में राग करता है। मोक्ष की तरफ बिलकुल भी अपनी रुचि नही पैदा करता है। यही कारण है जो अनेक जीव धर्मोपदेश को सुनते हुए भी नही भीजते हैं। रातदिन दूसरे प्राणियो का मरण देखते हुए भी अपने कल्याण का उपाय

नही करते हैं। यह सब मोह का माहात्म्य है। तथापि जिसकी समझ मे यह रहस्य आ गया है कि संसार त्यागने योग्य है व मोक्ष ग्रहण करने योग्य है उसको तो फिर प्रमाद के वशीभूत नही होना चाहिए और निरन्तर आत्मानुभव का उद्यम करके इस लोक तथा परलोक मे सुखी रहना चाहिए।

स्वामी अमितगति ने ही सुभाषित रत्नसदोह मे कहा है—

विचित्रवर्णाचितचित्रमुत्तमं यथा गत क्षो न जनो विलोकते।
प्रदंश्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम्।१४५

भावार्थ—जैसे अन्धा मनुष्य नाना प्रकार वर्णों से बने हुए सुन्दर चित्र को नही देख पाता है, इसी तरह नाना प्रकार उत्तम तत्वो से भरे हुए जिनेन्द्रके मत को दिखलाए जानेपर भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव नही समझ पाता है, यह सर्व मोह का तीव्र वेग है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

है संसार मलीन क्लेशकारी नाना उपद्रव भरा।
सर्व आपत्ति विहीन मोक्षशाश्वत् परमोच्च वर सुखकरा ॥
है जो मोह कषाय बुद्धिधारी नहि बूझता सत्य को।
सर्वोत्तम सुख मोक्ष छोड़ रमता संसार निःसत्यको ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि बाहरी पदार्थों पर इच्छा रखने से पाप का सचय होता है।

रे दुःखोदयकारणं गुरुतरं बध्नंति पापं जनाः।
कुर्वाणा बहुकाक्षया बहुविधा हिंसापराः षट्क्रियाः ॥
नीरोगत्वाचकीर्षया विदधतो नापथ्यभुक्तीरमी।
सर्वाङ्गीणमहो व्यथोदयकरं किं यांति रोगोदयं ॥८२॥

अन्वयार्थ—(रे) अरे! बड़े खेद की बात है कि (जनाः)

जग के प्राणी(बहुकांक्षया)तीव्र विषय भोगो की इच्छा के वश होकर(बहुविधा)नाना प्रकार की(हिंसापरा:) हिंसा को बढाने वाली (षट्क्रिया·) असि, मसि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः तरह की आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं को(कुर्वाणा:)करते हुए (दु·खोदयकारणं)दु·खों की उत्पत्ति के कारण(गुरुतरं)ऐसे भारी (पाप)पाप कर्मको(बध्नंति)बाँधते रहते हैं(नीरोगत्वचिकीर्षया) रोग रहित होने की इच्छा करके(अमी)ये प्राणी(अपथ्यभुक्ती:) अपथ्य भोजनो को(विदधत)करते हुए (अहो)अहो ! (किं)क्या (सर्वांगीणम्)सर्व अग में (व्योदयकरं)कष्ट को पैदा करने वाले (रोगोदयम्) रोग की उत्पत्ति को (न याति) नही प्राप्त होंगे ?

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बतलाया है कि जो सच्चे सुख की वाछा रखते हैं उनको उसका सच्चा उपाय छोडकर उससे विरुद्ध उपाय नही करना चाहिए। सच्चा सुख आत्मज्ञान व आत्मध्यान से होता है, वह ध्यान परिग्रह त्यागसे भले प्रकार हो सकता है। जो सच्चे सुख को चाहकर भी दुःखो को देनेवाले पापो को नाना प्रकार आरम्भ करते बाँधते रहते हैं उनको सुख कभी प्राप्त नही हो सकता। जो बबूल बोता है उसको कांटे ही मिलेंगे, उसको आम के फल कभी नही मिल सकते हैं। जो पापों का साचय करेगा उसको दु ख ही मिलेगा उसको सुख का लाभ कैसे हो सकता है। इसपर दृष्टान्त दिया है कि जंसे कोई मानव निरोग रहना चाहे परन्तु बदहजमी करनैवाले ऐसे भोजनों को खाया करे तो फल उल्टाही होगा अर्थात् रोग मिटानेकी अपेक्षा रोग बढ जाएगा। रोग के बढने से सारे अग में भारी कष्टोंको भोगना पडेगा।

इसलिए बुद्धिमान प्राणीको सुविचार करके वही काम करना

योग्य है जो उसके काम के सिद्ध करने मे बाधक न हो। सुखके लिए धर्म का सेवन करना जरूरी है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह मे कहते है—

अवति निखिललोकं यः पितेवादृतात्मा।
दहति दुरितराशिं पावकेवेन्धनौघम्॥
वितरति शिवसौख्यं हन्ति संसारशत्रुं।
विदधति शुभबुद्ध्या त बुधा धर्ममत्र॥६६०॥

भावार्थ—बुद्धिमान लोग यहाँ उसी धर्म को शुभ बुद्धि से धारण करते है जो आदर किया हुआ सर्व लोगो को पिता के समान रक्षा करने वाला है, जो पापके ढेरको इस तरह जलाता है जिस तरह अग्नि ईन्धन के ढेर को जलाती है, जो ससाररूपी शत्रु को नाश करता है व जो मोक्ष के सुख को देता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

धर तृष्णा बहु करत कार्य हिंसक षट् रूप उद्यम नये।
बाँधत पाप अधार दुःखकारी, नहिं बूझते सत्य थे॥
जो चाहे नीरोगता पर भखे, भोजन बहुत कष्ट कर।
पावे रोग महान देह अपनी, पीड़े महा दोष कर॥८२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि कर्म शत्रुओ को नाश करने से ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है—

रौद्रैः कर्ममहारिभिर्भववने योगिन्! विचित्रैश्चिरम्।
नायं नायमवापितस्त्वमसुखं यैरुच्चकैर्दुःसहम्॥
तान् रत्नत्रयभावनासिलतया न्यक्कृत्य निर्मूलतो।
राज्यं सिद्धिमहापुरेऽनघसुखं निष्कंटकं निर्विश॥८३॥

अन्वयार्थ—(योगिन्) हे योगी (भववने) इस ससाररूपी वन मे (यैः) जिन (उच्चकैः) बड़े (रौद्रैः) भयानक (विचित्रैः) नाना प्रकार के (कर्ममहारिभि) कर्मरूपी तीव्र महा शत्रुओं के द्वारा (चिरम्)अनादि काल से (त्वम्) तूने (दुःसहम्)असहनीय (असुख) दुःख को (अवापितः) पाया है (अयं न अयं न) ऐसा कोई कष्ट बाकी रहा नही जो तूने न पाया हो। (तान्) उन कर्मरूपी शत्रुओं को (रत्नत्रयभावनासिलतया) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकतारूपी आत्मज्ञान की तलवार से(निर्मूलतः)जड़ मूल से(न्यक्कृत्य) नाश करके(सिद्धिमहापुरे) मोक्ष के महान नगर मे जाकर (अनघसुख) पाप रहित आनन्द से भरे हुए (निष्कटक) तथा सर्व बाधारहित (राज्य) राज्य को(निर्विश) प्राप्त कर।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यने बताया है कि इस जीवके साथ मे अनादिकाल से कर्मरूपी शत्रुओ का सम्बन्ध चला आता है। ये कर्म बडे भयानक हैं व नाना प्रकार का कष्ट इस ससार वन मे इस मोही जीव को दे रक्खा है, कभी निगोद मे कभी नर्क मे, कभी पृथ्वी आदि पर्याय मे, कभी कीडो मकोडो मे, कभी पशु-पक्षियो मे, कभो रोगी व दलिद्री मानवो मे, कभी नीच देवो में जन्म करा-कराकर ऐसा कोई शारीरिक व मानसिक कष्ट बाकी नही रहा है जो न दिया हो। ये कर्मशत्रु बडे निर्दयी हैं, जितना इनसे मोह किया जाता है व जितना इनका आदर किया जाता है उतना ही अधिक ये इस प्राणीको घोर दुःखो मे पटक देते हैं, जबतक इनका नाश न होगा तबतक स्वाधीन आत्मीक स्वराज्य प्राप्त न होगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि श्रीजिनेन्द्रभगवान ने जिस अभेद रत्नत्रय की बनी हुई स्वानुभव रूपी खड्ग का पता बताया है उस खड्ग को एक मन होकर ग्रहण कर और

उसीका बल पूर्वक अभ्यास कर। इसी तलवार से कर्मों का जड़ मूल से नाश हो जाता है। वे कर्म धीरे-२ सब भाग जाते हैं। वे इस यात्री को मोक्ष नगरके जाने मे विघ्न करते थे सो हट जाते हैं और यह सुगमता से मोक्ष की अनुपम राजधानी मे प्रवेश करके परमोच्च अनुपम आत्मीक आनन्द का निरतर बेखटके भोग करता रहता है।

स्वामी पद्मनदि सद्बोध चद्रोदय में कहते हैं कि ध्यानसे ही कर्मों का नाश होता है—

योगतो ही लभते विबधनम् योगतोपि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषम गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥२६॥

भावार्थ—योग को अशुद्ध रखने से कर्मों का बध होता है तथा शुद्ध योग से अवश्य यह मानव कर्मों से छूट जाता है। यद्यपि ध्यानका मार्ग कठिन है तथापि जो मोक्षका चाहने वाला है उसको गुरु के वचनो से इस सर्व ध्यान के मार्ग को समझ लेना चाहिए।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

हे योगी हैं कर्म शत्रु दुर्गम नाना तरह रूप धर।
भववन में दुःसह जु कष्ट तुझको दीने बड़े हैं प्रबल ॥
रत्नत्रयमय खड्ग वेग गहकर निर्मूल उन नाश कर।
जो निष्कंटक राज्य मोक्षपुरका पावे सुखी होयकर ॥८३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो कोई आत्मोन्नति को लक्ष्य मे लेकर तप करता है उसको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है—

मदाक्रांता वृत्त

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥

न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवैं रोप्यमाणै—

विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ॥८४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (बाह्यार्थं) बाहरी धन, राज्य, स्वर्ग आदि के हेतुसे (तपसि) तप करनेमे (यतते) उद्यम करता है (असौ) वह (बाह्यम्) बाहरीही पदार्थ को (आपद्यते) पाता है। (तु) परन्तु) (यः) जो (आत्मार्थं) आत्माकी सिद्धिके लिए तप करता है (स) वह (लघु) शीघ्र (पूतम्) पवित्र (आत्मान) आत्मा को (एव) ही (लभते) पाता है। (कोद्रवैं रोप्यमाणै) कोदो यदि बोए जावें तो उनसे (क्वचन) कभी भी (कलमाः) चावल (न प्राप्यते) नही मिल सकते हैं (इत्थ) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (कुशलमतय.)निपुण बुद्धि वाले (स्वार्थम्)अपने आत्मा के कार्य को (एव) ही (कुर्वते) कहते है।

भावार्थ—आचार्यने बताया है कि तप करनेमे अनेक गुण हैं, जो इस भाव से तप करते है कि हमे पुण्यबध हो व उस पुण्य से हम बाहरी सम्पत्ति, राज्यधन, स्वर्ग आदि प्राप्त करे तो उनका भाव पवित्र व शुद्ध नही होता है। उनके भावोमे शुभ भावमात्र होते हैं जिनसे वे पुण्य बाँधकर बाहरी पदार्थ प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपना निर्मल अविनाशी मोक्षपद है वह उनको कभी भी प्राप्त नही हो सकता। इसलिए जो कोई बुद्धिमान आत्मबुद्धि के हेतुको मनमे रखकर शुद्धोपयोगी प्राप्तिके लिए आत्मध्यानादि तप करते है उनको अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है, वे अवश्य मुक्त हो जाते हैं। जैसा बीज बोया जायगा वैसा फल होगा। शुभोपयोग से पुण्य बंध होता है तब शुद्धोपयोग से कर्मों का नाश होता है। यदि कोई कोदो बोवे और चाहे कि चावल पैदा हो तो कभी भी चावल नहीं मिल सकते—कोदो से कोदों

ही पैदा होगा। चावलके चाहने वालेको चावल ही बोना उचित है। प्रयोजन यह है कि ज्ञानीको तुच्छ सुखके लिए तप ऐसे महान परिश्रमको न करके मात्र आत्माधीन पवित्र सुखके लिए व सदा कालके लिए बन्धनोसे मुक्त होने ही के लिए तप करना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमे मोक्षप्राप्तिके लिए ज्ञानपूर्वक तप करने की शिक्षा देते हैं—

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं।
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं॥
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं।
कृत्वात्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम्॥२८॥

भावार्थ—हे सुबुद्धि! अपने आत्माको स्वाधीन करके व इद्रियोके विषयोसे विरक्त होकर, तत्वकी चिंतामे लीन होकर, संसारिक व्यापारोसे रहित होकर व आत्महितमे तल्लीन होकर व निराकुल आनन्दमे पूर्ण होकर, ज्ञानके भीतर आरूढ होकर, शातभाव, मनका दमन व तप तथा ध्यानमे प्रवृत्ति करके तू केवलज्ञानका स्वामी बन। वास्तवमे इच्छारहित आत्मध्यान ही परमात्माके पदके लाभका उपाय है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो बाहर धन आदि हेतु तपता सो बाह्यको पावता।
जो निजआतम हेतु ध्यान करता शुचि आत्माको पावता॥
जो कोदोंको बोवता नहि कभी वह सालिको पावता।
ऐसा जान विशाल बुद्धिकारी निज कार्य उर लावता॥८४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अज्ञानी लोग धन आदि

बाहरी पदार्थों को ही अपना समझते हैं—

कांतासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाप्यात्मनो ।
भिन्नाः कर्मभवाः समीरणचला भावा बहिर्भाविनः ॥
तैः संपत्तिमिहात्मनो गतधियो जानंति ये शर्मदां ।
स्वं संकल्पवशेन ये विदधते नाकोशलक्ष्मीं स्फुटम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (कातासद्मशरीरजप्रभृतयः) ये स्त्री, मकान, पुत्र आदि पर्याय (सर्वथापि) सर्व प्रकारसे ही (आत्मनः भिन्न) अपने आत्मासे भिन्न हैं (बहिर्भाविनः भाव) बाहर रहने वाले पदाथ है (समीरणचला:) तथा पवनके समान चचल हैं—टिकने वाले नही हैं (कर्मभवा) सो सब कर्मोंके उदयसे होनेवाले है। (इह) इस जगतमे (ये) जो (गतधिय) बुद्धि रहित प्राणी (तै) इन ही पदार्थों से (आत्मन) अपनेको (शर्मदा) सुख देने वाली (सपत्ति) सपत्ति (जानति) जानते है (ते) वे (स्फुटम्) प्रगटपने (सकल्पवशेन) अपने मनके सकल्प से ही (स्व) अपने पास (नाकीशलक्ष्मी) स्वर्गकी लक्ष्मीको मानो (विदधते) प्राप्त करते रहते है।

भावार्थ—यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि जो मूर्ख क्षण-भगुर पदार्थोंके सम्बन्ध होने पर उनको अपनी सम्पत्ति मान लेते हैं वे अतमे पछताते है और शोकमे ग्रसित होते है, जगत मे स्त्री पुत्र, मित्र, बन्धुजन आदि चेतन पदार्थ तथा धन, धान्य, राज्य, ग्रह आदि अचेतन पदार्थ जब किसीको मिलते हैं तब कुछ पुण्य-कर्मका उदय होता है तब मिलते हैं और जगत के पुण्यकर्म का सम्बन्ध रहता है तब तकही उनका सम्बन्ध रहता है, पुण्यके क्षय होने पर उनका सम्बन्ध इतनी जल्दी छूट जाता है जैसे पवन

बहते हुए निकल जाती है। न तो इन पदार्थोंके सदा साथ रहने का निश्चय है और न अपना ही उनके साथ सदा बने रहने का निश्चय। क्योंकि इन बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध यदि है तो मात्र इस देहके साथ है, देह आयुकर्मके आधीन है अवश्य छूट जायगी तब चक्रवर्ती को भी सर्व सम्पत्ति यही छोड देनी पडती है। आत्मा अकेला अपने पुण्य तथा पापके बधनको लिए हुए दूसरी गतिमे चला जाता है। इन पदार्थोंको सुखदाई मानना भी भूल है। इनके लाभ करनेमे, इनकी रक्षा करनेमें, इनके वियोग होने पर, इनके बिगडने पर प्राणीको खेद व दुखही अधिक होता है, अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव इनको अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति नही मानता है। वह ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीक गुणो को ही अपनी अटूट व अविनाशी सम्पदा मानता है, अज्ञानीका इन अनित्य पदार्थोंको अपना मानना ऐसी ही मूर्खता हैं जैसे कोई अपने मनमें ऐसा माना करे कि मैं तो स्वर्गका इंद्र हूँ व देव हूँ, मैं स्वर्गमे रमण कर रहा हूँ। जैसा यह संकल्प झूठा है मात्र एक ख्याल है, वैसे ही अनित्य पदार्थो को अपना मानना एक ख्याल है व भ्रम है। स्वामी पद्मनदि अनित्यपंचाशत् मे कहते हैं—

हंति व्योम स मुष्टिनात्र सरितं शुष्का तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोथ मरीचिका विपत्ति च प्रायः प्रमत्तो भवन्॥
प्रोतुंगाचलचूलिकागतमरुत् प्रेखत् प्रदीपोपमै—
र्यत् संपत् सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः॥४३॥

भावार्थ—जो कोई मानव धन, पुत्र, स्त्री आदि अनित्य पदार्थोंके होते हुए इनको अपना मानकर मद करता है वह मानो

आकाशको अपनी मुट्ठीसे मारता है, सूखी नदीमे तैरता है, प्यास से घबड़ाया हुआ मृग जल को पीता है। ये सब स्त्री पुत्रादि पदार्थ इसी तरह नाश होने वाले है जैसे ऊँचे पर्वत की चोटी से आई हुई हवा के झोके से दीपक की लौ बुझ जाती है। इनको अपना मानना मूर्खपना है।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो दारा सुत गृह अनित्य वस्तु हैं भिन्न निज आत्मसे।
रहते बाहर देह सग चंचल हों पुण्य परताप से॥
जो मूरख संपत्ति जान उनको सुखदाय सो दुख सहे।
मानो माने देव लक्ष्मि धरता मन बीच सोचा करें।८५।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जगतके पदार्थोंसे राग दुःखकारी है जब कि वैराग्य सुखकारी है—

मन्दाक्रांता छन्द

यद्रक्तानां भवति भुवने कर्म बंधायपुंसां।
नीरागाणां कलिमलमुचे तद्धि मोक्षाय वस्तु॥
यन्मृत्यर्थं दधिगुडघृतं सन्निपाताकुलानां।
नीरोगाणां वितरति परां तद्धि पुष्टि प्रकष्टाम्॥८६

अन्वयार्थ—(भवने) इस लोक मे (यद् वस्तु) जो पदार्थ (रक्ताना) रागी पुरुषोके लिए (कर्मबधाय) कर्मोंके बधके लिए भवति) होता है (तत् हि) वह ही पदार्थ (नीरागाणा) वीतरागी पुरुषो के लिए (कलिमलमुचे मोक्षाय) कर्मरूपी मलको छुड़ाकर मोक्षके लिए होता है जैसे (यत् दधिगुडघृत) जो दही गुड़ तथा घी (सन्निपाताकुलाना) सन्निपात से व्याकुल पुरुषो के लिए (मृत्यर्थं) मरणके लिए होता है (तत् हि) वह ही (नीरोगाणां)

निरोगी पुरुष के (परां प्रकृष्टां पुष्टि) बहुत पुष्टि या शक्ति (वितरति) देता है।

भावार्थ—इस लोकमे आचार्य ने दिखलाया है कि परपदार्थ न बधका कारण है न मोक्षका कारण है। असलमे राग भाव या ममताभाव कर्मबधका कारण है और ममतारहित वीतराग भाव कर्मोंके नाशका कारण है। जिनके पास धन धान्य परिग्रह न हो परन्तु रागद्वेष या परिग्रह का ममताभाव बहुत अधिक हो तो उनके कर्मोंका बध हो जायगा तथा जिन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों के पास धनादि परिग्रह हो पर जो अपने स्वाभाविक ज्ञान व वैराग्यके बलसे उसको अपनी वस्तु नही जानते हो किन्तु मात्र पुण्योदयसे प्राप्त परवस्तु मानते हो उनके चित्तमे मोहभाव नही होता है। इससे यह परिग्रह उनके लिए अधिक कर्मकी निर्जरा का कारण है। चारित्रमोह के उदय से उनके जो अल्प रागद्वेष होता है उससे जो कर्मबध होता है वह इतना कम है कि वह ससारके भ्रमणका कारण नही होता है। जबकि मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवके भावोमें धनादि परिग्रह हो या न हो, जगतके पदार्थोंसे बडा भारी ममत्व होता है इसलिए वह बहुत अधिक बध करता है। अज्ञानीका बध ससारभ्रमणका कारण है। परतु ज्ञानी का बन्ध मोक्षमे बाधक नही है। उस ज्ञानीके जितना-२ वीतरागभाव बढ़ता जाता है उतनी-२ अधिक निर्जरा होती जाती है। समवशरणमे बहुत रत्नोकी व सुवर्ण आदिकी रचना होती है वही श्री केवली भगवान विराजमान होते हैं। केवली भगवान पूर्ण वीतराग हैं उनके उस समवशरण की विभूति से रञ्चमात्रभी कर्मोंका बंध नही होता है। प्रयोजन कहनेका यह है कि रागी जीवके परिग्रह बन्धका कारण है तथा वीतरागी के वह निर्जरा का कारण है। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ होते हैं वह

धनादि का संचय करते हैं उनके पिछले कर्मों की निर्जरा अधिक होती है क्योंकि वे भीतरसे उसके साथ मोह नहीं रखते हैं परन्तु जितने अंश रागभाव हैं उतने अंश बहुत थोडा कर्मबंध होता है। यहां पर दृष्टांत दिया है कि दही गुड और घी ऐसे पदार्थ हैं जिनको सन्निपात वाला खा लेवे तो उसका मरण हो जावे परन्तु यदि उनको निरोगी मानव खावे तो उसको बहुत अधिक बल प्राप्त हो। एक ही वस्तु किसीको हानि का निमित्त व किसीको लाभका निमित्त होती है। इस तरह ज्ञानी को धनादि परिग्रह निर्जरा व मोक्षका कारण है जबकि अज्ञानीको वह आस्रव तथा कर्मबंध का कारण है।

तात्पर्य—यह है कि हमको वीतरागी होनेका यत्न करना चाहिए। वह वीतराग भाव पदार्थों के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से होता है। ज्ञानकी महिमा स्वामी अमितगतिने सुभाषित रत्न-सदोह में इस तरह कही है—

ज्ञानं विना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्टम् ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानके विना मानवोका अहितसे बचना व हितमे प्रवर्तना असम्भव है। विना स्वात्महितमे प्रवृत्ति किए पूर्व कर्मों का नाश नही हो सकता है और बिना कर्मोंके नाशके कोई अपने इष्ट सच्चे मोक्षसुख को कभी भी नहीं पा सकता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जग में जो जो वस्तु कर्मबंधन रागी जनोको करै।
सो सो वस्तु विरागभाव धरके हर कर्म मुक्ती करै॥

जो दधि गुड़ घी सन्निपात धरके तनको वियोगी करे।
सो ही रोगरहित पुरुष यदि भखे अत्यन्त पुष्टी करे ।८६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं लोभ कषाय ज्ञानी मानवो को भी सताप का कारण है—

सम्यग्दर्शनबोधसंयततपःशीलादिभाजोऽपि नो।
संक्लेशो विनिवर्तते भवभृतो लोभानल बिभ्रतः ।।
बिभ्राणस्य विचित्ररत्न नचितं दुष्प्रापपार पय।
संतापं किमुदन्वतो न कुरुते मध्यस्थितो वाडवः ।८७।

अन्वयार्थ—(भवभृतः) ससारमे रहने वाले प्राणोके (सम्यग्-दर्शनबोधसयमतप शीलादिभाज·अपि)जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सयम, तप व शाल आदि गुणोको रखने वाला भी है परन्तु यदि (लोभानल विभ्रत.) उसके मनमे लोभको आग जल रही है तो उसके पाससे (साक्लेशो)संक्लेशभाव (नो विनिवर्तते)नही हटता है। (विचित्ररत्ननिचित) नाना प्रकार रत्नो के समूह को व (दुष्प्रापपार पय.) जिसका पार करना कठिन है ऐसे जल को (विभ्राणस्य) धारण करने वाले (उदन्वत)समुद्रके(मध्यस्थितः) बीचमे रहा हुआ (वाडवः)दावानल (किं) क्या (सताप)साताप को या क्षोभ को (न कुरुते) नही करता है ?

भावार्थ—यहाँ पर यह बात दिखलाई है कि लोभकषाय महान आकुलता व सक्लेशभाव का कारण है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या यदि कोई सम्यग्दृष्टो व ज्ञानो सयमी साधु भी हो और उनके भीतर यदि कभी प्रतिष्ठा पाने का, पूजा करने का, रस सहित भोजन पाने का इत्यादि किसी प्रकार का लोभ हो जावे तो उसके परिणाम शात व स्वस्थ न रहेगे।

जब वह लोभको हटाकर संतोषी व शात होगा तब ही उसका मन क्षोभरहित होगा। जैसे समुद्रमे अगाध जल होता है व रत्न भी होते हैं परन्तु उसके मध्यमे जो बड़वानल जलती है उससे समुद्र का जल सदा क्षोभित रहता है—निश्चल नही ठहर सकता। यहाँ यह बताया है कि सम्यग्दृष्टी होकर भी निश्चिन्त रहना चाहिए किंतु सर्व लोभ के मैलको हटाने के लिए परिग्रह का त्याग करके निर्लोभी हो जाना चाहिए। निर्लोभी ही आकुलता रहित आत्मध्यान कर सकते हैं इसलिए लोभ कषाय को जीतना आवश्यक है।

स्वामी अमितगतिजी ने सुभाषितरत्नसदोहमे कहा है—

चक्रेशकेशवहलायुधभूषितोपि।
संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति॥
तृप्ति बिना न सुखमित्यवगम्य सम्य—
ग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवंति धीराः॥७॥

भावार्थ—चक्रवर्ती, नारायण आदिकी बहुत विभूति व आयुध आदिसे विभूषित होनेपर भी यदि किसी मानवमे सतोष नहीं है तो उसको कभी तृप्ति नही मिल सकती है। जहाँ मनमें तृप्ति नहीं वहां कभी सुख नही प्राप्त हो सकता ऐसा जानकर धीर पुरुष कभी भी लोभ रूपी पिशाचके वशीभूत नही होते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

सम्यग्दर्शन ज्ञान सयममयी तप शील धारे सही।
पर मनसे तृष्णा तजे नहिं कधी संक्लेश त्यागे नहीं॥
नाना रत्न समूह धार उदधी जलका नहीं पार है।
बड़वानल जिसमध्य नित्य जलता संताप कर्तार है॥८७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोहांध पुरुष परके पदार्थको अपना ही समझ लेते हैं परन्तु निर्मोही नहीं समझते।

मंदाक्रांता वृत्तम्

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या।
निर्मोहानां व्यपगतमलः शश्वदात्मैव नित्यः॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीये—
मोहं चित्त ! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन ॥८८॥

अन्वयार्थ—(मोहांधानां) मोह से अन्धे जीवों के (हृदये) हृदयमे (बाह्यम्) बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ (आत्मीयबुद्धया) अपने आत्मापनेकी बुद्धिसे अर्थात् वह अपना ही है ऐसा (स्फुरति) झलकता है। (निर्मोहानां) मोह रहित पुरुषों के हृदय में (व्यपगतमल.) कर्ममैल से रहित (नित्यः) अविनाशी (आत्मा एव) आत्मा ही (शश्वत्) सदा अपनापनेकी बुद्धि से झलकता है। (चित्त) हे मन ! (यदि यत्) अगर जो (तद्भेदं) इन दोनों के भेदको (ते विविदिषा) तू समझ गया है (तदा) तब (स्वकीये·) इन अपनोसे अर्थात् इन स्त्री पुत्रादिसे जिनको तूने अपना मान रक्खा है (स्वकीयं) अपनेपन का (दुष्टं) दुष्ट (मोह) मोह (किं न) क्यो नही (क्षणेन क्षपयसि) क्षण मात्र में नाश कर देता है।

भावार्थ—जहातक ससारी जीवोके हृदयमे मिथ्यात्व कर्मका उदय है कि जिससे उनके मिथ्याभाव रहता है वहाँ तक वे पर वस्तुको अपनी माना करते हैं। जो शरीर क्षणभंगुर है उसे अपना मान लेते हैं, फिर शरीरके सम्बन्धो संपूर्ण पदार्थों को अपना मान लेते हैं, उनकी बुद्धि बिल्कुल अंधी हो जाती है परन्तु जब मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता

है तब पदार्थों का सच्चा स्वरूप जैसा का तैसा झलक जाता है। तब यह ज्ञानी जीव मात्र एक अपने आत्मा के ही शुद्ध स्वभाव को अपना जानता है। रागादि भावोंको, आठकर्मों को व शरीरादिको व अन्य बाहरी पदार्थों को अपना कभी नहीं जानता है। वह देख करके निर्णय कर लेता है कि सर्व पदार्थ विलय होते जाते हैं। किसीका सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ नित्य नही रहता है। शरीर ही जब छूट जाता है तब दूसरे पदार्थ की क्या गिनती ? तब वह ज्ञानी अपने मनको समझाता है कि जब तू भले प्रकार जान गया है कि जगत का एक परमाणु मात्र भी अपना नही है तब फिर तू क्यों मूढ बनता है और क्यों नहीं अपनी भूलको छोडता है। तूने जिन शरीरादि पदार्थोंको अपना मान रक्खा है वे जब तेरे नही होते तब तेरा उनसे मोह करना वृथा है। तू मात्र अपने स्वामी आत्मा को ही अपना मान। वास्तव में जिनके यथार्थ निर्णय हो जाता है उनके दुर्बुद्धि नहीं पैदा होती है।

श्री अमितिगति सुभाषित रत्नसन्दोह मे कहा है—

यथार्थ तत्त्वं कथितं जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्यजीवो बितनोति दुर्मतिम्
॥१५७॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान ने सर्व शरीरधारी प्राणियों को सदा सुख देने वाले यथार्थ तत्व का कथन किया है। जो अपने कानों से सुनकर दिल मे रखता है व ठीक-२ निश्चय कर लेता वह भव्यजीव फिर मिथ्याबुद्धि नही करता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो मिथ्याती मोह अन्धमति हो पर वस्तु निज मानता।
सम्यक्ती निजआत्म नित्य निर्मल उसको न निज जानता॥

रे मन ऐसा भेद ज्ञान करके निज आत्ममें लीन हो।
परसे अपना मोह सर्व हरले मत दुष्टसे छीन हो ॥८८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि वीतरागी तपस्वी ही मोक्ष के अधिकारी हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता॥
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मारोपितशीलसयमभरा:) जो शील व सयमके भारसे भरे हुए अपने आत्मामे ही लीन हैं (त्यक्तान्य-साहाय्यका:) जिन्होने परवस्तु के आलम्बन का त्याग किया है (साहायक कुर्वता कायेन अपि विलक्षमाणहृदया.) जिनका मन ध्यानके साधनमे सहाय करने वाले इस शरीरसे भी उदास है ऐसे साधु (परदुष्कर गुरुतप. तप्यते) बहुत भारी कठिन तपस्या तपते हैं (तत्र अपि ये निष्पृहा.) परन्तु उस तपमे भी जो वाछा नही रखते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य निज आत्मानुभव पर है (ते) वे (भूरिभयदं) इस अत्यन्त भय देने वाले (जन्मारण्यं) ससार वनको (अतीत्य) उल्लंघन करके (निर्वृतिम्) मोक्षको (गच्छति) चले जाते हैं।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने मोक्षके अधिकारी तपस्वियो का स्वरूप बताया है कि जो शील व सयम पालते हुए भी अपने आत्माके स्वभावमे लीन होनेको ही असली शील व संयम समझते हैं, तथा जिन्होने अपने मनको ऐसा वश कर लिया है कि उस मनको दूसरोकी मदद नहीं लेनो पड़ती है। शास्त्र व गुरुपदेशका

सहारा भी छोड़कर जिनका मन स्वरूपमें तन्मय है। यद्यपि इस शरीरकी ही मददसे वे अपना आत्मसाधन करते हैं तथापि इससे अत्यन्त विरागी हैं–इसका सम्बंध मिटाना ही चाहते हैं। वास्तवमें उनका सारा उद्यम इस शरीरके कारावाससे निकल कर स्वतन्त्र होनेका है। शरीर को दुष्ट चाकरके समान कुछ थोडासा भोजनपान देकर जीवित रखते हैं। ऐसे साधु निर्जन वन, पर्वत, नदीतट, वृक्षतल आदि कठोर व दुर्गम स्थानों पर खडे होकर या बैठकर एकाग्र मन हो आत्माधीन तप तपते हैं तौभी उस तपमें प्रेम नहीं रखते हैं, तप करने को वह एक सीढ़ी मात्र जानते हैं, ध्यान अपने स्वाधीन सुखके लाभमें ही रखते हैं। ऐसे वीतरागी आत्मरसी साधु महात्मा ही कर्मों की निर्जरा करके भयानक संसार-वनसे निकल कर परमानन्दमई मोक्षमें पहुंच जाते हैं।

वास्तव में आत्मानुभवी साधु ही सच्चे सुख के पात्र हैं। स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः संतोषवानस्तसमस्तदोषः।
यत्सौख्यमाप्नोति गतान्तरायं किं तस्य लेशोपि सरागचित्तः।२३७

भावार्थ—जिसने अपनी वृत्ति को सर्वलौकिक व्यवहार से हटा लिया है, जो अत्यन्त सन्तोषी है व सर्व दोषों से रहित है, वह जैसे बाधारहित सुखको पाता है ऐसे सुखके लेश अंश को भी सराग मन वाला नही पा सकता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पर आलम्बन छोड़ आत्म रमते निज शील संयम भरे।
तप सहकारि शरीर मात्र से वैराग बृढ़तर धरे।

दुष्कर गुरुतर तपश्चरण करते वांछा न तपकी करे ।
सो तपसी भयवाय भवबन तजें शिवनारिको जा वरें ॥८६

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ऐसे तपसी जो पुण्य की वांछा भी नही रखते, बहुत दुर्लभ हैं—

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतुमनसो ये पोषयंते तपः ॥
जायंते शमसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥९०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वं अशुभ कर्म) पहले का बाधा हुआ पाप-कर्म (दुःख) दु.खको व (शुभ निर्मितम्) शुभ कर्म बाधा हुआ (सौख्य) सुखको (करोति) करता है (इति) ऐसा (विज्ञाय) जानकर (ये) जो (अशुभ निहंतुमनसः) पापकर्म को नाश करने की मनसा करके (तप. पोषयते) तप का साधन करते हैं (ते) वे (शमसयमैकनिधयः) शांति व सयम के एक निधिरूप (योगिन.) योगी (दुर्लभा जायन्ते) बहुत कठिनता से मिलते हैं (तु) परन्तु (ये) जो (अत्र) इस जगत मे (उभयकर्मनाशन-पराः) पुण्य पाप दोनो कर्मों के नाशमे उद्यमी हो (तेषा) उन साधुओके सम्बन्धमे (अत्र) यहाँ (किं उच्यते) क्या कहा जावे ? अर्थात् वे तो दुर्लभ ही हैं ।

भावार्थ—इस कथन से आचार्य ने बताया है कि वास्तव में वही मोक्षमार्ग है जहा पर पुण्य तथा पाप दोनोंसे विरक्त हो मात्र शुद्ध आत्माकी ओर लक्ष्य रक्खा जावे । निस्पृहपना ही एक साधु का लक्ष्य है । आत्मानन्दमें मगन रहना ही साधु का चिन्ह है । यद्यपि इस कालमें ऐसे विरले ही साधु मिलते हैं तथापि इसी रत्नत्रयमई भावको मोक्षमार्ग श्रद्धान करना चाहिए । पापकर्मों

के उदयसे जीव संसारमें दुःख पाते हुए व पुण्य कर्मों के उदय से जीव सुख पाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यदि यह सुख ध्रुव होता, तृप्तिकारी होता व आगामी पापबन्धकारी न होता तब तो इस सुखको भी त्यागने योग्य न मानता। परन्तु इस सुखको महात्मा पुरुषोने मृगजलके समान क्षोभकारी व तृष्णा वर्द्धक माना है। इस जगतमे ऐसे साधु भी कम हैं जो सर्वथा पापो से बचते हुए पुण्य के हेतु से तपस्या करते हैं। वे यद्यपि यथार्थ मोक्षमार्ग से पतित हैं तथापि जगत को अपकारी नहीं हैं। प्रशसनीय तो वे ही महात्मा साधु हैं जो आत्मानद के प्रेमी होकर आत्मा मे ही रमण करते हैं। इसी भावको ग्रहण कर पाठकों को स्वात्मलाभ करके अपना हित कर्तव्य है।

श्री पद्मनंदि मुनि ने एकत्वभावनादशक मे कहा है—

चैतन्यत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्ध्वा कथं कथंचिच्चेच्चिन्तनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥
मोक्ष एव सुखं साक्षात् तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥५॥

भावार्थ—अपने चेतन स्वभाव का अनुभव दुर्लभ है परन्तु वह भी मोक्ष को देने वाला है किसी भी तरह से उसको पाकर बारबार उसका चिन्तवन करना चाहिए। मोक्षही साक्षात् सुख है, उसीका ही साधन मुमुक्षु पुरुषो को करना योग्य है। वह सुख संसार भावमे नही है, जो कुछ है वह वह सुख नही है जो आत्मीक मोक्ष का सुख होता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पूरब पाप करे जु दुःख बहु दे शुभ कर्म सुख देत हैं।
ऐसा लख सब अघविनाश अर्थ तप मांहि चित देत हैं॥

ऐसे योगी संयमी चित्तसमी दुर्लभ सु इस काल हैं।
अति दुर्लभ शुभ अशुभ हनन तपसी वे सत्य शिवसुख लहैं ॥९०

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि साधुजन सदा कर्मशत्रुओ के नाशमे उद्यमी रहते हैं—

विच्छेद्यं यदुदीर्य कर्म रभसा संसारविस्तारकम् ।
साधूनामुदयागतं स्वयमिदं विच्छेदने कः श्रमः ॥
यो गत्वा विजिगीषुणा बलवता वैरी हठाद्धन्यते ।
नाहत्वा गृहमागतः स्वयमसौ संत्यज्यते कोविदैः ॥९१॥

अन्वयार्थ--(साधूना) साधुओके लिए (यत्ससारविस्तारकं कर्म) जो कर्म संसारका बढ़ाने वाला है(रभसा उदीर्य)उसे शीघ्र उदय मे लाकर (विच्छेद्यं) छेदना उचित है तब फिर (स्वयं उदयागत इद) अपने आप ही उदय मे आए हुए इस कर्म को (विच्छेदने)नाश करनेमे (कः श्रमः)क्या परिश्रम है या क्या कठिनता है। (बलवता) बलवान (विजिगीषुणा) विजयको चाहने वाला पुरुष (गत्वा)जाकरके (यः वैरी) जिस शत्रुको (हठात्) बलपूर्वक (हन्यते) मारता है (असौ) यह शत्रु (स्वयम्) अपने आप ही (गृहम्) घर में (आगतः) आ गया तब (कोविदैः) बुद्धिमान (अहत्वा) बिना मारे (न संत्यज्यते) नहीं छोडते।

भावार्थ—आत्मा के शत्रु कर्म हैं क्योंकि ये कर्म ही बंधन में डाले हुए आत्माकी स्वाधीनताको हरण किए हुए हैं, चारों गतियों मे अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट देनेमें कारणभूत ये कर्मरूपी शत्रु ही हैं, जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा कर्मोंको अपना घातक समझ लेते हैं वे अपनी स्वाधीनता पाने के लिए उद्यमी होकर

यह चित्तमें ठान लेते हैं कि किसी भी तरह इन कर्म-शत्रुओं का सर्वनाश करना चाहिए। इसलिए घर तज वन में जाते हैं और तपस्या करके कर्मों को, जो दीर्घकाल में नाश होते, उनको शीघ्र उदयमें लाकर नाश करते रहते हैं। ऐसे साधुओंके सामने यदि कर्मशत्रु स्वय उदय मे आकर यहां तक कि उदीरणारूप बहुत अधिक उदयमें आकर उपसर्ग व परीषह द्वारा दुःख पैदा करके नाश होने लगे तो साधु उस समय बड़ा हर्ष मानते हैं व उनके नाश होने मे कुछ भी अपना विगाड़ नही करते। प्रयोजन यह है कि जब साधुओ को तीव्र असातावेदनी कर्म की उदीरणा से घोर उपसर्ग पड जावे व घोर परीषह सहना पडे तो वे साधु उस समय अपने आत्मध्यान में निश्चल रहकर उन आए हुए कर्मशत्रुओं को क्षय होने देते हैं। उस समय यदि साधु संक्लेश भावधारी हो जावे तो नवीन असाता कर्म को बांध लेवे तब मानो उन्होंने शत्रु को नाश नही किया, उल्टा आप कर्मशत्रु के बन्धन में फंस गए। परन्तु सच्चे पुरुषार्थी साधु संकटों के समय उत्तम क्षमा की ढाल से अपने भावों को पवित्र व आत्मरमी रखते हैं इससे उन कर्मोंका बडी सुगमता से क्षयकर डालते हैं, बहुधा उपसर्ग पडने पर साधुओ को तुर्त केवलज्ञान हो जाता है। अभिप्राय यह है कि साधुओ को कर्मों का आक्रमण होनेपर उनको समताभावसे नाश कर डालना चाहिए, कभी भी आकुलित न होना चाहिए। उस वक्त यह ही वीरभाव धारना चाहिए कि जैसा कोई वीर योद्धा अपने मन में रखता है, किसी शत्रु को विजय करने के लिए उसको चढ़ाई करके जाना था। कारणवश वह शत्रु यदि स्वय चढ़ करके आ गया तब वह वीरयोद्धा अपनी अकाट्य सेना द्वारा उस शत्रु का व उसके दल का नाश करने में कोई कमी नही करता किन्तु बिना अधिक परिश्रम के बड़ी सुगमता से उस शत्रु का नाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको उचित है कि सदा ही कर्म शत्रुओ को जीतने की ताक मे रहे, उनके वश में आप न पड़े।

वास्तव में कषाय वैरी के नाशक ही साधु सच्चे गुरु हैं।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

न रागिणः क्वचन न रोषदूषिता, न मोहिनो भवभयभेदनोद्यताः
गृहीतसम्मननचरित्रदृष्टयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः।६८४

भावार्थ—जो न कभी रागी होते हैं न क्रोध से दूषित होते हैं न मोही हैं तथा जो ससार के भय को भेदने के लिए उद्यमी हैं व जिन्होने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र को धारण कर लिया है ऐसे तपस्वी मेरे मन मे आनन्द के हेतु होवे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

भववर्द्धन सर्व कर्म निर्जर करन जो शीघ्र मनसा धरे।
जो आपी से आ गया उदय में बिन श्रम यती क्षय करे॥
विजयी वीर विचारता कि जाकर निज शत्रु मर्दन करे।
सो आपीसे आगया स्वघर में बुध तुर्त ही क्षय करे॥९१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि परिग्रह के त्याग बिना मोक्ष का लाभ नही हो सकता है—

मालिनी वृत्तम्

व्रजति भृशमधस्ताद् गृह्यमाणेऽर्थजाते।
गतभरमुपरिष्टात्तत्र संत्यज्यमाने॥
हतकहृदय तद्वेन यद्वत्तुलाग्रं।
अहिमिह दुरितहेतुं तेन संगं त्रिधापि॥९२॥

अन्वयार्थ—(हतकहृदय) हे शून्य हृदय ! (येन) क्योंकि (यद्वत्) जैसे (तुलाग्रं) तराजू का पलडा (तद्वत्) तैसे (भृशम्) बहुत अधिक(अर्थजाते गृह्यमाणे)पदार्थों को ग्रहण करते हुए यह जीव(अधस्तात् व्रजति) नीचे को अर्थात् नर्कनिगोद आदि गति को चला जाता है (तत्र संत्यज्यमाने) और जहा पदार्थों को त्याग दिया जाता है तब (गतभरम्) भार से हलका होकर (उपरिष्टात्) ऊपर को अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष को चला जाता है (तेन) इसलिए (दुरितहेतु) पापबन्ध का कारण (संगं) परिग्रह को (त्रिधा अपि) मन, वचन, काय तीनोसे (जहिहि) त्याग दे।

भावार्थ—यहाँपर आचार्य ने बताया है कि परिग्रहका भार इस जीव को नीच गति की तरफ ले जाने वाला है तथा परिग्रह के भार का त्याग ऊँची गति को ले जाने वाला है और इस पर तराजू का दृष्टान्त दिया है। जैसे तराजू के पलड़े पर जितना अधिक बोझा लादेगे वह अधिक-२ नीचेको जाएगा और जितना बोझा उसमे से निकाल लेगे उतना ही वह पलडा ऊचा होता जायगा वैसे ही जितनी अधिक मूर्छा होगी उतना ही इस जीव का पतन होगा व जितनी मूर्छा कम होगी उतनी ही इस जीव की उन्नति होगी। तत्वार्थसूत्र मे कहा है—"बह्वारम्भपरिग्रहत्व नारकस्यायुषः।" बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह नरक आयु वन्ध का कारण है। "अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य" थोड़ा आरम्भ तथा थोडा परिग्रह मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है, जो परिग्रह का प्रमाण कर के श्रावक व्रत पालते हैं वे नियम से देवगति जाते हैं, जो परिग्रह को त्यागकर ममता को हटा लेते हैं व तप करते हैं उनके यदि कषायभाव या रागभाव बिलकुल न मिटा तब तो वे साधु स्वर्गों मे १६ स्वर्ग तक व नौ ग्रैवेयकों में या नव अनुदिश मे व पाँच अनुत्तर मे चले जाते हैं। जितना-२

मूर्छारूप रागभाव या परिग्रह कम होता जाता है उतने-२ ही ऊंचे जाने लायक पुण्यकर्म बांध कर ऊँचे-२ विमान में देव, इन्द्र या अहमिन्द्र पैदा होते हैं। जिन साधुओं के रागभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है वे उसी जन्म से अरहन्त परमात्मा होकर फिर सिद्ध परमात्मा होकर तीन लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्र में विराजमान हो जाते हैं। सबसे अधिक मूर्छावान परिग्रही सबसे अंतिम सातवें नर्कमे जाता है जबकि परिग्रह का पूर्ण त्यागी, पूर्ण वीतरागी सीधा मुक्तिमें चला जाता है, ऐसा जानकर आचार्य कहते हैं कि—हे आत्मन् ! यदि तू सर्वोच्च पदको प्राप्त करना चाहता है और ससार की आकुलताओ से बचकर नित्य आत्मीक आनंद का स्वाद लेना चाहता है तो सबसे ममता छोड़कर एक निज शुभ स्वरूप का प्रेमी बन और उसीके मनोहर आत्म उपवन में रमण कर वृथा क्यो जगत के ममत्व में अपने को दीन हीन बना रहा है।

स्वामी अमितगति ने सुभाषितरत्नसंदोहमे कहा है कि लोभ की आग आत्मीक गुणो की घातक है—

लब्धेन्धनज्वलनवत्क्षणतोऽतिवृद्धि ।
लाभेन लोभदहनः समुपैति जन्तोः ॥
विद्यागमव्रततपःशमसंयमादी—
न्भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रवृद्धः ॥६४॥

भावार्थ—जैसे अग्नि में ईन्धन डालने से आगे क्षणभर में बढ़ती जाती है वैसे ही लोभ की आग प्राणी के भीतर लाभ के

होनेसे बढ़ जाती है। वह बढ़ी हुई लोभ की आग सयमी साधुओं के विद्या के लाभ को, व्रत को, तप को, शातभाव को तथा सयमादि को भस्म कर देती है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पलड़ा भारी जात है अधोको बिन भार ऊपर रहे।
जो कोई बहु संग भार रखता सो नीचगति ही लहे॥
तज परिग्रह जजाल होय निस्पृह सो ऊर्द्ध गति जात है।
मन वच काय सम्हार सङ्ग तज दे अघ बध जो लात है॥९२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि तप को पालते हुए उसे शुद्ध रखना चाहिए, मलीन न करना चाहिए।

सद्यो हन्ति दुरंतसंसृतिकरं यत्पूर्वकं पातकम्।
शुद्धयर्थं विमलं विधाय मलिनं तत्सेवते यस्तपः॥
शुद्धिं याति कदाचनापि गतधीर्नासाववद्यार्जकम्।
एकीकृत्य जल मलाचिततनुः स्नातः कुतःशुध्यति॥९३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विमलं तप) निर्मल तप (दुरन्त-ससृतिकर) दुःखमयी ससार को बढाने वाले (पूर्वकम्) पूर्व में किये हुये (पातक) पापको (सद्यः) शीघ्र ही (हन्ति) नाश कर सकता है (तत्) उस तपको (मलिन) मलीन व (अवद्यार्जकम्) पापको बाधने वाला ऐसा (विधाय) करके (यः) जो कोई (शुद्धयर्थं) कर्मों के मैल से शुद्ध होने के लिए (सेवते) सेवन करता है (असौ) वह (गतधीः) निर्बुद्धि (कदाचनापि) कभी भी (न शुद्धिं याति) नही शुद्ध हो सकता है (मलाचिततनुः) मल से जिसका शरीर भरा हुआ है ऐसा पुरुष (जलं एकीकृत्य) जल को मैल से मिलाकर (स्नातः) स्नान करते हुए (कुतः) किस तरह (शुध्यति) मल रहित शुद्ध हो सकता हैं ?

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य दिखलाते हैं कि शुद्ध वीतराग भावमयी निर्मल तप से ही कर्मों की निर्जरा हो सकती है। जो कोई तप तो करे परन्तु तप को भी अभिमान सहित करे व आगामी भोगों की इच्छारूप निदान सहित करे व इस श्रद्धान को न पाकर करे कि शुभ भाव से बध होता है तथा शुद्ध भावों से निर्जरा होती है और शुभभाव से ही मोक्ष मान ले तो ऐसा तप उल्टा कर्मों को बाधने वाला है। यह तप मलीन है, शुभ या अशुभ भाव सहित है, ऐसा तप मिथ्यात्वसहित है यदि घोर कष्ट सहकर व महीनो उपवास करके ऐसे मिथ्या तप को बहुत वर्षो तक साधन करे तो भी इस तप से बध ही होगा, आत्मा अधिक मैला होगा। जिस हेतु से तप किया था कि मैं शुद्ध हो जाऊँ वह हेतु कभी भी पूरा नही होगा। परन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागभावो को बढाता हुआ तप करेगा और शुद्धोपयोग मे रमण करेगा उसके अवश्य पिछले कर्मों की बहुत निर्जरा होगी और नवीन कर्मों का बहुत संवर होगा। इसलिए शुद्धोपयोग भाव ही आत्मा को शुद्ध करने वाला है। यह विश्वास दृढ रखके इस भावको जगाने के ही लिए तप करना योग्य है, जो आदमी मैल से बिलकुल मैला हो रहा है उसके मैल धोने के लिए शुद्ध साफ पानी चाहिये। यदि कोई मैल से मिले हुए पानी से नहावे तो उसका मैल कभी भी शरीर से उतरेगा नही—और चढता रहेगा। शुद्ध पानी से ही मसल-मसलकर नहाने से शरीर शुद्ध होगा, इसी तरह शुद्ध ध्यानमयी तप के अभ्यास से ही मलीन आत्मा शुद्ध होगा।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोहमें निर्मल तप साधकों की प्रशसा करते हैं—

जीवाजीवादितत्त्वप्रगटनपटवो ध्वस्तकन्दर्पदर्पा ।
निर्धूतक्रोधयोधा भुवि मथितमदा हृद्यविध्यानबद्धा ।।
ये तप्यन्तेऽनपेक्षं जिनगदिततपो मुक्तये मुक्तसंगा ।
स्ते मुक्ति मुक्तबाधाममितगतिगुणाः साधवो नो विशन्तु
।।९०९।।

भावार्थ—जो साधु जीव अजीव आदि तत्वों के जानने में चतुर हैं, जिन्होंने कामदेव के भेदको विध्वंस कर डाला है, क्रोध रूपी योद्धा को क्षय कर दिया है, आठो मदों को चूर्ण कर दिया है, अज्ञान दूर करके दोष रहित हैं, ऐसे जो साधु सर्व परिग्रह रहित होकर बिना किसी वांछा के मात्र मुक्ति के लिए आनन्द मन से जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ तप तपते हैं व अमर्याद ज्ञानगुण के धारी साधु हमको बाधारहित मुक्ति देवें। वास्तवमें कषायरहित ही तप सच्चा तप है ऐसे ही तपस्वी स्वय मुक्त होते हैं और दूसरो को भवसागर से तारते हैं।

मूलश्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

दुखमय भवकर पूर्व पाप संचय जो शीघ्र मर्दन करे ।
ऐसे निर्मल शुद्ध हेतु तप को मन मैल धरकर करे ।।
सो निर्बुद्धि कुकर्म अर्जन करे नहिं कर्म से शुद्ध हो ।
मलतनधारी नर मलीन जल से न्हाकर नहीं शुद्ध हो ।।९३।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं भेदज्ञान द्वारा प्राप्त शुद्ध ध्यान से ही कर्मों का नाश होता है—

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम् ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेन्धनम् ।।

लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्वि लोकार्चिताः ।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥६४॥

अन्वयार्थ—(ये)जो(मुनयः) मुनि(दुर्लभभेदयोः देहात्मनो) कठिनता से भिन्न-२ किए जाने योग्य शरीर और आत्मा के (अंतरम्) भेद को (सपदि लब्ध्वा)शीघ्र पा करके तथा(शुद्धेन) शुद्ध वीतरागतामई (ध्यानहुताशनेन) आत्मध्यान की अग्नि से (कर्मेंधनम्) कर्मों के ईन्धन को(दग्ध्वा)जला करके (लोकालोक विलोकिलोकनयना)लोक और अलोकको देखने वाले केवलज्ञान नेत्र के धारी हो जाते हैं तथा (द्विलोकार्चिताः)इस लोकके चक्रवर्ती आदि मानव व परलोक के इन्द्रादि देव आदि के द्वारा पूजे जाते हैं (भूत्वा) ऐसे महान परमात्मा अरहत होकर (सिद्धिवसतेः)मोक्षरूपी वसती के (पथान) मार्ग को(कथयति) बनाते हैं (ते) वे (न.) हम लोगो को (सिद्धये) सिद्धि के लिए (सतु) होवें ।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने बताया है कि भेदविज्ञान की सबसे पहले प्राप्ति करनी उचित है। आत्मा और शरीरादि कर्म ये दोनो दूध पानी की तरह मिले हुए हैं और इनका सबध भी अनादिकाल से प्रवाहरूप चला जाता है। कर्माण व तैजस शरीरो से तो यह जीव कोई क्षण भी अलग नही होता है, कर्मों के उदय के निमित्तसे ही अज्ञान और रागद्वेषादि भाव होते हैं, जो जिनवाणी के भले प्रकार अभ्यास के बल से अपने आत्माको विलकुल शुद्ध परमात्मा के समान जाने और सर्व रागादि भावो को व परद्रव्यो को अपने आत्मा से भिन्न जाने तथा इस ज्ञानको बार-बार मनन कर पक्का ज्ञान प्राप्त कर ले तब उसकी बुद्धि परसे राग हटता है और अपने आत्मस्वरूप में रमणता की शक्ति

पैदा होती है, तब इसके ध्यानका अभ्यास होता है। जितना आत्मध्यानका वीतरागतारूप अभ्यास बढ़ता जाता है उतना उतना कर्मका मैल कटता जाता है। आत्मध्यानके ही अभ्यास से धर्मध्यानकी पूर्णता व शुक्लध्यानकी जागृति महान मुनियोके जो उसी शरीरसे मोक्ष जाने वाले हैं होती है। इसी शुक्लध्यान से घातियाकर्मों को नाशकर वे केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं तब उनको सर्व द्रव्य अपने गुण व अनत पर्याय सहित विना किसी क्रमके एक ही काल मे झलक जाते हैं। उस समय उनको सब ही देव, मानव, साधु, सत नमस्कार करते व पूजन करते व उनका धर्मोपदेश पानकर तृप्त होते हैं। वे उस समय उसी रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग को बताते हैं जिसपर चलकर वे स्वयं परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं। आचार्य भावना भाते हैं कि हम भी ऐसे अरहतोके वचनो पर श्रद्धा लाकर व उन ही को तरह आत्म-ध्यानका अभ्यास कर शुद्ध हो जावे और मोक्षके अनुपम आनंद को प्राप्त कर लेवें। प्रयोजन यह है कि बिना किसी इच्छाके व मानरहित होकर जो शुद्ध आत्मध्यान करते हैं वे ही परमसुखी होते हैं। मलीन ध्यानसे कभी शुद्धि नही हो सकती है।

श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशति मे कहते हैं—

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् ।
सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं तदेतत्परम् ।।
यच्च न्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकार्यादि वा ।
श्रुत्वाशास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ।।५।।

भावार्थ—जो जानने वाला है वही देखने वाला है, वह सदा ही अपने चैतन्य स्वभावको नही त्यागता है। और वही मैं हूँ कोई दूसरा नही हूँ। मेरे जीव तत्त्वको छोड़कर दूसरा कोई भी

तत्व मेरा कभी भी नहीं है। मेरे आत्मस्वरूपके सिवाय जो क्रोध आदि कार्य हैं वे सब कर्मोंके द्वारा पैदा हुए हैं। सैकडों शास्त्रों को सुनकर मेरे मनमें यही तत्व विद्यमान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो दुर्लभ इस आत्मदेह अन्तर लहि शीघ्र ज्ञानी भये।
वे मुनि निर्मल ध्यान अग्नि सेती अघकाष्ट बालत भये॥
केवल नेत्र प्रकाश सर्व लखके त्रैलोक पूजित भये।
शिवमारग उद्योतकार सिद्धी हम होय भावत भये॥९४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनीश्वरों का चारित्र ही आश्चर्यकारी है जो कर्मोंको नाश कर देता है—

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि॥
दत्तोत्प्तिमनस्तमस्ततिहृतेर्देदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते॥९५॥

अन्वयार्थ—(येषा) जिनकी (ज्ञानकृषानुः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (उज्ज्वलतरः) अपने प्रकाशमे बढ़ी हुई (सम्यक्त्ववातेरित) सम्यग्दर्शनरूपी हवासे धौकी हुई (विपापैधसि दग्धे) कर्मरूपी ईंधनको जला देने पर (दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहृते.) व मनको आकुलित करने वाले सर्व रागादिक अधकारको दूर कर देने पर विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिः) सर्व पदार्थों के व तत्वोके समूहको एकही काल स्पष्ट प्रकाश करती हुई अर्थात् केवलज्ञान रूप होती हुई (सर्वदा) सदा ही (देदीप्यते) जलती रहती है (ते चित्रचरिताः) ऐसे विचित्र आचरण के (चारित्रिणः) आचरण करने वाले साधुगण (कस्य) किसके भीतर (आश्चर्यं) आश्चर्य

को (न रचयंति) नहीं पैदा करते हैं ? अर्थात् उनका चारित्र आश्चर्यकारी ही है।

भावार्थ—यहाँ फिर आचार्य ने सम्यग्ज्ञानमई आत्मज्ञानको महिमा दिखलाई है और दिखलाया है कि ज्ञानकी सेवा करना ही चारित्र है। यह सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि सम्यग्दृष्टी महात्मा के भीतर प्रगट होती है, वह सम्यग्दृष्टी अपनी सम्यग्दर्शनरूपी हवा से उसे नित्य बढाता रहता है। अर्थात् आत्मश्रद्धा पूर्वक आत्म-ज्ञानका ध्यान करता है। तब जितना-२ आत्मध्यान बढता है उतना-२ ही कर्मकाष्ठ अधिक-२ बलता है, रागादि अन्धकार अधिक-२ दूर होता है, और ज्ञानकी आग बढ़ती हुई चली जाती है। जब यह आत्मध्यान की अग्नि चार घातियाकर्मों को जला देती है और सारे ही अतरग रागद्वेषके अंधेरेको मिटा देती है तब यह ज्ञानकी अग्नि अन्तित सीमाको पहुँचकर महा विशाल केवलज्ञानरूप हो जाती है। उस समय सर्वही द्रव्य अपने गुण व पर्यायोंके साथ एक ही काल झलक जाते हैं फिर केवलज्ञानरूपी अग्नि कभी बुझती नही है-सदा ही जलती रहती है। जिन्होंने ऐसे आत्मध्यानरूपी चारित्रको आचरणकर ऐसी अपूर्व ज्ञान—अग्निको प्रकाश कर डाला है उन साधुओं का ऐसा विचित्र ध्यानका परिश्रमरूप चारित्र वास्तव मे साधारण मानवो के मनमें आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मज्ञानरूपी अग्निको निरन्तर जला कर उसीकी सेवाकर अपने को शुद्ध कर लेना चाहिए। पद्मनंद मुनिने परमार्थविंशति मे आत्मध्यानका व आत्मतत्व में एकाग्र होने की भावना भाई है—

देव तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्य महे।
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतो मार्गे स्थिता निश्चयात् ॥

अस्माकं पुनरेकताश्चयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण—
स्फारोभ्रूतमतिप्रबधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥१३॥

भावार्थ—जब हम व्यवहार मार्गमे चलते हैं तब हम श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी प्रतिमा, जिन गुरु व साधुजन तथा शास्त्रादि सबकी भक्ति करते है परन्तु हम जब निश्चय मार्गमे जाते हैं तब प्रगट चैतन्य गुण से झलकती हुई भेदविज्ञान की ज्योति जल जाती है उस समय हम एकभाव मे लय हो जाते हैं तब हमको उत्कृष्ट तत्त्व एक आत्मा ही अनुभव मे आता है। अर्थात् जहा शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य कुछ अनुभवमे न आवे वही निर्मल आत्मध्यान है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जिनके भीतर ज्ञान अग्नि बढ़ती सम्यक्तको पवन से।
इंधन कर्म जलाय दोष मन सब कर दूर निज रमन से॥
उनके केवलज्ञान रूप होकर नित आप जलती रहे।
तिन मुनि पालनहार आत्मचर्या आश्चर्य करती रहे ॥९५॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जब तक किंचित् भी स्नेहका लगाव रहेगा तब तक कर्मोंका नाश न होगा। इसलिए ध्यानी को वीतरागी होना चाहिए—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दु.खदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथम्॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः।
भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥९६॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जबतक (चेतसि) चित्तमे (बाह्यवस्तु-विषय·) बाहरी पदार्थ संबधी (स्नेहः) राग (स्थिरः) थिररूप से

(वर्तते) पाया जाता है (तावत्) तबतक (दुःखदानकुशलः) दुख देने में कुशल ऐसा जो (कर्मप्रपंचः) कर्मों का जाल सो (कथ) किस तरह (नश्यति) नाश हो सकता है ? (वसुधातलस्य) जमीन के तलेके (आर्द्रं त्वे)गीलेपने के होते हुए(भृज्जत्तापनिरोधनपरा·) अत्यन्त सूर्यके आताप को रोकनेवाले (शाखोपशाखान्विताः) शाखा तथा उपशाखा से पूर्ण (सजटा) तथा जटावाले (पादपा) वृक्ष (किंशुष्यंति) कैसे सूख सकते हैं ? अर्थात् नहीं सूख सकते हैं।

भावार्थ—कर्मरूपी वृक्ष अनेक दु.खरूपी कांटोंसे भरा हुआ है इसकी पुष्टि रागरूपी जलसे होती रहती है। जहाँ तक राग का जल सिंचन होता रहता है वहांतक यह कर्मरूपी वृक्ष बढ़ता जाता है। यदि कोई चाहे कि इस कर्मरूपो वृक्ष की बाढ न हो किन्तु यह सूखकर गिरपड़े तो उपाय यही है कि इसमें रागरूपी जल का सिंचन बन्द किया जावे तब यह शीघ्र ही गिर जावेगा। एक वन मे अनेक वृक्षों के समूह हैं जिनको बडी-बडी शाखाएं हैं व जिन पर जटाएं हैं ये वृक्ष बराबर बढ़ते रहते है, जब तक इनको जड़ो मे जमीन की तरी मिलतो रहती है। जब जमोन की तरी का पोषण नही मिलता है तब वे बडे-२ वृक्षभी सूखकर गिर जाते हैं।

वास्तव में कर्मोंके नाशका उपाय वीतराग विज्ञानमई जिन धर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टीको इस जिनधर्मका लाभ हो जाता है तब उसके कर्मवृक्ष की जड बिलकुल ढीली पड जाती है, अनंतानुबधो कषायका उदय नही रहता है। ये ही कषाय कर्मकी जड़ को मजबूत करने वाली हैं। मात्र अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषायका उदय संबन्धी राग है सो कर्मवृक्षमें

कुछ पुष्टि देता है परन्तु उसकी जड़ को मजबूत नहीं करता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टी के भीतर का जो कर्मरूपी वृक्ष है वह एक न एक दिन बिलकुल सूख जायगा। जिसकी जड़ कमजोर हो गई है वह अधिक दिन नही चल सकता है। सम्यग्दृष्टी के भीतर पूर्ण वैराग्य इस तरह का होता है कि वह परमाणु मात्र भी परवस्तुको अपनी नही मानता है। उसके उदयप्राप्त कषायो के उदयसे जो कर्मबध होता है उसको भी कर्मविकार जानता है। फिर आत्मानुभवके अभ्याससे जितना-२ राग घटता जाता है उतना-२ कर्मवृक्ष सूखता जाता है। जब वीतराग हो जाता है तब सर्व कर्मो से रहित शुद्ध हो जाता है। प्रयोजन कहने का यह है कि ज्ञानी को उचित है कि वीतराग-भावके द्वारा आत्मध्यान का अभ्यास करे।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोह में कहते हैं—

भोगा नश्यन्ति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि।
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया ।।
स्वातंत्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते नु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्घ्यम् ।४१३

भावार्थ—ये इंद्रियोके भोग काल पाकर स्वय नष्ट हो जाते हैं इनके भीतर कोई भी सार गुण नही मिलता है इसलिए हे जीव! तू इन आपत्ति व भयके करने वाले भोगो को आप ही अपनी धर्म मे बुद्धि लगाकर छोड़ दे क्योंकि ये भोग स्वतंत्र रहते हुए मन मे बडे भारी संतापको पैदा करते है और यदि इनको छोड़ दिया जाय तो ये जीव स्वयं ही पूजने योग्य और नित्य ऐसे अपने आत्मीकसुख को भोगते हैं जिस सुख के समान कोई सुख नहीं है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जब तक मनमें बाह्यवस्तु इच्छा थिररूप वर्तन करें।
तब तक दुखकर कर्म जाल कैसे यह जीव चूरन करै ।।
पृथ्वीतल में जलपना जु जब तक नहि वृक्ष हैं सूखते ।
सूरज ताप निरोध कर सुशाखा उपशाखा में लूंबते ।।९६।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो विषयभोगों के लिए तप को छोड़ देते हैं वे निन्दा के योग्य हैं—

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम् ।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः सपदम् ।।
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौ यदनेकदुखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।९७।।

अन्वयार्थ—(यत्) जो (चक्री) चक्रवर्ती (तपसे) उस तपके लिए (यत्) जो (तपः) तप (सूरीणा) साधुओ को (अनश्वरीं) अविनाशी (अनुपमां) और उपमा रहित (सपदम्) मोक्षलक्ष्मी को (दत्ते) देता है (चक्र) चक्रवर्ती के राज्य को (अपाकरोति) छोड देते है (तत्) सो (सताम्) सज्जनो के लिए (चित्त) आश्चर्यकारी (न) नही है। (यत्) जो (अत्र) इस ससार में (असौ) कोई साधु (तपः) तप को (हित्वा) छोड कर (विषयं) उस इद्रिय के विषयभोग को (गृह्णाति) ग्रहण करता है (यत्) जो विषयभोग (अवरेभीमे भवाम्भोनिधौ) इस महान भयानक ससार समुद्र मे (अनेकदु.खम्) अनेक दु.खो को (दत्ते) देते वाला है (तत्) यह बात (परम चित्र) बहुत ही आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—यहां पर आचार्य ने बताया है कि बुद्धिमान प्राणी

को उच्च और उत्तम तथा नित्य पदार्थके लिए नीच व जघन्य व अनित्य पदार्थको अवश्य त्याग देना चाहिए। चक्रवर्ती राज्य करते हैं विषय भोगते हैं परन्तु उनको विषयभोगोंसे कभी तृप्ति नही होती है। विषयभोग सुख ही ऐसा है कि जो तृष्णा को शान्त करने के स्थानमे और अधिक बढा देता है। इसलिए वे चक्रवर्ती अपने शास्त्रज्ञान से इस बात को भले प्रकार निश्चय करते है कि अविनाशी व अनुपम सुख अपने आत्माके ही पास है और वह सुख आत्मध्यानसे ही हासिल हो सकता है, निराकुलता से उस आत्मध्यान को साधु महात्मा ही कर सकते हैं। इस अनुपम मोक्ष-सुखके लिए तीर्थंकरादि बडे-बडे राजा राज्यपाट छोडकर साधु हो गए और साधु होकर तप साध मोक्षको पहुंच गये। ऐसा जान चक्रवर्ती भी चक्रादि सम्पदा को छोडकर तप धारण कर लेते है। आचार्य कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्यकी बात नही है क्योकि जो कोई वह काम करे जिसे सर्व बुद्धिमान लोग करते आ रहे है तथा जो परमोत्तम फल का कारण है तो इसमे सज्जनो को कोई अचम्भा नही दिखता है, यह तो उसने अपना कर्तव्य पालन किया। परन्तु आश्चर्य तो इस बात मे है कि जो कोई उत्तम तप करने के लिए साधुपद की क्रियाओं को धारण करे और फिर उस साधुपद को क्षणभगुर अतृप्तिकारी विषयभोगों के लिए छोड दे यह बड़े आश्चर्य की बात है। क्योंकि जिसे रत्न मिल रहे हो वह रत्न छोडकर काच के टुकड़ों को बटोर ले तो वह मूर्ख ही माना जायगा और उसका यह कृत्य विद्वान सज्जनो के दिलमे आश्चर्यकारी ही होगा। प्रयोजन यह है कि जो इद्रिय के विषय जीवको भयानक भव वन मे घुमाते हैं और घोरानुघोर कष्ट देते है उनही विषयों के पीछे अपने तप को छोडना उचित नही है। यह नितान्त मूर्खता है।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

अपारसंसारसमुद्रतारकं न तन्वते ये विषयाकुलास्तपः ।
विहाय ते हस्तगतामृतं स्फुटं पिबन्ति मूढ़ाः सुखलिप्सया विषं ॥
।८९८।

भावार्थ—जो इन्द्रियो के विषयो के पीछे आकुल व्याकुल रहते हैं वे इस अपार ससार समुद्र से पार उतारने वाले तपको साधन नही करते है वे मूर्ख मानो हाथ मे आए हुए अमृत को छोडकर सुख की इच्छा से विष को पीते है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

चक्री तप के काज चक्र छोड़े आश्चर्य कुछ है नहीं ।
अनुपम संपत् नित्य तप जु देवे साधुजनो को सही ॥
जो तप तज के विषय भोग करते आश्चर्य भारी रहा ।
इन भोगों से दुःख घोर सहते भवदधि भयानक महा ॥९८॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा के सिवाय सर्व बाहरी पदार्थ त्यागने योग्य हैं—

शिखरिणी छन्द

रामाः पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्थाः ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा ॥
किं रे दुष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतुर्येन
त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वं ॥९८॥

अन्वयार्थ—(मूढ) रे मूर्ख ! (रामा) स्त्रियें(पापाविरामः) पापों की खान हैं अर्थात पापो को उत्पन्न कराने वाली हैं(तनय-परिजनाः)पुत्र व अन्य परिवार (बहु अनर्थाः निर्मिताः) अनेक अनर्थों के कारण हैं (गात्रं) यह शरीर (व्याध्यादिपात्रं) रोग आदि कष्टों का ठिकाना है (अशेष लक्ष्मीः) सम्पूर्ण लक्ष्मी

(जितपवनजवा) पवन के वेग से अधिक चंचल है (रे आत्मन्) हे आत्मन् (त्वया) तूने(भवगहनवने भ्राम्यता) इस ससार के भयानक बन मे भ्रमण करते हुए (सौख्यहेतुः) सुख का कारण (किं दृष्टं) क्या देखा है ? (येन)जिस कारण से (त्वं) तू (सर्वं बाह्यं)सर्व बाहरी पदार्थ को(अत्यस्य) भले प्रकार त्याग करके (सतत) सदा (स्वार्थनिष्ठ) अपने आत्मा मे लीन (न भवसि) नही होता है ।

भावार्थ—आचार्य ने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन-जिन सासारिक पदार्थों को अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्मा के सच्चे हित मे बाधक हैं । आत्मा का यथार्थ हित स्वात्मानुभव की प्राप्ति करके आत्मानन्द का विलास करना है और धीरे-२ कर्मबन्धनो से मुक्त होकर परमानन्द पाना है, इस वैराग्यमई कार्य मे जितने भी राग के कारण हैं वे सब वाधक हैं स्त्रियो का सम्बन्ध वास्तव मे गृहजजाल का बीज है, मोह को पैदा कराने वाला है । पुत्र पुत्रियो की सतति का व उनके साथ अनेक आरम्भ परिग्रह की वृद्धि का कारण है अतएव अनेक हिंसादि पापो के निरन्तर कराने का निमित्त है, पुत्र व परिवार सर्व मोह के कारण हैं, उनके राग मे फंसा हुआ प्राणी आत्महित से दूर हो जाता है । उनके निमित्त से बहुत से न करने योग्य कामोको मोही जीव कर डालता है । शरीर का सम्बन्धभी दुःख ही का हेतु है । क्षुधातृषा तो इसके नित्य के रोग हैं । ज्वर,खाँसी स्वाँस, फोडा, फुसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए हैं । जिस लक्ष्मी को पा करके ये प्राणी सतोष मानते हैं उसके रहने का बहुत कम भरोसा है । पुण्य के क्षय होते ही राज्य का भी नाश हो जाता है । क्षण मात्र में धनवान प्राणी निर्धन हो जाता है ।

ऐसी दशा मे कौन सा ऐसा पदार्थ इस जगतमें है जो प्राणी को सुख का कारण हो ? वास्तव मे क्षणभगुर चेतन व अचेतन पदार्थो के साथ रहने का जब भरोसा नही है तब इनके निमित्त से सुखी होना मानना मात्र भ्रम है । इस ससार के भयानक वन में जिस-२ शरीर का व बाहरी पदार्थ का आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते हैं तब उनसे स्थाई सुख कैसे हो सकता है ? इसलिए आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपनीभूल को छोड़ और अपना मोह सर्व ही बाहरी पदार्थो से हटा, मात्र एक अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जा, इसी से तेरा भला होगा ।

अमितगति महाराज सुभाषित रत्नसदोह मे कहते हैं—

श्रियोपाया प्रातःस्तृणजलचरं जीवितमिदं ।
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिल कामजसुखम् ।।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनघने ।
इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधिय.श्रेयसि रताः ।।३३२।।

भावार्थ—राज्यपाटादि लक्ष्मी सब नाशवत हैं, यह जीवन घास पर पडे हुए ओस की बूद के समान चचल हैं, स्त्रियोंके मन की गति बडी विचित्र है । काम भोग का सुख साँप की चाल के समान बडा टेढ़ा व सदा एक सा रहने वाला नही है, यह शरीर क्षण भर मे नाशवन्त है तथा युवानी व धन स्वभावसे ही चचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर बुद्धि के धारी सत पुरुष इन पदार्थों मे रति न करके अपने आत्म कल्याण मे लग जाते हैं ।

मूलश्लोकानुसार शार्दुलविक्रीडित छन्द

महिला संग निवास पापकारी सुत बंधु आपत्ति कर ।
है यह तन रोगादि कष्टकारी धन सर्व थिरता बिगर ।।

रे मूरख भववन महान भ्रमते क्या सौख्य कारण लखा।
जिससे तू सब बाह्यवस्तु तज के निज स्वार्थ में नहीं धसा।९८

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मात्र ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता रत्नत्रय की जरूरत है।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिं॥
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा।
कल्पांतोद्‌भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम्॥९९॥

अन्वयार्थ—(ये मूढा) जो मूर्ख पुरुष (अनघ) निर्दोष (सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयम्) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नो के (ऋते) बिना (ज्ञानमात्रेण) अकेले एक ज्ञान से (जन्मदुर्गं) ससार के किले को (लघित्वा) लाँघकर (निरुपमित-सुखासिद्धिं) अनुपम सुख को रखने वाली सिद्धि को (यियासति) पाना चाहते हैं (ते) वे (नून) मानो (बाहुयुग्मेन) अपनी दोनों भुजाओ से (कल्पांतोद्‌भूतवातक्षुभितजतचरासारकीर्णान्तरालम् उदधि) कल्पातकाल को पवनसे उद्धत तथा जलचरोंसे भरे हुए समुद्र को (तीर्त्वा) तर करके (निजपुरम्) अपने स्थान को (शिश्रीषन्ति) जाना चाहते हैं।

भावार्थ—यहा आचार्य ने दिखलाया है कि मोक्ष का उपाय रत्नत्रय की एकता है। मार्ग को जान लेने मात्र से ही कार्य की सिद्धि नही हो सकती है। जो ऐसा मानते हैं कि हमने आत्माको पहचान लिया है अब हमें कुछभी चारित्र पालनेकी आवश्यकता नहीं है, हम चाहे पाप करें चाहे पुण्य करें हमे बंध नहीं होगा, वे ऐसे ही मूर्ख हैं जैसे वे लोग मूर्ख हैं जो यह चाहे कि हम अपनी

भुजाओं से उस समुद्र को पार करके चले जावेगे जो कल्पकाल की घोर पवन से डावाडोल है व जहा अनेक मगरमच्छ आदि भयानक जतु भरे हुए हैं। प्रयोजन कहने का यह है कि सम्यग्-दर्शन व सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनोंकी एकताकी जरूरत है। लौकिक मे भी हम देखते हैं कि यदि किसीको कोई व्यापार करना होता है तो वह पहले उसकी रीतियोको समझता है और उसपर विश्वास लाता है फिर जब उस विश्वास सहित ज्ञान के अनुसार उद्योग करता है तबही व्यापार करनेका फल पा सकता है इसी तरह हमको जानना चाहिए कि आत्मध्यानही मोक्षमार्ग है, इसी बात को मनन करने से जब मिथ्यात्व का परदा हट जाता है तब सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है अर्थात् आत्मप्रीति स्वानुभवरूप जागृत हो जाती है। उसी समय उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है इतने से ही काम न चलेगा ऐसे सम्यग्-दृष्टि जीव को आत्मध्यान का अभ्यास करना होगा। मन को निराकुल करने के लिए श्रावक या मुनिका चरित्र पालना होगा जहा श्रद्धान ज्ञान सहित आत्मस्वरूप मे रमणता होती है वहीं स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। यही ध्यान मोक्ष का मार्ग है, यही कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध करता है। इसलिए मात्र जानने से ही कार्य बनेगा इस बुद्धि को दूर कर श्रद्धान व ज्ञान सहित चारित्र को पालना चाहिए।

अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसदोह मे कहा है—

सदृशंनज्ञानतपोदमाढ्यश्चारित्रभाजः सफलाः समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण बिना भवन्ति ज्ञात्वेह सन्तश्चरिते यतन्ते।२४२
कषायमुक्तं कथितं चरित्रं कषायवृद्धावपघातमेति।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतम्॥२३३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा तप व इन्द्रियदमन सहित जो जीव चारित्र को पालने वाले हैं वे सर्व ही सफलता को पा लेते हैं क्योंकि चारित्र के बिना उन सबका होना व्यर्थ है ऐसा जानकर संत पुरुष चारित्रका यत्न करते हैं। चारित्र वही है जहा कषाय न हो। कषाय की वृद्धि से चारित्र का नाश हो जाता है। जब कषाय शात होती है तब ही आत्मा के पवित्र चारित्र होता है।

जो मूरख इक ज्ञान मात्रसे ही भव दुर्ग लांघन चहे।
निर्मल दर्शनज्ञान वृत्त बिनगहि निजसुख प्रकाशन चहे॥
ते मानो युग बाहु सेहि तरकर निजथान जाना चहे।
जो सागर कल्पांत वायु उद्धत जलचर महा भर रहे॥९९॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु रत्नत्रय सहित तप करते हैं उनही का जीतव्य सफल है।

शार्दूलविक्रीडतं

ये ज्ञात्वा भवमुक्तिकारणगणं बुद्धया सदा शुद्धया।
कृत्वा चेतसि मुक्तिकारणगणं त्रेधा विमुच्यापरम्॥
जन्मारण्यनिसूदनक्षममरं जैनं तपः कुर्वते।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं पुण्यात्मनां योगिनां॥१००

अन्वयार्थ—(ये)जो मुनिगण(सदा)सदाही(शुद्धया-बुद्धया) निर्मल बुद्धि के द्वारा(भवमुक्तिकारणगणं) संसारके कारणोंको और मोक्षके कारणों को (ज्ञात्वा) जान करके(त्रेधा)मन, वचन काय तीनोसे(अपरं)इस जो संसारके कारण हैं उनको(विमुच्य) त्याग करके (चेतसि) अपने चित्तमें (मुक्तिकारणगणं) मोक्ष के कारण रत्नत्रयको(कृत्वा)धार करके(जन्मारण्यनिसूदनक्षममरं)

संसाररूपी वन के नाश करने को समर्थ ऐसे (जैनं तपः) जैनके तप को (कुर्वंते) साधते हैं (तेषा पुण्यात्मना योगिना) उन्ही पवित्र आत्मा योगियो का (च) ही (जन्म) जन्म-जन्म (च जीवित) और जीवन (सफल) सफल है।

भावार्थ—यहा आचार्यने यथार्थ मोक्षपर चलनेवाले तपस्वी योगियो की महिमा कही है, वास्तव में यथार्थ बात यही है कि बिना किसी माया, मिथ्या या निदान शल्य के एक मुमुक्षु को अपनी बुद्धि निर्मल करके शास्त्रका अभ्यास और गुरुका सेवन तथा स्वानुभव पूर्ण युक्ति के बलसे यह भले प्रकार निश्चय कर लेना चाहिए कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र तो ससार के कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र मुक्ति के कारण हैं। फिर उसे उचित है कि संसार के कारणो को मन, वचन, काय से भले प्रकार छोड़ दे और रुचि-पूर्वक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको ग्रहण करे। निश्चय से इन तीनो की एकतामे जो भाव पैदा होता है उसको स्वानुभव कहते है। इस स्वानुभव को करते हुए जो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए बारह प्रकार के तपो को या मुख्यता से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को ध्याते हैं वे ही उन कर्मों की निर्जरा करने को समर्थ हो सकते हैं जो कर्म इस जीवको संसार के भयानक वन से भ्रमण करने वाले हैं, ऐसे ही पवित्र महात्मा योगी इस भवसागर को पार करके सिद्धवास को शीघ्र पा लेते हैं। ऐसे ही योगियोका जन्म भी सफल है तथा जीना भी सफल है। सच्चे धर्म की नौका जिनको नही मिलती है वे भव समुद्र में भटक-भटककर अपना जीवन पूरा करते हैं। रत्नत्रयमई जहाज का मिलना वास्तवमें दुर्लभ है, जिनको मिल जावे उनको प्रमाद

छोडकर इसी पर चढ करके शिव महलमें जा पहुचना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं-

विनिर्मलं पार्वणचंद्रकांतं यस्यास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः ।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ।२३९

भावार्थ—जिस पुरुष के अत्यन्त निर्मल पूर्णमासी के चद्रमा के समान चारित्र होता है वही गुणवान है, वही माननीय है, वही कुलीन है वही जगतमे वन्दनीय है, उसीका जन्म सफल है तथा वही महान बुद्धिका धारी है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो नित निर्मल बुद्धिधार समझे संसार शिव हेतु को ।
छोड़ भव के हेतु तीन सेती चित राखि शिव हेतु को ॥
साधे जैन तपं जु नाशकर्त्ता संसार बन भर्म को ।
शुचि योगी जीतव्य जन्म अपना करते सफल धर्म को ॥१००।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि विषयसेवन विष खाने के समान है—

शार्दुलविक्रीडित छन्द

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं सत्यज्य रत्नत्रयम् ।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते ॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते ।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(यः)जो कोई(निःश्रेयसशर्मदानकुशलं) मोक्ष के सुख देने मे चतुर ऐसे (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय को (सत्यज्य) छोड़ करके (भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं)भयानक और अचित्य वेदनाको पैदा करने वाले(भोग)भोग को(मिथः)एकांत मे छिपके(सेवते)

सेवन करता है (मन्ये) मैं ऐसा मानता हूँ कि (सः) वह (जन्म-जरातंकक्षयकर) जन्म जरा मरण को क्षय करने वाले (पीयूष) अमृतको (अत्यस्य) छोडकर (सद्यः) शीघ्र ही (प्राणीविपर्यादि-जनक) प्राणों के घात करने वाले (हालाहल) हालाहल विषको (बल्भते) पीता है।

भावार्थ—यहा आचार्य ने बताया है कि सच्चा सुख आत्मा में ही है और वह अपने आत्मा के सच्चे स्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान व चारित्रसे अर्थात् स्वात्मानुभवसे अनुभव मे आता है। इसी निश्चयरत्नत्रयके द्वारा मोक्षदशामे अनत आत्मीक सुख प्राप्त होता है। इस सुखके सामने इद्रिय भोगो का सुख ऐसा ही है जैसे अमृत के सामने विष। जैसे अमृतके खाने से क्लेश मिटता व पुष्टि आती है वैसे आत्मीक सुखके भोगसे जन्म, जरा, मरण के रोग मिट जाते हैं और यह जीव अविनाशी अवस्था मे बना रहता है। जैसे विष हालाहलके पीनेसे महाकष्ट होता है तथा प्राणोका वियोग हो जाता है वैसे विषयभोगो के करनेसे पापकर्म का बन्ध होता है जिसके उदयसे नाना प्रकारके दु.ख भविष्य मे प्राप्त होते है इसलिए यह शिक्षा दी जाती है कि इद्रियविषय-भोगोंकी लालसा छोड़कर एक आत्मीक सुखके लिए आत्मानु-भव करना जरूरी है।

आत्मीक सुखके भोगमें वीतरागता रहती है जिनसे कर्मों की निर्जरा होती है जबकि इद्रियभोगोमे अवश्य तीव्र रागभाव करना पड़ता है जिससे पापकर्मोका बन्ध हो जाता है। वर्तमान मे इद्रिय सुख जब तृष्णाको बढ़ाने वाला है तब आत्मीक सुख परम सन्तोष को व सुख शांति को देने वाला है। आत्मीक सुख स्वाधीन है जब कि इद्रिय सुख पराधीन है। सम्यग्दृष्टी को

विषयों की इच्छा छोड़कर आत्म सुख का ही उद्यम करना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसदोह में कहते हैं—

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ।
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमत पूतरचितम्॥
भजध्वं मा तृष्णा कतिपयदिनस्थायिनि धने।
यतो नायं सन्त कमपि मृतमन्वेति विभवः॥३३६॥

भावार्थ—यदि मुक्ति के स्थान मे निर्मल सुख पाने की तेरी बुद्धि हो तो हे भाई! हितकारी व पवित्र जिनमत का सेवन कर। कुछ दिन साथ रहने वाले धनादि मे तृष्णा न कर क्योंकि यह लक्ष्मी होती हुई भी किसीके साथ मरने पर नहीं जाती है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो शिव सुख दातार रत्नत्रयको भ्रमभावसे छोड़ता।
भयदायक अत्यन्त दुःखकारी इन्द्रिय विषय भोगता॥
मैं मानूं सो जन्म मृत्यु क्षयकर पीयूषको त्यागता।
जीवन कारण प्राण घातकर्ता हालाहलं पीवता॥१०१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि दुख सुख में जो समता धारण करते है उनको नया कर्मबन्ध नही होता—

हरिणी छन्द

भवति भविनः सौख्य दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम्॥
मनसि समता विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम्॥१०२॥

अन्वयार्थ—(पुराकृतकर्मण.) पिछले बांधे हुए कर्मों के उदय से (भविनः) इस संसारी प्राणीके (सौख्यं दु ख) सुख तथा दु.ख होता है। तब (मे हृदये) मेरे हृदय में (कथम्) किस लिए (कदाचन) कभी भी (रागः द्वेषः) राग या द्वेष (स्फुरति) प्रगट होगा (इत्थं) ऐसा (विज्ञाय) समझकर (यः) जो कोई (मनसि) मनके भीतर (तयो) उन दोनों सुख तथा दुःख मे (समता) समभाव को (दधाति) धारण करता है (सुधीः) वह बुद्धिमान (पूर्वं पाप) पहले के पापको (क्षपयति) क्षय करता है (नूतनम्) नए पापको (न चिनोति) नही बाधता है।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने बताया है कि ज्ञानीको उचित है कि कर्मोंके उदयमे समताभाव को धारण करें। ज्ञानी सम्यग्-दृष्टी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि पूर्वकृत पुण्यके उदय से सुख तथा पाप के उदय से दु ख होता है। तथा कर्मों का उदय सदाकाल एकसा नही रहता है, यह अवश्य अनित्य है। विनाशीक वस्तु में राग व द्वेष करना वृथा है। समताभाव से सुख तथा दु·खको भोग लेना चाहिए, जो कोई सुख की अवस्था होने पर उन्मत्त तथा दु·खोके होने पर क्लेशित नही होते उनके पूर्व के बांधे कर्मों की तो निर्जरा हो जाती है तथा नवीन कर्म नही बंधता है। कर्मों की निर्जरा होनेका बडा भारी उपाय समभाव सहित जीवन बिताना है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी की रुचि अपने आत्मा के स्वभाव पर रहती है। वह आत्मा के आनन्द का ही प्रेमी होता है। उसका अपनापना अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य-मई सम्पदा से ही रहता है। वह मानव सर्व जगत के पदार्थों से उदास है। यही कारण है तो ज्ञानी मोक्षमार्गी है जब कि अज्ञानी संसार में भ्रमण करने वाला है।

अमितगति महाराज सुभाषित रत्नसंदोहमे ज्ञानकी महिमा बताते हैं।

ज्ञानाद्धित वेत्ति तत. प्रवृत्ती रत्नत्रये संचितकर्ममोक्षः।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्र विदिधाति दक्षः ।।१८४

भावार्थ—यह जीव ज्ञान के ही प्रताप से अपने हित को समझता है तब उसकी प्रवृत्ति रत्नत्रय धर्म मे होती है। धर्म के सेवन से पूर्व बाँधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब बाधारहित सुख प्राप्त होता है इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञान के सदा यत्न करते रहते हैं। तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए हित कर्ता को उचित है कि श्री जिनेन्द्र कथित ग्रन्थो का पठन मनन, सदा करते रहे।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

पूरब कृत कर्मानुसार जियको सुख दुःख होता रहे।
मेरे मन मे राग द्वेष क्या हो ज्ञानी विवेकी रहे ।।
ऐसा जान जु साम्य भाव रखते निज तत्त्वको जानते।
काटे पूरब पाप बुद्ध युत ते नूतन नहीं बांधते ।।१०२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कषाय सहित तप कर्मों को निर्जरा न करके कर्मों का बाधने वाला है—

क्षपयितुमनाः कर्मानिष्ट तपोभिरनिंदितैः।
नयात रभसा वृद्धि नीचः कषायपरायणः ।।
बुधजनमैः किं भेषज्यैर्निसूदितुमुद्यतः।
प्रथयति गदं तं नापथ्यात्कदार्थितविग्रहम् ।।१०३।।

अन्वयार्थ—(आनन्दितै) उत्तम (तपोभि·) तपो के द्वारा (अनिष्ट कर्म) अहितकारी कर्मको (क्षपयितु मनाः) नाश करने की मनसा रखता हुआ (नोच.) नीच मनुष्य (कषायपरायणः)

क्रोधादिक कषायोमें लीन होता हुआ (रभसा) शीघ्र ही (वृद्धि नयति) कर्मोंको और अधिक बढा लेता है जैसे (बुद्धजनमतैः) बुद्धिमानोंके द्वारा सम्मत (भेषज्यैः)औषधियोसे(कदाचितविग्रहम्) शरीरको दु.खदाई (गदं)रोगको (निसूदितुम्) नाश करनेके लिए (उद्यत:) उद्यमी पुरुष (अपथ्यात्) अपथ्य सेवन करने से (तं) उस रोगको (किं न) क्या नही (प्रथयति) बढा लेता है ।

भावार्थ—यहां पर भी आचार्यने यही दिखलाया है कि कर्मों के नाश करने की मुख्य औषधि वीतरागभाव है। जितना भी बाहरी व अतरग तप किया जाता है उस सबका हेतु कषायोंका घटाव व वीतरागभावका झलकाव है। जो कोई तपस्वी होकर अनेक प्रकार शरीरको कष्टकारी तपको करे परन्तु कषायोंका दमन न करे, शात भाव को न प्राप्त करे नो उसके कर्मों की निर्जरा न होगी । उल्टा और अधिक कर्मोंका बध हो जायगा । क्योकि बंधका कारण कषाय परिणामोमें विद्यमान है। यहां पर दृष्टात देते हैं कि जैसे किसीको बहुत कठिन रोग हो रहा है और वह अच्छे प्रवीण वैद्यकी बताई हुई औषधि ले रहा है परतु रोग वृद्धि के कारण जो अपथ्य या बद परहेजी है उसको नही त्याग रहा है तो वह कभी भी रोग से मुक्त न होगा—उल्टा रोग को बढाएगा । प्रयोजन यह है कि वीतरागभावो की प्राप्तिका सदा उद्यम करना चाहिए तथा ध्यान ही मुख्य तप है वह आत्मानुभवके समय पैदा होता है, जहाँ अवश्य वीतरागता रहती है। सम्यग्दृष्टी का तप ही सच्चा तप है। मिथ्यात्व सहित महान तप करता हुआ भी संसारका मार्गी है—मोक्षमार्गी नही है ।

मुमुक्षु जीव को इसलिए वीतराग भाव पर ही लक्ष्य रखके

उसकी ही प्राप्ति का उपाय करना चाहिए।

श्री ज्ञानार्णव मे शुभचन्द्र मुनि कहते हैं--

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बंधमोक्षयो:॥
नित्यानन्दमयी साध्वीं शाश्वतीं चात्मसम्भवाम्।
वृणोति वीतसरम्भो वीतराग: शिवश्रियम्॥८४॥

भावार्थ—रागी जीव कर्मोंको बाँधता है जब कि वीतरागी कर्मों से छूटता है ऐसा सक्षेप से जिनेन्द्र भगवान का उपदेश बंध तथा मोक्ष के सम्बधमे जानना चाहिए। जो आरम्भ का त्यागी वीतरागी साधु है वही नित्य आनन्दमयी, उत्तम, अविनाशी, आत्मा से ही उत्पन्न मोक्षलक्ष्मी को वरता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो चाहे निज दुष्ट कर्म हनना निर्मल तपस्या करे।
परसो नीच कषाय भाव रत हो निज कर्म बर्द्धन करे॥
जो चाहे तन दु खदाय गदको हनना सु औषधि करे।
पर त्यागे न अपथ्य खाद्य सो नर निज रोग वर्द्धन करे॥१०३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो साधु शरीर की रक्षा के लिए आहार मात्र लेते हुए लज्जा पाते हैं वे वस्त्रादिक परिग्रह को कैसे स्वीकार करेगे ?

शार्दूलविक्रीडति छन्द

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षापरा:।
दत्त येशनमात्रकंगतमलं धर्माथिभिर्दातृभि:॥
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा—
स्ते गृह्णन्ति परिग्रह दसधरा किं संयमध्वंसकम्॥१०४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (मुक्तिविषये) मोक्ष के सम्बध में (बद्धस्पृहा) अपनी उत्कंठा को बाधने वाले (निस्पृह) ससारीक इच्छाके त्यागी हैं और (सद्रत्नत्रयपोषणाय) सच्चे रत्नत्रय धर्म को पालनेके लिए (त्याज्यस्य) त्यागने योग्य (वपुषः)इस शरीर की (रक्षापरा:) रक्षामे तत्पर हैं और जो (धर्माथिभि)धर्मात्मा (दातृभि.) दातारों से (दत्त) दिए हुए (गतमल) दोष रहित (अशन मात्रकं) भोजन पात्रको (परिग्रहं)ग्रहण करके (लज्जंते) लज्जाको प्राप्त होते हैं (ते दमधरा.) वे सयमके धारी यति(कि) क्या (सयमध्वसकम्) सयम को नाश करने वाली (परिग्रहं) परिग्रह को (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यहा आचार्य ने बताया है कि जैनधर्म को यथार्थ पालने वाले साधुजन कभी भी परिग्रह को ग्रहण नही करते हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह हिंसादि आरम्भ का कारण है जिससे महाव्रत रूप साधुसयम नही पाल सकता है। इसीलिए साधुजन सर्व परिग्रहको त्याग कर ही मुनि होते हैं। वे परिग्रहको ममता का निमित्त कारण जानते हैं। ऐसे साधुओंको किसी भी इद्रिय भोगकी कोई इच्छा नही होती है। वे मात्र कर्मों से मुक्ति ही चाहते है। उनकी रातदिन भावना यही है कि हम आत्मध्यान करके कर्मोंको काटकर मुक्त हो जावे, ऐसे साधु सयम पालने के लिए ही इस शरीर की रक्षा करना चाहते हैं। इसलिए वे ऐसा ही भोजनपान शरोरको देते हैं जिसे धर्मात्मा श्रावको ने भक्ति पूर्वक दिया हो। तथा जिसमे उद्दिष्ट आदिका कोई दोष न हो। ऐसे भोजनको लेते हुए भी उनको लज्जा आती है और रातदिन यह भावना भाते हैं कि इस शरीरकी पराधीनता मिटे और यह आत्मा निराकुल भाव में तल्लीन हो ऐसे साधु कभी भी धन धान्यादि परिग्रहको जिसे वे सयममे बाधक जानकर त्याग कर

चुके, ग्रहण नही करते हैं। वे साधु अपनी प्रतिज्ञा में अटल रहते हुए रात्रि दिन तत्वज्ञान की भावना भाते हैं। और पूर्ण वीत-रागताके लाभके लिए उद्यम करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परिग्रहका त्याग ही उत्तम ध्यानका साधक है इस बातको कभी भूलना न चाहिए।

ज्ञानार्णव मे श्री शुभचन्द्र मुनि कहते हैं—

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता।

मुनेः प्रच्याव्यते ननं संगैर्व्यामोहितात्मनः ॥१४॥

भावार्थ—जिस मुनि का चित्त परिग्रहो से मोहित हो जाता है उसके रागादि का जीतना, सत्य, क्षमा, शौच, और तृष्णा रहितपना आदि गुण नष्ट हो जाते हैं।

परिग्रह को मूर्छा का निमित्त कारण जानकर साधुजन उसे कभी भी ग्रहण नही करते हैं।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो साधू नित मोक्ष उद्यम करें संसार नहिं चाहते।
रत्नत्रय वश हेतु हेय तनको शुचि मुक्ति दे राखते॥
धर्मी दाता दत्त खाद्य लेते मनमांहि लज्जा धरें।
सो यतिगण संयम विराधकर्ता परिग्रह न अंगी करें॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यथार्थ तत्व के ज्ञाता जगत मे दुर्लभ हैं—

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रिये।

रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पति श्रृण्वन्ति च॥

लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः ।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(भूरिकषायदोषमलिने लोके) तीव्र कषायों के दोष से मलीन ऐसे इस जगत मे(ये सज्जना.)जो सज्जन (विमुक्तिश्रिये)मोक्षरूपो लक्ष्मीके मिलाने के लिए(दूती)दूतीके समान (च)और(लोकोत्तरता)लोक से तरनेका मार्ग बताने वाली तथा (दर्शनपरा)सम्यग्दर्शन को दिखाने वाली (अनुपमां) व जिसकी उपमा जगत मे नही हो सकती है ऐसी (जिन भारतीम्) जिनवाणी को (जलपति) पढते हैं(शृण्वति)सुनते है(च रोचते) और उस पर रुचि लाते हैं (ते दुर्लभा·) वे कठिन हैं तब (ये) जो (तदर्थम्)उस मुक्तिके लिए(उत्तमधियः)उत्तम ज्ञानका(कुर्वंति) साधन करते हैं (अत्र) यहाँ(तेषां किं उच्यते) उनके लिए क्या कहा जावे ?

भावार्थ—यहाँ आचार्य ने बताया है कि यह ससारो जन क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायो से मलीन हो रहे हैं। रात-दिन इन्द्रिय विषयकी लोलुपता मे फसे हैं। स्त्री पुत्र आदि मे मोही हो रहे हैं—ऐसे जगत मे जिनवाणी को प्रेमसे पढ़नेवाले सुननेवाले तथा उस पर रुचि लाने वाले बहुत कम हैं, यहा तक कि दुर्लभ हैं। यह जिनवाणी सच्चा मुक्तिका मार्ग दिखाती है, रत्नत्रय मे सबसे मुख्य सम्यग्दर्शन है उसको प्राप्त करती है, जिसके अभ्यास से दूध पानी की तरह मिले हुए जीव अजीव पदार्थ भिन्न-२ दिखलाई पड जाते हैं। इस जिनवाणी की उपमा इसलिए नही हो सकती है कि इसमें अनेकान्तरूप पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा दिखाया है। स्याद्वादनय से वस्तु के स्वरूप

को बताया है जो बात अन्य शास्त्रो मे नही मिलती है। दृष्टांत मे पदार्थ न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है। हर समय पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। गुणों के व स्वभावो के ध्रुवपने की अपेक्षा पदार्थ नित्य है जब कि पर्यायो के पलटने की अपेक्षा पदार्थ अनित्य है। अवस्थाएं हर समय होती रहती हैं,इस तरह का कथन जिनवाणी ही स्पष्ट खोलकर बताती है। यह अवश्य मुक्तिरूपी स्त्री के मिलने के लिए दूती है क्योंकि जो श्रुतज्ञान द्वारा भेदविज्ञान का लाभ करते हैं और पर से भिन्न आत्मा को अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्षरूप स्त्री की ओर चले जाते हैं ऐसी जिनवाणीके कहे हुए तत्वोको श्रद्धान करने वाले व कहने सुनने वाले बहुत कठिन हैं। परन्तु जो तत्वज्ञान के अनुसार मुनि हों आत्मध्यान का अभ्यास करके केवलज्ञान की प्राप्ति का उद्यम करते हैं ऐसे महान पुरुष तो बहुत ही दुर्लभ हैं। उनके सम्बन्धमें क्या शब्द कहा जावे सो कोई शब्द नही मिलता है।

प्रयोजन यह है कि आत्मानुभव क उद्योग को बडा ही अपूर्व लाभ जान करके जो आत्महित करना चाहे उनको प्रमाद न करके मुक्ति का साधन कर लेना चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि जिनवाणी की स्तुति मे कहते हैं—

कदाचिदंबत्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेपि तत्वनिश्चयः।
तत. कुतः पुंसि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्मनिष्फलं।११
त्वमेवतीर्थं शुचि बोधिवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धकारणं।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने, मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ।।३४।।

भावार्थ—हे जिनवाणी माता, तेरी कृपा बिना शास्त्र को

पढते व सुनते हुए भी तत्व का निश्चय नही होता है तब फिर तेरे आश्रय बिना पुरुष में भेदविज्ञान कैसे होगा ? जो तेरी सेवा नही करते उनका जन्म निष्फल है । तू ही पवित्रज्ञान जल को रखने वाली नदी स्वरूप है, तू तीन लोक के जीवोंको शुद्ध करने का कारण है और तूही निश्चय आत्मतत्वके श्रद्धान करनेवालो को आत्मानन्दरूपी समुद्र के बढानेक लिए चन्द्रमाके समान है ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो जगतारण मोक्षलक्ष्मिवृती सद्वशन बायका,
अनुपम जिनवर वाणि पाठ करते सुनते रुचि धारक ।।
ते सज्जन दुष्प्राप्य आज जगमें क्रोधाविमल पूर जो ।
कहना क्या उनका स्वमुक्तिहेतू साधं परमज्ञान जो ।।१०५।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो इस ससार समुद्र से तर गए हैं वे अरहत इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि अन्य जीव भी तिरे—

ये स्तूयां जन्मसिधोरसुखमितिततेर्लीलया तारयित्वा ।
नित्यं निर्वाणलक्ष्मीं बुधसमितिमता निर्मलामर्पयन्ते ।।
स्वाधीनास्तेऽपि यत्तद्वयपगततमोज्ञानसम्यक्त्वपूर्वा ।
पोष्यन्ते नान्यशिक्षा मम परममुमो विद्यते नात्र चित्रम् ।१०६

अन्वयार्थ—(ये) जो(असुखमितितते: जन्मसिधो) दु.खो के समूहसे भरे हुए ससार समुद्रसे(लीलया तारयित्वा)लीला मात्र मे पार उतारकर (स्तूया) प्रशसनीय (नित्य)अविनाशी (बुध-समितिमता) बुद्धिमानो से माननीय (निर्मलाम्) निर्मल(निर्वाणलक्ष्मी) मोक्ष लक्ष्मी को(अर्पयन्ते) प्रदान करते है (तेपि) वे

ही (स्वाधीनाः) स्वाधीन है (यत्तत्)क्योंकि (व्यपगततमोज्ञान-सम्यक्तपूर्वाः) उनका अज्ञान अन्धकार सम्यक्तपूर्वक ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुका है वे(अन्यशिक्षा न पोष्यते) अन्य शिक्षाकी पुष्टि नही करते हैं (अत्र) यहा (मम उरो) मेरे दिल में(पर चित्र) कोई परम आश्चर्य (न विद्यते) नही होता है।

भावार्थ—जो स्वय जिस कामको सिद्ध कर लेता है वह उस काम मे दूसरे को भी लगाकर उसका उद्धार कर सकता है। अर्हन्त भगवान सम्यग्ज्ञान की सेवा करके स्वय कर्मोंके वधन से छूटकर स्वाधीन हो गए। वे अपनी दिव्यवाणी से इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं कि जो कोई सम्यक्तपूर्वक ज्ञानको प्राप्त करके आत्मानुभव करेगा वह ससारसमुद्रसे उसी तरह पार हो जाएगा जिस तरह हमने पार पा लिया है। उनकी इस सम्यक शिक्षा को ग्रहण करते हैं व उस पर चलते है वे भी शीघ्र संसारसमुद्र से पार हो जाते हैं और उस मोक्षलक्ष्मी को पा लेते है जिसके लिए सन्तपुरुष निरन्तर भावना किया करते हैं व जिसका कभी क्षय नही होता है तथा जो कर्ममलसे रहित निर्मल है। आचार्य कहते है कि जो स्वयं तर गए हैं उनके द्वारा यदि दूसरे तार लिए जाँय तो कोई बडे आश्चर्य की बात नही है। जो जहाज स्वयं तैरता है वही दूसरो को भी अपने साथ पारकर देता है। तात्पर्य यह है कि हमको श्रीअरहन्त भगवानकी परमोपकारिणी शिक्षा के ऊपर चलकर अपना आत्मोद्धार कर लेना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसदोह मे अरहत का स्वरूप बताते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकल द्रव्यपर्यायतत्त्वं।
भेदाभेदावलोढ त्रिभुवनभुवनाभ्यन्तरे वर्तमानम् ॥

लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकने यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भवभवनमिदे भावयन्त्वाप्तमत्र ॥६४७

भावार्थ—जिसका ज्ञान तीन लोकके भीतर पाए जाने वाले भाव तथा अभाव स्वरूप, अनेकरूप व एकरूप, भेदरूप व अभेद रूप द्रव्यो के और पर्यायो के स्वरूप को देखते हुए लोक और अलोक दोनो को देखने वाला है उस सर्व दोष रहित अरहंत देव को यहा ससार—घरके नाश करने के लिए मोक्षके चाहने वाले सेवन करहु ।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो भवसागर दुःखदाय क्षण में भवि जीव को पारकर,
देते मोक्ष पवित्र नित्य लक्ष्मी जो चाहते ज्ञानधर ।
वे हैंगे स्वाधीन सर्वतमहर सम्यक्तमय ज्ञानसे,
जो देते नहि अन्य कोय शिक्षा नहि मो अचम्भाविसे ॥१०६।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस ससार मे कोई वस्तु सुखदायक नही है—

ध्रुवापायः कायः परिभवभवाः सर्वविभवाः ।
सदानार्या भार्याः स्वजनतनयाः कार्यविनयाः ॥
असारे ससारे विगतशरणे दत्तमरणे ।
दुराराधेऽगाधे किमपि सुखदं नापरपदं ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(काय.) यह शरीर(ध्रुवापाय.)निश्चय से नाश होने वाला है(सर्वविभवा.)सर्व सम्पत्तिये(परिभवभवा:)वियोग के सम्मुख हैं (भार्या:) स्त्रियें (सदा अनार्या) सदा ही सुखकारी व हितकारी व सभ्यतासे व्यवहार करने वाली नही हैं (स्वजन-तनया:) अपने कुटुम्बी या पुत्र (कार्यविनया:) अपने मतलब से विनय करने वाले हैं(दत्तमरणे)मरणको देने वाले(विगतशरणे)

व शरण रहित (अगाधे) बहुत गहरे (दुराराधे) दुःखो से भी जिसका तरना कठिन है (असारे संसारे) ऐसे इस सार रहित संसार मे (अपरपद) सिवाय मोक्षके दूसरा कोई पद (सुखद न) सुख का देने वाला नही है।

भावार्थ—यहा आचार्य ने बताया है कि यह ससार बिलकुल असार है। इसमे ससारी प्राणियो को थिरता प्राप्त नही होती, वे जन्मते मरते रहते हैं। उनको कोई मरणसे बचा नहीं सकता, इसका आदि व अन्त नही है तथा यह इतना विशाल है कि इसका पार करना कठिन है। इसमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्माको सुखदायी नही है। पहले तो यह शरीर ही नाशवंत है आयु कर्म के आधीन है, इसके छूट जाने का कोई समय नियत नही है। लक्ष्मी आदि बहुत ही चंचल हैं, स्त्रियों का संसर्ग मोह में फसाने वाला है व आत्मध्यान में बाधक है। कुटुम्बीजन व पुत्रादि सब अपने-२ मतलबको देखते हैं। जब स्वार्थ नहीं सधता है तब बात भी नही करते है। स्वार्थ में विरोधी पिता को भी पुत्र मार डालते हैं। इस ससार में सर्व ही मित्र आदि मतलबके ही साथी हैं, जिस-२ चेतन व अचेतन पदार्थ का संग्रह किया जाता है कि इससे कुछ सुख मिलेगा उसीका वियोग हो जाता है। पराधीन सुख आकुलता का ही कारण है। इसलिए यही अनुभव करना चाहिए कि सच्चा सुख आत्मा मे ही है। उसीको चाह करके सामायिक का अभ्यास करना योग्य है। श्री अमित-गति स्वामी सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

इमा रूपस्थानस्वजनतनयद्रव्यवनिता,

सुता लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमतिप्रीतिधृतयः।

मदान्धस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वमखिला—

महो कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान्सेवितुमनाः ॥३२६॥

भावार्थ—सर्व संसारी जीवो के लिए ये रूप, स्थान, कुटुम्बी जन, पुत्र, पदार्थ, स्त्री, पुत्री, लक्ष्मी, यश, चमक, राग, बुद्धि, स्नेह तथा धैर्य सब मद से उन्मत्त स्त्री के नेत्र के स्वभाव के समान चचल हैं। अहो ! बड़े कष्ट की बात है कि ऐसा जान करके भी यह मानव इद्रियों के विषयों को सेवन करता है।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

है यह तन जु विनाशनीक लक्ष्मी है सर्व जग चंचला।
भार्या नित्य कुमोहकार स्वजना अर पुत्र स्वारथसगा ॥
है संसार असार शर्ण नहिं को जब मृत्यु आ जात है।
दुस्तर दुर्गम लोक माहिं वस्तू सुख करन दिखलात है ॥१०७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरण से कोई बच नहीं सकता।

मालिनी वृत्तम्

असुरसुरविभूनां हंति कालः श्रियं यो।
भवति न मनुजानां विघ्नतस्तस्य खेदः।
विचलयति गिरीणां चूलिकां यः समीरो।
गृहशिखरपताका कंपते किं न तेन ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(य काल) जो मरणरूपी काल (असुरसुरविभूनां) भवनवासी, व्यतर व ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवो के स्वामियों की (श्रेय) लक्ष्मीको (हति) नाश कर देता है (तस्य) उस कालको (मनुजाना) मनुष्यो की सम्पत्तिको (विघ्नतः) हर लेने में (खेदः) खेद (न भवति) नहीं हो सकता है (यः समीरः)

जो पवन (गिरीणा चूलिकां) पहाडों की चोटियों को (विचलयति) हिला देती है(तेन)उस पवन से(गृहशिखरपताका) घरके शिखर को ध्वजा (किं न कपते) क्यो न काप जायगी ?

भावार्थ—आचार्य दिखलाते हैं कि मरणसे कोई भी ससारी प्राणी बच नही सकता। बडी-२ आयुके धारक व बडी सामर्थ्य के धारक इन्द्रादिक देवो को भी यह मरण नही छोडता है तब थोडी आयुधारी व थोडी सामर्थ्यधारी मनुष्योको तो मरण कैसे छोड सकता है ? जिस समय मरण आ जाता है उस समय वह सब सम्पदा जिसको हम अपनी मान रहे थे बिलकुल छूट जाती है। मरण करते हुए जीवके साथ उसका बांधा पुण्य या पापकर्म तो जाता है परन्तु अन्य कोई चेतन व अचेतन पदार्थ बिलकुल साथ नहीं जा सकते हैं। वास्तव मे कर्मभूमि के हम मनुष्य तथा पशुओ का जीवन तो पानी के बुदबुदे के समान चचल है क्योकि जब देवो के व भोगभूमि जीवो के अकाल मृत्यु कोई बाहरी क्षयकारी कारण के मिलने से हो जाती है इसलिए हम लोगो के जीवन को हर लेना तो यमराज के लिए बिलकुल सहज है, यह बात बिलकुल ठीक है कि जो हवा पर्वतो के शिखरो को हिला सकती है उसके लिए घर के ऊपर की पताका को हिलाना क्या कठिन है ? कुछ भी नही।

प्रयोजन कहने का यह है कि जब हम लोग मरण के मुख मे सदा ही बैठे हुए हैं तब हम लोगो को धर्मसाधनमे व आत्महित मे प्रमाद न करना चाहिए।

मानव जन्म मे देवो के जन्मसे भी यह विशेषता है कि जिस संयम व ध्यानसे आत्मा परम पवित्र हो सकता है वह सयम तथा ध्यान इस मानव शरीरसे ही हो सकता है। इसलिए इस जन्म के समयको बड़ा ही मूल्यवान समझकर हमें इससे आत्महित

कर लेना चाहिए।

अमितिगति महाराज सुभाषित रत्नसन्दोहमें कहते हैं—

देवाराधनमंत्रतंत्रहवनध्यानग्रहेज्याजप—
स्थानत्यागधराप्रवेशगमनप्रव्या द्विजार्चाविभिः ॥
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानंगीकृतो भक्षितुं।
व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितुम् ॥२६७

भावार्थ—जैसे बाघसे पकडा हुआ प्राणी जगल मे मरण से बच नही सकता। इसी तरह जब इस प्राणीको भयानक यमराज भक्षण करता है तब देवपूजा, मत्र, तत्र, होम, ध्यान, ग्रहपूजा, जप, स्थानसे चले जाना, धरती मे प्रवेश करना, विहारी साधु हो जाना, ब्राह्मणोकी सेवा आदि कोई बचा नही सकते।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

असुर सुर पतीको जो विभूति छुड़ावे।
मानवको हरने खेद नहि काल लावे ॥
पर्वतकी चोटी जो पवन डगमगावे।
गृहशिखरध्वजाको खेद बिन सो उड़ावे ॥१०८॥

उत्थानिका—आगे जगतके पदार्थोंकी चचलताको दिखाते हैं—

द्रुतविलबित छन्द

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥१०९

अन्वयार्थ—(सकललोकमनोहरणक्षमा) सर्व लोगो के मन को हरण करनेमे समर्थ (करणयौवनजीवितसम्पद) इद्रियो की युवानी व जीवन व सम्पत्तिये (कमलपत्रपयोलवचचला) कमल के पत्ते पर पडे हुए पानीकी बूदकी तरह चचल है (जगत्त्रये) तीनोही लोकमे (किमपि स्थिर न अस्ति) कोई भी पदार्थ स्थिर नही है।

भावार्थ—यहा पर यह बताया गया है कि ससारमें हरएक अवस्था नाशवंत है। जिन महापुरुषोकी इद्रियो की रचना ऐसी सुन्दर होती है जो तीन लोकके प्राणियोके मनको हरण कर सके व जिनका जीवन अनेक सासारिक सुखोसे पूर्ण होता है व जिनके पास चक्रवर्तीकी-सी सम्पदा होती है ऐसे-२ प्राणी इतनी जल्दी नष्ट हो जाते हैं जैसे कमलके पत्ते पर पडी हुई पानीकी बूद गिर जाती है। ससार के सर्व पदार्थों को चचल समझ कर किसी से भी मोह करना उचित नही है।

अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं—

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेत्र सकलाः।
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेपि गमिताः॥
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटीक्रमकृता।
न पश्यन्तोप्येवं विषयविरतिं यान्ति कृपणाः॥३३७॥

भावार्थ—जिनसे हम पैदा हुए थे वे सब तो मर चुके, व जिनके साथ हम बढ़े थे वे भी वियोग को प्राप्त हो गए, अब हमारा मरण होने वाला है। जो दीन हैं वे ऐसा देखते हुए भी इंद्रियो के विषयो से विरक्त नहीं होते हैं।

वास्तव में चतुर पुरुषको संसार की अनित्यता को ध्यान में लेकर स्वहित में प्रयत्न करना उचित है।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जगमनहरसम्पत् अक्ष यौवन स्वजीवन,
चंचल हैं सारे, जिम कमलपत्र जलकण।
इम सकल पदारथ तीन भूके अथिर हैं,
ज्ञानी ज्ञाता हो आत्महित बीच वृढ़ हैं॥१०९॥

द्रुतविलंबित छन्द

बलवतो महिषाधिपवाहनो निरुनिर्लिपपतीनपहंति यः ।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रमः ॥११०

अन्वयार्थ—(यः) जो (बलवतः) बलवान (महिषाधिपवाहनः) बडे भैसोकी सवारी करने वाला ऐसा यमराज (निरुनिलिपपतीन्) देवोके स्वामियो को (अपहृति) नाश कर देता है (तस्य) उस कालको (अपरमानववर्गविमर्दने) दूसरे मानवों के गर्वको खण्ठन करनेमें (कदाचन) कभी भी (श्रमः) मेहनत (न भवति) नहीं करनी पड़ती है ।

भावार्थ—इस श्लोकमे यह बताया गया है कि यह मरण किसीको भी छोडता नही है । बडे-२ बलवान देवोंके स्वामियों को क्षणमात्र मे नष्ट कर देता है तब अल्पायुधारी मानव व पशुओकी तो बात ही क्या है । तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एक दिन आने वाला है ऐसा समझ कर आत्महित के साधनमे रचमात्र भी प्रमाद करनेकी जरूरत नही है । मरण से कोई बच नही सकता ऐसा अमितगति महाराज ने सुभाषित रत्नसंदोह मे कहा है—

ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया ।
लोकालोकविलोकिकेवलसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः ॥
प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पदं ।
तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृत. क्षीणायुषो जीवितम् ॥३००

भावार्थ—जिन तीर्थंकरो के चरणो को इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोकशिरोमणि पुरुष अपनी कातिरूपी जलसे धोते हैं, जो लोक अलोकको देने वाले ऐसे केवल ज्ञानरूपी राज्यलक्ष्मी के धारी

हैं, ऐसे तीर्थंकर भी आयुकर्मके समाप्त होने पर इस शरीर को छोड़कर मोक्षको चले जाते हैं तो फिर अन्य अल्पायुधारी मानवों के जीव का क्या भरोसा ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जो यम हन डाले, देव इन्द्रादिकों को ।
वह बलशालिनको दीर्घ वय धारिकों को ॥
सो मानव वर्ग जो धरे आयु अल्पा ।
हनता क्षणभरमें नाहिं श्रम कोय कल्पा ॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगतमे कोई वस्तु सुख-दाई नही है—

स्वजनसगतिरेव वितापिनो भवति यौवनिका जरसा रसा ।
विपदवैति सखीव च सपदम् किमति शर्मविधायिन दृश्यते ॥१११

अन्वयार्थ—(स्वजनसगति) अपने बधुजनोकी सगति (एव) ही (वितापिनी) उसके वियोग मे दु:ख देने वाली हो जाती है (यौवनिका) युवानी (जरसा रसा) बुढापे के साथ है (विपत्) आपत्ति (सखी इव) सखी के समान (सपदम्) सम्पत्ति के पास (अवैति) जाती है। (शर्मविधायि) सुख देने वाली (किमपि) कोई भी वस्तु (न दृश्यते) नही दिखलाई पडती है।

भावार्थ—इस जगत मे जिस-जिस पदार्थ का सयोग है वह वियोग के साथ है। आज जिन स्त्री पुत्र मित्रो के साथ मे कुछ साता मालूम होती है यदि उनका वियोग हो जावे या वे अपने अनुकूल वर्तन न करे तो ये ही पदार्थ दुखदाई भासते हैं व उनके निमित्तसे नित्य सताप रहता है। जिस युवानी के मद मे चूर होकर हम शरीरके बलका व रूपका अहकार करते हैं वह जवानी

मात्र थोडे दिन रहने वाली है, एकदम बुढ़ापा आ जावेगा तब युवानी का पता ही नही चलेगा। आज धनसम्पदा राज्यविभूति दिखलाई पडती है, यकायक विघ्न आ जाते हैं राज्य छूट जाता है, संपदाएँ चली जाती हैं संपत्तिवान विपत्तियोंमें फँस जाता है, जिस पदार्थसे यह मोही जीव सुख मानता है वे ही पदार्थ नाशवंत हैं व बिगड जाते हैं, बस इस मोही जीवको महान दुःखों का सामना करना पड़ जाता है। जगत का ऐसा क्षणभंगुर स्वभाव जानकर ज्ञानी जीवको निरन्तर आत्मकल्याण के सन्मुख रहना चाहिए।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत् मे कहते हैं—

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रंकायते निश्चितं।
सर्वव्याधिविवर्जितेपि तरुणो आशु क्षयं गच्छति॥
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः।
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः॥४८

भावार्थ—राजा भी क्षणमात्रमें निश्चयसे रक हो जाता है। सर्व रोगोसे रहित जवान शरीर भी शीघ्र नाशको प्राप्त हो जाता है लक्ष्मी और जीतव्य ये दोनो पदार्थ औरो की अपेक्षा जगतमें सार है। जब इन ही दोनोकी ऐसी चचल हालत है तब विद्वान पुरुष और किस पदार्थ मे मद करे ?

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

संगति निज जनकी, तापकारी बखानो।
तन को तरुणाई, वृद्धपन माँहि सानो॥
आपद जा घेरे, मित्रवत् सम्पदा को।
सुखप्रद जगवस्तू, दीखतो नहिं कदाको॥११२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मरणसे कोई भी रक्षा करने वाला नही है—

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम् ।।११२

अन्वयार्थ—(सचिवमंत्रिपदातिपुरोहिता.) दीवान, मंत्री, पैदल, पुरोहित तथा (त्रिदशखेचरदैत्यपुरदरा.) देव, विद्याधर, दैत्य, इन्द्र (यमभटेन) जमराजरूपी योद्धासे (पुरस्कृतम्) पकड़े हुए (आतुर) दुःखी (भवभृत) संसारी प्राणीको (रक्षितुम्)रक्षा करनेको (न प्रभवति) समर्थ नही होते हैं।

भावार्थ—यहा पर आचार्य कहते हैं कि जब मरणका समय आ जाता है तब कोई किसीको बचा नही सकता है। जिन सम्राटों के बडे-२ मत्री, दीवान, पैदल, सिपाही व पुरोहितादि होते है व जिनके आधीन देव, विद्याधर, व्यतरादि होते हैं व इन्द्रभी जिन की भक्ति करता है ऐसे चक्रवर्ती तीर्थंकरादि भी मरणके समय पर इस शरीरमे फिर नही रह सकते हैं। जब महान पुरुषो की यह दशा है तब हम सबको तो कालके मुखमे बैठा हुआ ही अपने को समझना चाहिए, ऐसा निश्चय कर आत्मकल्याणमे जरा भी प्रमाद न करना चाहिए।

पद्मनदि मुनि अनित्यपचाशत् मे कहते हैं—

कालेन प्रलयं व्रजंति नियतं तेपींद्रचन्द्राद्यः।
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो शक्तेरदीर्घायुषः ।।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोह मुधा मा कृथाः।
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम् ।।५१

भावार्थ—जब इन्द्र, चन्द्र, आदि भी मरणके द्वारा निश्चयसे नाश किए जाते हैं तब उनके मुकाबले मे कीटके समान अल्पायु वाले अन्य जनकी तो बात ही क्या है? इसलिए अपने किसी प्रिय

के मरण हो जाने पर वृथा मोह नही करना चाहिए। इस जगत में तू ऐसा कोई उपाय शीघ्र ढूढ जिससे काल अपना दांव न कर सके।

मूल श्लोकानुसार शार्दूलविक्रीडित छन्द

सेनापति मंत्री, अर पुरोहित सिपाही।
सुर असुर खगाधिप, इन्द्र बहुबल धराई॥
जब यमभट जनको, लेत है दाव आई।
दुःखित हो प्राणी, नहिं सकें तब बचाई॥११२

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस ससार मे कोई अपना रक्षक नही है—

बालकृतोऽशनतोऽपि विपद्यते,
यदि जनो न तदा परतः कथम्।
यदि निहन्ति शिशुं जननी हिता,
न परमस्ति तदा शरणं ध्रुवम्॥११३

अन्वयार्थ--(यदि) यदि(जन) यह मानव (बलकृत·)शरीर को बलदाई (अशनतः अपि) भोजन से ही (विपद्यते) विपत्ति मे आ जाते हैं, रोगी हो जाते हैं तथा मरण कर जाते हैं (तदा) तब (परतः) दूसरे विष आदि पदार्थोंसे (कथम्) किस तरह बच सकते है? (यदि) जब (हिता) हितकारी (जननी)माता(शिशु) बच्चेको (निहंति) मार डालती है (तदा) तब(ध्रुव) निश्चयसे (शरण) शरणमे रखने वाला (पर न अस्ति) दूसरा कोई नही है।

भावार्थ—इस ससारमे कोई जीव किसी को मरणसे बचाने वाला नही है। जिस भोजनसे शरीरकी रक्षा होती है व बलदाई होता है वही भोजन रोगी प्राणी के लिए विषमज्वर पैदा करके उसके प्राणोका अन्त करने वाला हो जाता है। इस जगतमें कोई

कोई पशु ऐसे हैं कि जिनको जनने वाली माता ही उनका भक्षण कर लेती है जहा माता ही बच्चे को खा लेवे वहा और कौन बचाने वाला है ?

ऐसा जानकर मानव को आत्मानुभव के भीतर शरण लेनी चाहिए। यही इस जीवका सच्चा रक्षक है यही शुभ गतिमें व परम्परा मोक्षमे इस जीवको पहुंचाने वाला है। वास्तव में इस जगतमे कोई भी तीव्र कर्म के उदयको टाल नही सकता है।

पद्मनदि मुनि अनित्य पचाशत् मे कहते हैं—

किं देव: किमु देवता किमु गदो विद्यास्ति किं किं मणि: ।
किं मंत्र: किमुताश्रय: किमु सुहृत् किं वा सुगंधोस्ति स: ॥
अन्ये वा किम् भूपतिप्रभृतय: सत्यत्र लोकत्रये ।
यै: सर्वैरपि देहिन: स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥३२॥

भावार्थ—न कोई देव है न कोई देवी है, न वैद्य है न कोई विद्या है, न कोई मणि है न मत्र है, न कोई आश्रय है न कोई मित्र है, न कोई गध है न कोई और राजा आदि इस तीन लोक मे हैं जो प्राणियोके उदयमे आए हुए कर्मको रोक सके।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

बलप्रद भोजन भी, प्राणिगण नाश करता।
तब विष फल खाना, क्यों नही मर्ण करता॥
हितकारी माता, बाल अपना हने है।
कौन फिर इस जगतमें, शर्ण जिय राखले है ॥११३

उत्थानिका—आगे कहते है कि इस जीव को अपनी करणी का फल अकेला ही भोगना पडता है—

विविधसग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेंगकुटुंबकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुख पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्हम् ॥११४

अन्वयार्थ—(अंगिनः) यह शरीरधारी प्राणी (अंगकुटुम्बकहेतवे) अपने शरीर तथा अपने कुटुम्ब के (विविधसग्रह-कल्मष) नाना प्रकारके पाप के सचयको (विदधते) करते रहते हैं (पुनः) परन्तु (एकका) अकेले ही (नरकवास) नरकके स्थान में (उपेत्य) जाकरके (सुदुस्सह) अति दुःसह (असुखं) दुःख को (अनुभवंति) भोगते हैं।

भावार्थ—ये ससारी गृहस्थ अपने स्त्री पुत्रादि के मोह में ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि उनके मोह मे और अपने शरीर के मोह में पडकर नाना प्रकार के विषयो को भोगने के अभिप्राय से व धन के सचय करनेके लिए नीतिको उलघकर व बहुत से परिग्रह को सचय करते हुए बहुत सा पाप बाध लेते है। जिस कुटुम्ब के लिए मोही जीव पाप का सचय करते है वह कुटुम्ब उस पाप के फल के भोगने मे सहकारी नही होता है। यह जीव अकेला ही उस पाप के फलसे नर्क मे जाता है और वहाँ असहनीय दुख को बहुत काल पर्यन्त भोगता रहता है। वास्तव मे हर एक जीव अपने अपने भावो का जिम्मेदार है। अपने भावो से जो पाप बाँधता है उसका फल उसी ही को स्वय भोगना पडता है ऐसा समझकर ज्ञानवानो को उचित है कि कुटुम्ब के मोह मे पडकर उसके लिए अन्याय व अनर्थ न करे, अपनेको नीति व धर्म के मार्ग से विचलित न करे, स्वात्महित करते हुए परहित करना उचित है।

स्वामी अमितगतिजी सुभाषितरत्नसदोहमे कहते है—

रे पापिष्ठातिदुष्टव्यसनगतमते निद्यकर्मप्रशक्त।
न्यायान्यानयाभिज्ञ प्रतिहतकरुण ध्वस्तसन्मार्गबुद्धे ॥

किं किं दुःखं न यातो विषयवशगतो येन जीवो विषह्य ।
त्वं तेनंतोऽतिवर्त्य प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८

भावार्थ—अरे पापी, अति दुष्ट, द्यूतादि व्यसनो मे बुद्धि को लगाने वाला, दया रहित, सच्चे मार्ग से बुद्धि को हटाने वाला, न्याय व अन्याय से अनजान ! तूने इन्द्रियो के विषयो के वश में पड करके क्या क्या दु.ख नही सहन किए है, अब तू इन पापो से अच्छी तरह मुह मोड और अपना मन जैनतत्त्व मे धारण कर।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

निज तनके काजे या कुटुम्बार्थ प्राणी।
करत विविध कर्म पाप बांधत अमानो ॥
एकाकी जावे नर्क में दुख बढ़ावे।
कोई नहिं साथी मूढ़ आपो ठगावे ॥११४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते है जब आत्मा के साथ यह शरीर ही नही जा सकता है तब अन्य पदार्थ कैसे साथ जावेगे—

वसनवाहनभोजनमंदिरैः सुखकरैश्चिरवासमुपासितम् ।
व्रजति यत्रसमं न कलेवरं किमपरं बत तत्र गमिष्यति ।११५

अन्वयार्थ—(सुखकरै) सुखदाई (वसनवाहनभोजनमदिरैः) कपडे, सवारी, भोजन तथा मकानो के द्वारा (चिरवासम्)दीर्घ-कालबास करके (उपासितम्) सेवन किया हुआ (कलेवर) यह शरीर (यत्र) जहाँ (सम) साथ (न व्रजति)नही जाता है (तत्र) वहाँ (बत) खेदको बात है (अपर किं) दूसरा क्या (गमिष्यति) साथ जावेगा ?

भावार्थ—जब मरण आ जाता है तब इस जीव को अकेला ही जाना पडा है। इस शरीर को तरह तरह के भोगो से तृप्त

किया, मनोहर वस्त्रो से सज्जित किया, नाना प्रकार हाथी घोड़े पालकी विमानादि सवारियो पर आरूढ़ किया, हीरे जवाहरातसे जडे हुए सुवर्ण के मकानो में बिठाया व सुलाया। इस तरह दीर्घ काल तक इसकी सेवा की गई तो भी इस कृतघ्नी ने मरते समय साथ न दिया तब स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, सेवा नौकर आदि अपना साथ कैसे दे सकते हैं ? ये तो बिलकुल ही अलग हैं। ऐसा जान ज्ञानी जीवको किसीसे भी मोह नही करना चाहिए। आपही अपनेको अपने हित अहित का जिम्मेदार समझकर सदा ही आत्महितमे लवलीन होना चाहिए। स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोह मे कहते हैं—

एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना।
निस्त्रिशेनसमस्तसत्त्वसमितिप्रध्वसिना मृत्युना ॥
सद्रत्नत्रयशातमार्गणगणं गृह्णन्ति यच्छित्तये।
सन्तःशांतधियो जिनेश्वरतपः साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः॥३१८

भावार्थ—इस तरह सर्व जगत को अतुल बीर्यधारी, निर्दयी व सर्वप्राणियो को नाश करने वाले मरण द्वारा ग्रसित देखकर शान्त परिणामी व जिनेन्द्रकथित तप की राज्यलक्ष्मीका आश्रय करनेवाले सन्त जन उस मरण के नाशके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रमई रत्नत्रय धर्म तीक्ष्ण बाणो को ग्रहण करते है।

मूलश्लोकानुसार मालिनी छन्द

जिस तनको सेवा, काल बहु खूब कोनो।
सुखकर मंदिर रख, वस्त्र वाहन नवीनो।
भोजन इष्ट दे, साथ सो भी न जावे।
फिर जग है कोजन, सग अपना निभावे ॥११५॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इन्द्रियो के विषयोंमें जो लीन हो जाते हैं वे नाश को प्राप्त होते हैं।

खचरनागसदो दमयन्ति ये कथममी विषया न परं नरम् ।

समदवन्तिमदं दलयन्ति ये न हरिणं हरयो रहयंति ते ।११६

अन्वयार्थ—(ये विषयाः) ये इन्द्रियो के विषय जब (खचर-नागसदः) विद्याधर व नागकुमारो के समूह को (दमयन्ति) वश कर लेते हैं तब (अमी) ये (पर नरम्) दूसरे मानव को (कथ न) क्यों नही वश कर सकेंगे ? (ये हरयः) जो सिंह (समददन्तिमद) मदवाले हाथियो के मद को (दलयन्ति) चूर्ण कर डालते हैं (ते) वे (हिरण) हिरण को (न रहयन्ति) छोडने वाले नही है।

भावार्थ—पाँचों इन्द्रियो के विषय बडे प्रबल हैं। ये बडे-२ विद्याधरो को, नागेन्द्रो को, देवो को, चक्रवर्ती नारायणो को अपने वश में करके दीन हीन कर डालते है और उनको दुर्गतिमें पहुचा देते हैं तब साधारण मानव को अपने आधीन कर डालें इसमें तो कोई अन्यपने की बात ही नही है। भला जो सिंह मद वाले हाथी को चूर कर सकते है उनके लिए हिरणो की क्या गिनती ? प्रयोजन यह है कि इन दुष्ट विषयो से सदा अपने को बचाना चाहिए। ये आत्महितके मार्गमे प्राणीको गिराने वाले हैं और ससार के भयानक जगल मे पटक देने वाले है। वहाँ यह प्राणी भटक भटक कर घोर कष्ट उठाता है और ऐसा अन्धा हो जाता है कि फिर इसको सुमार्ग दिखता ही नही।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोह मे कहते हैं—

आदित्यचन्द्रहरिशंकरवासवाद्याः ।

शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि ।।

त: नीन्द्रियाणि बलवन्ति सुदुर्जयानि।
ये निर्जयन्ति भुवने बलिनस्त एके ॥६३॥

भावार्थ—जिनको सूर्य, चन्द्र, विष्णु, शकर, इन्द्रादिक जीत न सके ऐसी दुखदाई, बलवान व दुर्जन इन्द्रियोको जो जीत लेते है एक वे ही जगत मे बलवान हैं—

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जिनने वश कीना, देव विद्याधरों को।
कैसे नहि जीतें, अक्ष सामान्यजनको ॥
मद धर हस्तीको, सिंह जो दलमले है।
को गिनतो मृगको, ताहि चूरण करे है ॥११६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मोही जीव आत्महितो में नही वर्तता हैं—

मरणमेति विनश्यति जीवितं, द्युतिरपैति जरा परिवर्धते।
प्रचुरमोहपिशाचवशीकृतस्तदपि नात्महिते रमते जनः ॥११७॥

अन्वयार्थ—(मरण एति) मरण आ रहा है (जीवित विनश्यति) जिंदगी नाश हो रही है (द्युति अपैति) युवानी दूर जा रही है (जरा परिवर्धते) बुढापा बढ रहा है (तदपि) तो भी (प्रचुरमोहपिशाचवशीकृत) भयानक मोहरूपी पिशाचके वशमे पडा हुआ (जन) यह मानव (आत्महिते) अपने आत्मकल्याण मे (न रमते) नही प्रेम करता है।

भावार्थ- यहा आचार्यने मोही जीवकी दशा बताई है। स्त्री पुत्र मित्र व इद्रियो के विषय इन्द्रादि पदार्थों मे अज्ञानी जीव ऐसा उलझ जाता है कि अपने सामने आपत्तिये मौजूद हैं तो भी उन पर ध्यान नही देता है। यह देखता है कि दिन-पर-दिन

जिंदगी पूरी होती चली जाती है। मरण अचानक आने वाला है। शरीरकी चमक-दमक घट रही है। जवानी बीत रही है, बुढापा आ रहा है तो भी धर्म की ओर बुद्धि नही लगाता है। आत्माकी परलोकमें दुर्गति न हो इसकी चिंता नही करता है। आत्मानुभव रूपी परमोत्तम कार्य को नही करता है, आत्मानंद का विलास नही लेता है। वास्तव मे जिसके भावो मे तीव्र-मिथ्यात्व व अनन्तानुबधी कषायका उदय होता है उसकी दशा ऐसी ही भयानक हो जाती है।

स्वामी अमितगति सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो ।
गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा ॥
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो ।
रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥१३७॥

भावार्थ—जैसे निर्मल पानी धूलसहित तूम्बीमें प्राप्त होकर मैला हो जाता है वैसे जिसका आत्मा दुखदाई मिथ्यादर्शनरूपी कर्मकी रजसे गाढ छाया गया है उसके भीतर दया, संयम, ध्यान, तप, व्रत आदि ये सर्व गुण बिलकुल नही पाए जाते हैं।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

जीवन बीते है, मरण आही रहा है।
द्युति तन खिरती है, वृद्धपन बढ़ रहा है ॥
जो मोह पिशाचं, वश पडा दीन नर है।
सो भूले हितको, आत्ममें बे खबर है ॥११७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इन्द्रियोके विषयोमें जो अंधा है वह अपना नाश निकट आने पर भी धर्मसे प्रेम नही करता है—

जननमृत्युजरानलदीपितं
जगदिद सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममति विदधाति नो
रतमना विषयाकुलितो जनः ॥११८॥

अन्वयार्थ—(सकल) सर्व लोग (अपि) अवश्य (विलोकते) देख रहे हैं कि (इदजगत्) यह जगत (जननमृत्युजरानलदीपितं) जन्म, मरण व बुढापा इन अग्नियों से बराबर जल रहा है (तदपि) तो भी (रत्नमना विषयाकुलितः जनः) विषयो की चाह में घबडाया हुआ मनुष्य मनको उनमें भाता हुआ। (धर्मं-मति) धर्ममे बुद्धिको (नो विदधाति) नही लगाता है।

भावार्थ—आचार्य ने प्रगट किया है कि जो मानव इद्रियोके विषयोंका गुलाम हो जाता है वह अपने मनको उनहीकी मूर्तिमें रंजायमान किया करता है। ऐसा होकर इस बात को भूल जाता है कि मझे धर्म भी साधन करना जरूरी है। वह यह देखता भी है कि जगत मे कोई मानव जन्मते है, कोई बढे होते है, कोई मरते हैं अर्थात कोई भी थिर नही रह सकता है तथापि अपने सम्बन्धमे विचार नही करता है कि मुझे शीघ्र मर जाना होगा। आचार्य इस बुद्धिपर खेद प्रकट करते हुए प्रेरणा करते हैं कि बुद्धिमानो को इन विषयो के मोह मे अध होकर अपना आत्महित न भुलाना चाहिए।

स्वामी अमितगति सुभाषितरत्नसदोह मे कहते हैं—

धर्मे चित्तं निधेहि श्रुतकथितविधि जीव भक्त्या विधेहि ।
सम्यक् स्वान्तं पुनोह व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि ॥
पापे बुद्धि धुनीहि प्रशमयमदमाञ्जिझण्ढि पिण्ढि प्रमादं ।
छिन्धि क्रोध विभिन्दि प्रचुरमदगिरिस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवांछा ।४१४

भावार्थ—हे जीव ! यदि तुझको मुक्तिकी इच्छा है तो तू अपने चित्तको धर्म मे धारर कर शास्त्र में कही हुई विधि को भक्तिसे पालन कर, अपने भीतर सम्यग्दर्शनसे पवित्रता पैदाकर आपत्तिरूपी फूलो से लहराते हुए कामदेव के वृक्ष को उखाड के फेंक दे, पाप मे बुद्धि को न लेजा, शान्ति, यम, संयमको पुष्ट कर, प्रमाद को छोड, क्रोधको नष्ट कर, तथा बड़े भारी मान के पर्वत को तोड़ दे।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

यह सब जग जलता, मूर्ख जन देखता है।
जनम जरा मरण अग्निमय फैलता हैं ॥
तदपि विषय लोभी अंध मन हो रहा है।
नहि सेवें धर्म पापको बो रहा है ॥११८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि गृहस्थ का वास छोडने के ही योग्य है।

मालिनी वृत्तम्

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्म दुरंतम्।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही ॥
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ॥११९॥

अन्वयार्थ—(शुद्धबोध अपि गेही) शुद्ध ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को रखने वाला गृहस्थ भी (क्वचन) किसी जगह तो (धर्म) धर्मको (क्व) कही (दुरतम् अधर्म) भयानक अधर्म को (क्वचित्) कही (अनेक उभय) अनेक प्रकार धर्म और अधर्म दोनोको (भजति) सेवन करता है (इति) इसलिए (गृहवासः)

गृहस्थमें रहना (कथम्) किस तरह (मलानाम्) पापके मैलोंको (शुद्धिकारी) शुद्ध करने वाला हो सकता है (इति) ऐसा समझ कर (विमलमनस्कैः) निर्मल मन वाले महात्माओं के द्वारा (सः) यह गृहवास (त्रिधापि) मन, वचन, काय तीनों से ही त्यज्यते) छोड दिया जाता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने यह स्पष्टपने दिखला दिया है कि कोई भी मानव गृहस्थकी कीचडमे फंसा हुआ कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि क्षायिक सम्यदृष्टी व तीन ज्ञान के धारी तीर्थंकरको भी गृहवास छोडकर निर्ग्रन्थ होना पड़ता है। और बिलकुल निर्ममत्व होकर निजात्मानुभव का आनन्द लेना पडता है—शुद्ध वीतराग भावो मे रमण करना पड़ता है तब कही शुक्लध्यान जगता है जो चारो घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान पैदा कर देता है। तब कोई सामान्य मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यो न हो गृहवाससे कर्ममलसे मुक्त नही हो सकता। क्योंकि गृहस्थीको धर्म पुरुषार्थके सिवाय अर्थ और काम पुरुषार्थ की भी सिद्धि करनी पड़ती है। अर्थ पुरुषार्थ के लिए उनको धन कमाने के लिए बहुत आरम्भ व व्यवसाय करना पडता है जिसमें हिंसाजनित बहुत अधर्म करना पडता है। कर्म पुरुषार्थ मे इन्द्रियो को तृप्त करने के लिए पांचो इन्द्रियोंके भोगोंको भी भोगता है। इसमे भी पाप का ही सचय करता है कभी-२ व्यवहार धर्म के ऐसा भी काम करता है जिससे पुण्य व पाप दोनो बँधते हैं जैसे धर्म-स्थान को बनवाना, पूजा प्रतिष्ठा का आरम्भ कराना। जहाँ तक पापो का बिलकुल संवर न हो वहाँ तक कर्म की निर्जरा होना संभव नही है। गृहस्थको गृह सबंधी आडम्बर में सम्यग्दृष्टी भी क्यों न हो कुछ पाप का सचय

करना ही पड़ता है। अर्थ व काम पुरुषार्थमे रागद्वेष की उत्कटता होती ही है। इसलिए जो साधुजन अर्थ व काम पुरुषार्थ को छोड़कर मात्र आरम्भ व परिग्रहसे रहित होनेके कारणसे पापके संचयसे बचते हैं उन्होको गृहकी आकुलताएँ नही सताती हैं वे ही निराकुल हो आत्मध्यान करते व स्वाध्याय आदि मे लीन रहते हैं। उनके ही परिणामोकी बढ़ती हुई शुद्धता होती रहती है। इसलिए जो पूर्णपने आत्मकल्याण करना चाहे उनके लिए यही उचित है कि गृहवास से उदास हो वनकी सेवा करें। वास्तव में गृहादि परिग्रह का त्याग ही ध्यान की सिद्धि का साधन है।

श्री पद्मनदि मुनि यतिधर्म में कहते हैं—

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो।
यदीन्द्रियसुखं तदिह कालकूटः सुधा।।
स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे।
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदीन्द्रजालेपि च।।५६।।

भावार्थ—यदि परिग्रहधारी गृहस्थों को मोक्ष की प्राप्ति हो जावे तो मानना पडेगा कि अग्नि ठण्डी हो जायगी। यदि इंद्रियोके भोगोसे सच्चा सुख होता हो तो मानना पड़ेगा कि कालकट विष भी अमृत हो जायगा। यदि यह शरीर सदा स्थिर माना जायगा तो आकाशमें बिजलीको भी स्थिर मानना होगा यदि संसारमें रमणीयता मानी जायगी तो इन्द्रजालके खेल में भी रमणीयता माननी पड़ेगी।

मूल श्लोकानुसार मालिनी छन्द

ज्ञानी भी गेही, कभी शुभ काम करता।
कभी करता अशुभ, कभी दोऊ हि करता।।
तब घरमें रहना, किस तरह मैल धोवे।
इम लख शुचि मन धर, त्याग घर आत्म जोवे।।११९

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो आत्मा के सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं उनको अपने परमात्मस्वभाव का नित्य चिन्तवन करना उचित है—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलामलः शश्वदात्मानपायः।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशवसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥१२०

अन्वयार्थ—(दक्षैः) जो चतुर पुरुष (सकोचिताक्षैः) अपनी इंद्रियों को वश में रखनेवाले हैं, (भवमृतिचकितैः) जन्म मरणसे भयभीत हैं, (लोकयात्रानपेक्षैः) ससार के भ्रमण से उदास हैं उनको (नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये) बाधा रहित, स्थिर व निर्मल आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिए (शाश्वत्) सदा ही (सर्वज्ञः) सर्वको जानने वाला (सर्वदर्शी) सर्वको देखनेवाला (भवमरणजरातकशोकव्यतीतः) जन्म, मरण, जरा, शोक आदि दोषो से रहित (लब्धात्मीयस्वभावः) अपने स्वभाव को प्राप्त किए हुए (क्षतसकलमलः) सर्व कर्ममलों से रहित (अनपायः) अविनाशी (आत्मा) अपने आत्मा को ही (चिन्तनीयः) ध्यानमें ध्याना योग्य है।

भावार्थ—इस श्लोकमे आचार्यने इस तत्त्वभावना का सार बता दिया है कि जो भव्यजीव अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके आत्मीक सच्चे सुखको भोगना चाहें जो सुख स्थिर है, बाधा-रहित है, उनको उचित है कि वे पहले अपनी पांचों इन्द्रियों को वश करें, क्योंकि इन्द्रियो की चाहनाएँ ध्यान में बाधक होती हैं फिर वह मनमें दया लावें कि मेरा आत्मा इस संसार में बारबार शरीर धारण कर जन्म-मरणके कष्ट न उठावें।

इसलिए उसके मनमे ससार यात्रा से उदासीनता हो व स्वाधीनताका परम प्रेम हो। ऐसा ज्ञानी जीव निश्चिन्त होकर परमात्माका या निश्चयनयसे अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप ध्यान में लेकर बारबार चिन्तवन करे। निश्चय से सिद्ध परमात्मा मे और अपने आत्मामे कोई तरहका अन्तर नही है—दोनोंका स्वभाव समान है। यह आत्मा निश्चय से पूर्णज्ञान दर्शन गुण का धारी है, इसमें कर्मों के द्वारा होने वाले राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भाव व शोक व मन्म, जरा, मरण, आदि अवस्थाएँ नहीं हैं यह तो कर्म रहित शुद्ध वीतराग है, अपने असल स्वभाव मे सदा शोभायमान है। इस आत्मा का आदि अन्त नही है इससे यह अविनाशी है। इस तरह ध्यान मे अपने स्वरूप को जमाकर बार बार ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। जब मनकी वृत्ति परभावोसे हटकर अपने स्वरूपमे कुछ देरके लिए भी स्थिर होवेगी–स्वात्मानुभव जग जायगा उसी समय आत्मीक सुख का लाभ होगा। आत्मध्यान करनेके लिए क्या-२ बाहरी साधनोकी जरूरत है उसका कथन श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थके आधार पर आगे किया जायगा। वास्तवमे आत्मध्यानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है, आत्मध्यानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है, आत्मध्यानसे ही कर्मों का सवर होता है, आत्मध्यानसे ही मोक्ष होता है। इसलिए हितेच्छुको निरतर आत्मध्यानका अभ्यास परम निश्चिन्त होकर करना योग्य है। पद्मनदि मुनि ने एकत्वाशीति मे कहा है—

यदेव चैतन्यमहं तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥७६॥
हेयं हि कर्मरागादि तत्कार्यं च विवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥७४॥

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥४४॥

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पंथा न चापरः ।
आनन्दोपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४६॥

अक्षयस्याक्षयानंदमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥५०॥

भावार्थ—जो कोई चैतन्य स्वरूप है, जो कोई जानता है, जो कोई देखता है वही मैं हूँ। वह एक उत्कृष्ट पदार्थ है इसलिए मैं निश्चयसे उसी एकके साथ एक भावपनेको प्राप्त हो गया हूं ॥७६

रागादि द्रव्य कर्म और उनके कार्य रागादि भाव विवेकियों के लिए त्यागने योग्य हैं। शुद्ध उपयोग लक्षणको रखने वाली एक उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति ही ग्रहण करने योग्य है ॥७४॥

वही एक उत्कृष्ट तत्त्व है वही एक उत्कृष्ट पद है। भव्य जीवोके लिए वही एक आराधने योग्य हैं। वही एक परम ज्योतिमय है ॥४४॥

मोक्षकी इच्छा करने वालोंके लिए वही एक मुक्तिका मार्ग है दूसरा नही है, उनको छोड़कर आनन्द और कहीं नही पाया जाता है ॥४६॥

अविनाशी मोक्षरूपी शोभायमान वृक्षके लिए जो वृक्ष अवि॰ नाशी आनन्दरूपी महाकाल के भार से चमकता रहता है वही एक आत्मतत्त्व परम बीज है ॥५०॥

इन श्लोको से यही बताया है कि शुद्ध आत्मा का अनुभव ही आनन्द का दातार है व स्वाधीनता का उपाय है। वही निरन्तर सेवने योग्य है।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

जो हैं दक्ष स्वअक्ष रोधकर्ता, जन्मन मरण भय कर।
संसृति हरके आत्मलीन निर्मल निर्बाध सुख रुचि धरें॥
वे चिन्तें निज आत्मरूप निश्चय, सर्वज्ञ सब देवता।
निर्मल नित्य स्वभावरूप, रतिबिन रत्नत्रयी एकता॥१२०

उत्थानिका—आगे ग्रन्थकार ग्रन्थ समाप्त करके आशीर्वाद देते हैं—

वृत्तैर्विंशशतेनेति कुर्वता तत्वभावनाम्।
सद्योमितगतेरिष्टा निर्वृतिः क्रियते करे॥२११॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (विंशशतेन) एकसौ बीस (वृत्तैः) श्लोकोंके द्वारा (तत्वभावनाम्) आत्मतत्वकी भावना को (कुर्वता) करने वाला (सद्यः)शीघ्र ही। (अमितिगतेः इष्टा) सर्वज्ञ को प्रिय या अमितगति आचार्य को प्रिय ऐसी (निर्वृतिः) मुक्तिको (करे क्रियते) अपने हाथमे प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—श्री अमितगति महाराजने इन पहले कहे हुए १२० श्लोकोसे इस तत्त्वभावना नामके ग्रन्थको रचा है इसको जो कोई बारम्बार अनुभव करेगा उसको अवश्य मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा आशीर्वाद आचार्य ने पाठको को दिया है। तथा आचार्यने यह भी दिखलाया है कि प्राचीनकाल मे जो सर्वज्ञ हो गए हैं उन्होने भी इसी तत्व की भावनासे मुक्ति प्राप्तकी थी व मैं इसी हेतुसे तत्वकी भावना कर रहा हूँ। दोहा—

विंशति सौ श्लोक में, तत्त्व भावना पाठ।
रचो अमितगति सूरि ने, करें भावसे पाठ॥
सो पावें निज मुक्तिको, जिम पाई सर्वज्ञ।
'सीतल' कर्म सुकाटकें, रहें आत्म मर्मज्ञ॥१२१॥

॥ ॐ ॥

आत्मध्यान का उपाय

हरएक बुद्धिमान मानव स्वाधीनताप्रिय होता है और सुख व शांतिको चाहता है। आत्मा और कर्मपुद्गल इन दोनों के परस्पर सहवाससे आत्मा की शक्तियें पूर्ण विकाशरूप नहीं हैं तथा आत्माको अपने वर्तनमे बहुतसी बाधाएँ उठानी पड़ती हैं। ससारमे इष्टका वियोग व अनिष्टका सयोग होना कर्मों की ही पराधीनता का कारण है। क्रोधादि भावोका झलकना व पूर्ण-ज्ञान का न होना कर्मों के उदयका ही कार्य हैं। जन्म-जन्म में भ्रमण करना, जरा व मरणके कष्ट उठाना कर्मोंका ही वेग है। इसलिए हरएक मानवका यह दृढ़ उद्देश्य होना चाहिए कि वह कर्मोंकी सगतिसे छूटकर स्वाधीन हो जावे। कर्मोंकी संगति राग द्वेष मोहसे हुआ करती है। इसलिए हमे इन भावोको दूर करके वीतरागता पूर्ण आत्मज्ञानके पानेका उद्योग करना चाहिए और उसके बलसे आत्माका ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यानको हर एक साधु व श्रद्धावान गृहस्थ कर सकता है। जैनसिद्धान्तो ने मुख्य सात तत्वोका जानना व श्रद्धान करना जरूरी बताया है। वे तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव—निश्चयसे परमात्माके समान ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परमशांत, सुखमई, चैतन्य धातुरूप, असख्यात प्रदेशी है। इसका स्वभाव स्वाधीन आनन्द का भोग करते हुए

दीपक के समान स्वपर प्रकाशक है। ऐसा होकर के भी अनादि कालके प्रवाहरूप कर्मों के बंधन के कारण यह शरीर मे रहता हुआ अज्ञान और कषायकी कालिमासे अशुद्ध हो रहा है। यह जीव द्रव्य अवस्थाओंकी अपेक्षा तो अनित्य है परन्तु द्रव्य और गुणकी अपेक्षा नित्य है। यह स्वय कर्म बांधता है व स्वयं उस बधसे छूट भी सकता है।

अजीव तत्व—में पांच द्रव्य गर्भित हैं। पुद्गल द्रव्य जो स्पर्श, रस, गध, वर्णरूप है। जो परमाणु व स्कंधके भेदोंसे अनेक प्रकारसे लोकभर मे भरा है। यह स्थूल शरीर भी पुद्गल से बना है तथा सूक्ष्म शरीर जो कर्मोंका है वह भी सूक्ष्म कर्मवर्गणा-रूपी पुद्गलोसे बना है। जो कुछ हमारे इद्रियोका विषय है वह सब पुद्गल है। बहुतसे पुद्गल ऐसे सूक्ष्म हैं जिनको हम अपनी इन्द्रियों से नही देख सकते है।

धर्मास्तिकाय द्रव्य—यह दूसरा अजीव द्रव्य है। यह अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है। इसका काम जीव और पुद्गलों की हलनचलन क्रिया को होते हुए उदासीनता के साथ बिना प्रेरणाके मदद देना है। जैसे मछलीको चलते हुए जल सहकारी है। बिना इसके किसी जीव या पुद्गल मे कोई हलन चलन रूप क्रिया नही हो सकती है।

अधर्मास्तिकाय—यह तीसरा अजीव द्रव्य है। यह भी अमूर्तीक तीन लोक व्यापी एक अखण्ड द्रव्य है इसका काम जीव और पुद्गलो को स्वयं ठहरते हुए उनको उदासीनता के साथ बिना प्रेरणाके ठहरनेमें मदद देना है। बिना इसके जीव पुद्गल कभी ठहर नहीं सकते हैं। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरनेमें निमित्त है।

आकाशद्रव्य—चौथा अजीव द्रव्य अमूर्तीक आकाश है जो अनन्त है व एक अखण्ड है। इसका काम सर्व द्रव्योंको अवकाश या स्थान देना है। इसीके मध्यमे तीन लोकमय यह जगत है। जगतमें ही जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, व काल ये पांच द्रव्य हुए स्थान पर पाए जाते हैं। ये पांचो ही अजीव द्रव्य जीव द्रव्य से बिलकुल भिन्न स्वतत्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही ससार है व इन दोनोंका भिन्न-२ होना ही मोक्ष है।

कालद्रव्य—यह भी पाचवां अमूर्तीक अजीव द्रव्य है। इसका काम सर्व द्रव्योके पलटनेमे उदासीनता से सहाय करना है। इस काल के अणु अलग-अलग आकाशके एक-एक प्रदेश पर बैठे हुए असंख्यात प्रदेशी आकाशमे असंख्यात हैं। लोक में जितने द्रव्य एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थारूप होते हैं उनको नए से पुराना करने में ये कालाणु निमित्त हैं।

आस्रव और बन्ध तत्त्व—ये बतलाते हैं कि किस तरह यह जीव कर्मों को खीचकर बांधा करता है। मन, वचन, कायके द्वारा यह ससारी जीव काम किया करता है। जब यह कोई क्रिया मन, वचन, कायसे करता है तब आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं उस समय चारों तरफ भरे हुए कार्माण, वर्गणारूप पुद्-गल खिचकर आ जाते हैं और आत्मा के कर्माण देह से बध को प्राप्त हो जाते हैं। उनमे अनेको आस्रव व बन्धन को बंध कहते हैं। रागद्वेष मोहकी यदि प्रबलता होती है तो कर्मों का बंधन बहुत काल तकके लिए होता है, यदि उनकी मंदता होती है तो बंधन थोड़े कालके लिए होता है। क्योंकि संसारी आत्माओं में

हलनचलन व क्रोधादि कषायका होना सदा ही पाया जाता है। इसलिए सर्व ही संसारी जीव अपनी हलन चलन क्रिया व कषाय के अनुसार थोड़े या बहुत कर्मों को बाधते रहते हैं। जो आत्मा मुक्ति की तरफ उद्योगी हो खाता है वह कम कर्मों को बांधता है।

संवरतत्त्व—इस तत्त्वमें यह बताया गया है कि कर्मोंके बंधन से किस तरह बचा जावे। जिन-२ कारणोंसे कर्मोंका बंध होता है उन-उन कारणो को छोड़ना सवर है, तब कर्मों का बंध रुक जायगा। मुख्य कारण कर्मों से बंध होनेके चार हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

सच्चे तत्वोंको न समझकर मिथ्या तत्वों पर श्रद्धान रखना मिथ्यात्व है। पराधीनता को अच्छा समझना और स्वाधीनता को न पहचानना मिथ्यात्व है। अतृप्तिकारी इद्रियो के विषयों को अच्छा समझना और स्वाधीन आत्मीक सुख की रुचि न करना मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा तृष्णा में लवलीन रहना अविरति है। क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव करना कषाय है। मन, वचन, काय को हिलाना योग है। यदि कोई मिथ्यात्व को त्यागकर सम्यक्त भाव पैदा कर लेगा, स्वाधीनताका सच्चा श्रद्धालु हो जायगा फिर मिथ्यात्वके दोषसे जो कर्म बधते थे उनको रोककर उनका वह सवर कर देगा।

जितना-२ पाँच हिंसादि पापोको छोड़ता जायगा उतना-२ अविरति के द्वारा जो कर्म बधते हैं उनसे बचता जायगा। साधु अवस्थामें ये पांचों पाप बिलकुल छूट जाते हैं तब वहां इसके कार-

पसे होने वाला बन्ध बिलकुल रुक जाता है। कषायोंको जितना जितना घटाया जायगा उतना-२ कषाय सम्बन्धी कर्मबंध रुक जायगा। जिस वीतरागी साधु के कषायों का प्रकाश बिलकुल नही होता वहाँ कषाय सम्बन्धी सर्व कर्म का बन्ध रुक जाता है। मन, वचन, काय का हलन चलन कर्मो के आने में मुख्य कारण है। इनके पूर्णपने रुकनेसे कर्मों का आना बिलकुल रुक जाता है।

निर्जरा तत्व—इसमे यह बताया गया है कि कर्मों का अपने समय पर फल देकर झडने मात्र से काम सिद्ध नही होता है। कर्मों का बिना फल दिये ही झड़ जाना आवश्यक है। इसका उपाय सच्चा आत्मा व सच्चा आत्मध्यान है।

मोक्षतत्व—जब यह जीव सर्व कर्मों से छूट जाता है तब परम पवित्र परमात्मा हो जाता है फिर सदा के लिए बंधरहित हो जाता है। इस तत्व को जो पालते हैं उनको सिद्ध कहते हैं। इस तरह व्यवहारनय से इन सात तत्वो का स्वरूप है। निश्चय नय से इनमे जीव और कर्मपुद्गल इन दो ही का सम्बन्ध है। कर्मपुद्गल मेरा स्वभाव नही है ऐसा जानकर उसे छोड़ निज शुद्ध आत्मा ही मैं हू ऐसा श्रद्धान करना निश्चयसे इन तत्वोका ज्ञान है। व्यवहारनय तो परद्रव्यो के आश्रय लेकर पदार्थ का विचार करता है। निश्चयनय मात्र एक ही द्रव्य के आश्रय उसका विचार करता है। व्यवहारनय से सात तत्वो का श्रद्धान व इनही का यथार्थ ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं। निश्चयनयसे शुद्ध आत्माही मैं हूँ यह श्रद्धान तथा ऐसा ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहारनयसे मुनिके या श्रावकके व्रतो को पालना सम्यक्-

चारित्र है। निश्चयनयसे अपने ही शुद्ध स्वरूप मे एकता न हो जाना सम्यग्चारित्र है। निश्चयनय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूप एक मोक्ष का मार्ग है।

श्री नेमिचंद्र सिद्धातचक्रवर्ती कहते है—

दुविह पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसंग्रह)

भावार्थ—मुनि निश्चय तथा व्यवहार दोनो ही प्रकार के मोक्ष के मार्गको आत्मध्यानमे पा लेते हैं। इसलिए तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो। जब आत्मध्यानमें एकता होती है तब निश्चय रत्नत्रयमें एकता हो ही रही है। उसी समय व्यवहार रत्न त्रय भी पल ही रहा है क्योंकि उसके भीतर सात तत्वो का सार ज्ञान व श्रद्धानमे भरा हुआ है तथा वह आत्मध्यानी हिंसादि पाँचो पापों से ध्यान के समय विरक्त है। और भी—

तवसुदवदवचेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हातत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥

भावार्थ—जो आत्मा तप का साधन करता है, शास्त्र का ज्ञाता है, वह व्रती है, वही ध्यान रूपी रथ को चला सकता है। इसलिए तप, शास्त्र, व व्रत इन तीनोंमे सदालीन रहना चाहिए जो आत्मध्यान करना चाहे उनको तप का प्रेमी होना चाहिए, संसार विषयो की कामनाएँ मेटकर निज सुखके रमन का प्रेमी होना चाहिए। जो इद्रियो के विषयों के लोलुपी हैं उनका ध्यान बड़ी कठिनता से जमता है। जैसा जैसा चित्त बाहरी भोग उपभोगों की तरफ से हटेगा वैसा वैसा आत्मध्यान कर सकेगा।

ध्यानके अभ्यासी को शास्त्रो का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन रहना चाहिए। शास्त्रो के द्वारा मनकी कुज्ञानसे बचकर सुज्ञान में दृढता प्राप्त होती है। जितना साफ व अधिक तत्वो का ज्ञान होगा। उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा इसी तरह ध्यान के अभ्यासीको व्रती भी होना चाहिए। या तो पूर्ण त्यागी साधु हो या एक देश त्यागी श्रावक गृहस्थ हो। अबिरति मे तिष्ठनेवालोके ध्यानका अभ्यास बहुत ही अल्प होता है। व्रती नियमानुसार सर्व कार्य करते हैं। इसलिए ध्यान के लिए अवश्य समयको निकाल लेते हैं।

वही आचार्य और भी कहते हैं—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सहं इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४६॥

भावार्थ—यदि चित्तको नाना प्रकारके ध्यानकी सिद्धिके लिए अपने आधीन करना चाहते हो तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थों मेमोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। ध्यान करनेवालेके मन में यह सच्चा वैराग्य अवश्य होना चाहिए कि इस लोक मे कोई पदार्थ अपना हो नही सकता। किसीको अपना मानना बडी भारी भूल है। इस प्रकार निश्चय करके अपना मोह किसी चेतन व अचेतन पदार्थपर नही रखना चाहिए। तथा ज्ञानी को आत्मीक सुखको ही सच्चा सुख मानना चाहिए। इद्रिय द्वारा पैदा होने वाले क्षणिक सुखको सुख नहीं मानना चाहिए। अज्ञानी प्राणी इंद्रियसुखके ही कारण उन चेतन व अचेतन पदार्थोसे राग करते हैं, जो विषयसुखमे मददगार हैं व जो हानि पहुंचानेवाले चेतन व अचेतन पदार्थ हैं उनसे द्वेष कर लेते हैं। ज्ञानी आत्मसुख का प्रेमी होकर न किसी से राग करता है न किसीसे द्वेष करता है।

जिसका परिणाम वैराग्य युक्तहोगा वही आत्मध्यान कर सकेगा क्योंकि ध्यान चित्तकी एकाग्रता को कहते हैं, आत्मरुचि व आत्मप्रेम ही चित्तको आत्मा में जोडनेका सच्चा व अचूक उपाय है। जैसा श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं—

यत्रैवाहितबुद्धिः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥

भावार्थ—जिस पदार्थ को बुद्धिसे निर्णय कर लिया जायगा उसी पदार्थ में श्रद्धा या रुचि जम जायगी तथा जिसमें रुचि हो जायगी उसीमे ही चित्त स्वयं लय होने लगता है व जमने लगता है। वास्तव में ध्यान के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमको आत्मद्रव्यका, आत्म के गुणों का तथा आत्माकी पर्यायोंका विश्वास हो। हमको यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि जैसा पानी मिट्टीसे जुदा निर्मल है वैसा मेरा आत्मा आठ कर्ममल, शरीर व रागादि भाव मलोंसे दूर, परमनिर्मल सिद्ध भगवानके समान मात्र एक ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परमवीतराग आनन्दमई पदार्थ है। मैं वास्तवमे ऐसा ही हूं। इसी निश्चय सहित ज्ञान में चित्त को रोकना आत्मध्यान कहलाता है।

साधारण उपाय ध्यान करनेका यह है कि हम एकांत स्थान मे जहाँ कोलाहल न हो जाकर बैठजावे और थोड़ी देर निश्चिन्त हो जावें, सब कामों से फुरसत कर लेवें और अपने आत्माको निर्मल जलके समान देखें। जैसे घड़े में जल भरा होता है वैसे अपने शरीर में पुरुषाकार अपने आत्मा को देखें, चुपचाप देखते रहें और अपने मनको उस आत्मरूपी जल में डुबा दे।

जब चित्त हटने लगे तब नीचे लिखे मंत्रोमें से किसी मत्र को जपने लगे। बीच बीच में मंत्र के अर्थको भी विचारने लगें फिर अपने मनको उसी आत्मरूपी जलमें डुबो देवें। इस तरह बार बार अभ्यास करनेसे हमारा ध्यान और सब बातोसे हटकर एक आत्मा पर ही रुक जायगा, बहुत कालके अभ्यास में विरक्तता बढ़ती जांयगी। जैसा कहा है–

सोहमित्यात्तसंस्कारः तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभतेह्यात्मनि स्थितिम्॥

भावार्थ—मैं शुद्धात्मा हूं इस तरह बार बार विचार करता हुआ जब ऐसा सस्कार होजाता है तब उसीमें बारबार भावना करने से और भी दृढ़ हो जाता है फिर यह अभ्यासी निश्चय से आत्मामें थिरता प्राप्त कर लेता है।

द्रव्य सग्रह में नोचे लिखे खास मत्र जपके लिए बताये हैं—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

भावार्थ—श्री अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाच परमपदके धारी पंचपरमेष्ठीको बताने वाले नीचे लिखे मंत्रोंको व गुरुके उपदेश से और भो मंत्रों को जपे तथा ध्यावे।

(१) णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। ३५ अक्षरी मंत्र।

(२) अर्हत्सिद्धचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।
१६ अक्षरी मत्र।

(३) अरहंत सिद्ध=६ अक्षरी मंत्र।

(४) अ सि आ उ सा=५ अक्षरी मंत्र।
(५) अरहंत=४ अक्षरी मत्र।
(६) सिद्ध, सोहं, ॐ ह्री=२ अक्षरी मंत्र।
(७) ॐ=१ अक्षरी मंत्र।
अ (अरहंत)+अ (अशरीर या सिद्ध)+आ (आचार्य)+उ (उपाध्याय)+म् (मुनि या साधु) ओम् या ॐ।

****

ध्यान के लिए विशेष विचार

(१) **काल का विचार**—ध्यान करनेके लिए प्रातः काल, मध्याह्नकाल व सायकाल तीन समय ठीक है। छ छ. घडी हर समय ध्यान का समय है। जब सवेरा हो उससे तीन घडी पहले से तीन घड़ी बाद तक, दोपहरको तीन घड़ी पहले से तीन घड़ी बाद तक, सध्या को तीन घडी पहले से तीन घड़ी बाद तक। एक घडी २४ मिनट की होती है इसलिए छ: घड़ी २ घटे २४ मिनट की हुई। यदि ध्यान छ. घड़ी करना हो तो इस तरह बर्ते। यदि ४ घड़ी ही ध्यान करना हो तो दो घडी इधर से दो घड़ी उधर तक लेले। यदि २ घडी ही करना हो तो १ घड़ी पहले से १ घडी बाद तक ले। यह उत्तम विधि है। मध्यम यह है कि यदि छ घड़ी से कम करना हो तो यह ध्यान मे रक्खे कि सूर्योदय, मध्याह्न व सध्या के समय ध्यान मे बैठा हो। जघन्य यह है कि दो घडी या कुछ अधिक करनाहो तो हर तीन समयों मे छ घडी के समय के भीतर ध्यान कर डालें। इसके सिवाय रात्रि को भी बारह बजे या अन्य किसी भी समय ध्यान किया जा सकता है।

(२) **स्थान का विचार**—ध्यान करने के लिए स्थान ऐसा होना चाहिए जहां क्षोभ न हो, कोलाहल न हो, दुष्ट लोगों का, वेश्याओं का, स्त्रियो का, नपुसको का आना जाना न हो। आस पास गाना-बजाना न होता हो, दुर्गंध न आती हो, न बहुत गर्मी हो, न सरदी हो, न जानवरों का भय हो, न डांस मच्छरों का अधिक संचार हो, ऐसा योग्य व निराकुल स्थान ध्यान के लिए तलाश कर लेना चाहिए। ध्यान करते हुए विघ्न न हो ऐसा स्थान ढूंढना उचित है। मुख्य व उत्तम स्थान नीचे प्रकार हो सकते हैं—(१)सिद्धक्षेत्र, (२)तीर्थंकरोके पंचकल्याणकके स्थान, (३) समुद्र का तट, (४) वन, (५) पर्वत का शिखर, (६) नदी तट, (७) नगर के बाहर कोट पर, (८) नदियो के संगम पर, (९) जलके मध्य द्वीप या भूमि पर, (१०) पुराना वन, (११) स्मशान के निकट, (१२) पर्वत की गुफा, (१३) जिन मन्दिर, (१४) शून्य घर, (१५) पृथ्वी की तलहटी, (१६) वृक्षों का समूह इत्यादि। जैसा कहा है—

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८॥

भावार्थ—जिस स्थान में रागादि दोष शीघ्र ही दूर हो जावें वही बैठना उचित है—ध्यान के समय मे तो विशेष करके वहीं बैठें।

(३) **संथारे का विचार**—निराकुल स्थान पर चटाई का आसन पाटा, पाषाण की शिला आदि पर या मात्र भूमि पर ही ध्यान करे। जैसा कहा हैं—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९॥

भावार्थ—धीरवीर समाधि की सिद्धि के लिए काष्ठ का तख्ता, शिला, बालुरेतका स्थान या भूमि इनमेंसे किसी में भले प्रकार स्थिर आसन जमावे।

(४) आसन का विचार—

आसन शरीर को जमाकर रखता है इसलिए किसी न किसी आसन से बैठकर या खड़े होकर ध्यान करना चाहिए। कहा है—

पर्यंकमर्द्धपर्यंकवज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥
येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११॥
कायोत्सर्गश्च पर्यंङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१२॥

भावार्थ—पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ध्यानके योग्य आसन माने हैं। जिस किसी आसन से ध्यानी अपने मनको स्थिर कर सके उसी सुन्दर आसनको ले लेना चाहिए। इस समय काल दोष से शक्ति कम होने से कायोत्सर्ग और पर्यंक इन-२ आसनों को ठीक कहा है—

आसन जमाने से मन स्थिर हो जाता है। कहा है—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०॥
वातातपतुषाराद्यैर्जंतुजातैरनेकशः।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥३२॥

भावार्थ—इन्द्रियों को जीतने वाला योगी आसन को जीते। जिनका आसन स्थिर होता है उनको ध्यान करते हुए खेद नहीं

होता है। आसन को जीतने वाला योगी पवन धूप, पाला आदि से तथा पशुओं से अनेक तरह पीड़ित किये जाने पर भी खेद नहीं मानता है।

जो पवन पर्वतों को उड़ा दे ऐसे पवन के चलने पर आसनसे बैठा हुवा कभी नहीं डिगता है। शरीरको स्थिर रखने का बड़ा सुन्दर उपाय आसन का जीतना है।

सीधे बैठना, अपने दोनों चरणों को एक दूसरे की जाँघ के ऊपर रखना, दोनों हाथ गोद में रखना, बाएँ हाथ के ऊपर दाहना रखना, आंखें निश्चल रहें, उनकी सीध नाशिका के अग्र भाग पर हो। इसका मतलब यह नही है कि नाककी नोक को देखे परन्तु यदि कोई देखे तो मालूम पडे कि दृष्टि नाककी सीध पर है, दोनो होठ न बहुत खुले हों न मिले हों मन बड़ा प्रसन्न हो, इस आसन को लौकिक में पद्मासन कहते हैं। जैसे उत्तर हिन्दुस्तान में दि० जैन मन्दिरो मे प्रतिमा का आसन होता है। जहाँ एक पग जांघके नीचे व दाहना पग जांघके ऊपर रहे, शेष सब बातें पद्मासन के समान हों उसको अर्द्ध पद्मासन कहते हैं। दक्षिण में इस आसन में मूर्तिया मिलती हैं। वहां इस ही को पल्यकासन कहते हैं। जैनबद्री के दौर्बलि जिनदास शास्त्री ने पद्मासन, पल्यंकासन व कायोत्सर्ग के श्लोक इस प्रकार लिखाए थे—

समपादौ क्षितौ स्थित्वा चोर्ध्वजानुगतौ करौ।
प्रसार्य्य ऋजुमूर्तिः स्यात् दण्डासनमितीरितं॥

भावार्थ—जहां पैरों को बराबर जमीन पर जमाया जावे, आगेके (एक दूसरेसे चार अंगुल की दूरी रहे) अपने दोनो हाथ

लटके हुए जघा तक चले आवें व सीधी मूर्तिरूप खडा रहे उसको दण्डासन व कायोत्सर्ग आसन कहा गया है

उत्तानवामचरणं दक्षिणोर्णि विन्यसेत् ।
उत्तानयाम्यचरणं वामोर्णि निवेसयेत् ।।
तन्मध्याधोर्ध्वगोत्तानवामवामेतरौ करौ ।
स्थित्वा निश्चलयोगेन नासाग्रमवलोकयेत् ।।
इदं पद्मासनं प्राहुः मुख्यं पूजादिकर्मसु ।

भावार्थ—बाएँ चरण को उठाकर दाहिनी जांघ पर रक्खे व दाहने चरण को उठाकर बाईं जाघ पर धरे, उनके मध्य में नीचे बायाँ हाथ रखके ऊपर दाहना हाथ रक्खे तथा निश्चल बैठे और नासाग्र दृष्टि हो सो पद्मासन कहा गया है। पूजा आदि कार्यों मे यह मुख्य है।

वामपादस्य गुल्फेन याम्यपदगुल्फकं न्यसेत्,
तस्योर्ध्वाधः स्थितोत्तानयामोत्तरकरोपरे ।
वामोत्तरं करं स्थित्वा नासाग्रमवलोकयेत्,
पल्यंकासनमित्याहुः सर्वपापनिवारणं ।।

भावार्थ—बाएँ पैर की गुल्फ या टोहनी के साथ मिलाकर दाहने पैर की टोहनी को बाएँ पगकी जाघ पर रक्खे फिर गोदमें बाएँ हाथके ऊपर दाहना हाथ रक्खे। नासाग्र देखे सो पल्यंकासन सर्व पाप दूर करने वाला है।

मल्लिषेण कृत विद्यानुवाद मन्त्र शास्त्र मे लेख है कि २४ तीर्थंकर पल्यकासन तथा कायोत्सर्गासनसे मोक्ष गए। जैसे—

ऋषभस्य वासपूज्यस्य नेमेः पल्यकबध्नता ।
कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनां ।।

अर्थात् ऋषभदेव, वासपूज्य तथा नेमिनाथ तो पल्यंकासनसे मोक्ष गए शेष २१ जिन कायोत्सर्ग से मोक्ष गए।

इस काल में ध्यान करने वालेको पद्मासन, पल्यकासन तथा कायोत्सर्ग इन तीन आसनोंको काम में लेना चाहिए तथा किसी एक आसन का खूब अभ्यास कर लेना चाहिए। आसन ऐसा जमावे किदेखने वाले को चित्राम सा मालूम हो।

पंडित जयचन्दजी कहते हैं—

आसन दिढ़तें ध्यान में, मन लागै इकतान।
तातें आसन योगकूं, मुनि कर धारैं ध्यान॥

ध्यान समायिक के साथ करना उचित है।

सामायिक की विधि

यह विधि सामान्य व सुगम लिखी जाती है जिसको हर॰ एक समझकर अभ्यासमे ला सकती है।

पहले ही मनको ओर कामोंमें हटाकर स्वस्थ करले, बचन के बोलने की व कायसे अन्य काम करने को इच्छा को रोकले व शरीर को अशुचि व गदगीसे साफ करले। पवित्र वस्त्र जितने कम पहने उतना ठीक है। जिसमे शरदी गर्मी की बाधा न हो ऐसा होकर मन वचन काय शुद्धकर ठीक समय पर अर्थात् प्रातः काल, मध्यान्ह या सायकाल एकान्त निराकुल स्थान में जाकर किसी आसनको बिछाकर या भूमिमें ही पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके खडा हो क्योंकि अभ्यासी के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ होकर ध्यान करना शास्त्र मे कहा है। यद्यपि अन्य दिशा में भी ध्यान का सर्वथा निषेध नही है। जैसा ज्ञानार्णव के इन श्लोकों से सिद्ध होता है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते॥

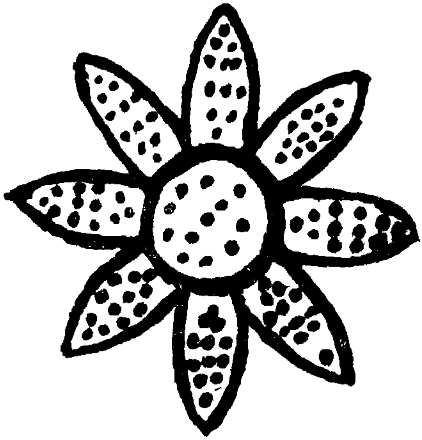
चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ।।

भावार्थ—ध्यानके समय ध्याता को प्रसन्नमुख रखकर पूर्व या उत्तरको मुख करना चाहिए, यह प्रशंशनीय है तथापि ज्ञान और चारित्रके धारी, जितेन्द्रिय, मानादि रहित ऐसे साधु पूर्व-कालमे अनेक अवस्थाओं से मोक्ष गए हैं, उनके दिशा का नियम नही था। पहले हाथ लटकाए हुए नौ दफे णमोकार मंत्र अपने मनमें पढ़े, फिर मस्तक भूमिमे लगाकर नमस्कार करे। तब मन मे यह प्रतिज्ञा करले कि जबतक इस आसनसे नही हटूगा तबतक या इतने समय तक सर्व अन्य परिग्रहका त्याग है, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय तथा चारों तरफ एक-२ गज भूमिको रख-कर सब भूमिको भी त्यागता हूँ। फिर कायोत्सर्ग खडा होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मत्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। दोनों हाथ जोडकर अपने बाएँसे दाहनी तरफ तीन दफे घुमावे। फिर उन जोड़े हुए हाथो पर अपना मस्तक झुकावे। इसका प्रयोजन यह है कि इस तरफ जितने बंदनीय तीर्थ व धर्मस्थान व अरहन्त व साधु आदि हैं उनको मन, वचन, काय तीनो से नमस्कार करता हूँ। फिर अपने दाहने खडा-खडा हाथ लटकाए हुए मुड जावे। इधर भी नौ या तीन दफे णमोकार मत्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरो-नति करे, फिर पीछे, फिर चौथी तरफ, इसी तरह करे। पश्चात् जिधर पहले मुख करके खडा हुआ था उधर ही आकर बैठ जावे। पद्मासन, पल्यकासन जमाले या कायोत्सर्ग ही रहे। सबसे पहले सामायिक पाठ मनमें अर्थ विचार करता हुआ

मंदस्वरसे पढ़ जावे। पाठ पढ़नेसे मन सब तरफसे खिच आवेगा व तत्वकी भावना हो आवेगी। इस पुस्तक में १२० श्लोकों का बड़ा सामायिक पाठ है, जो थिरता हो तो इसीको पढ़ जावे। अर्थ समझ सके तो सस्कृत मात्र पढे नही तो हरएक श्लोक मे भाषा छन्द दिए हुए हैं उन १२० भाषा छन्दोको पढ़ जावे। यदि थिरता न हो तो छोटा सामायिक पाठ बत्तीस श्लोको का पढ़े जो इस पुस्तकके अन्तमें सस्कृत और उनके भाषा छन्द सहित दिया हुआ है। फिर णमोकार मन्त्र की या अन्य किसी मत्रकी जाप १०८ बार एक दफे या कई दफे जपे। जाप जपवे को माला भी दाहने हाथमे ले सकता है जिसको अंगूठेके पासकी उंगली पर लटकावे व मत्र एक-एक दाने पर पढ़ता हुआ अंगूठे से सरकाता जावे या हाथकी अगुलियो से ही जप सकता है। एक हाथमे १२ खाने हैं उनको पूर्णकर दूसरे हाथ के एक खाने पर अगूठा रखता रहे, इस तरह जब बाएँ हाथके नौ खाने पूरे हो जावे तब एक जाप हो जावे। जप करते हुए हाथो को फैलाकर काममें ले सकता है। तीसरी रीति जप करने की यह भी है कि एक कमल आठ पत्तेका हृदयस्थान मे बनाले, हरएक पत्ते पर बारह बिन्दु रखले, बीचमे भी घेरे मे बारह बिन्दु रखले तब १०८ बिन्दुओं का कमल हो गया। अब एक-एक पत्ते को लेता हुआ बाईं तरफसे दाहिनी तरफ जपता हुआ आवे या पहले पूर्व दिशा के पत्तेके १२ बिन्दु पर १२ दफे मत्र जप जावे फिर पश्चिमके पत्ते पर, फिर दक्षिणके, फिर उत्तरके पत्ते पर जपकर पूर्व दक्षिण के कोनेके पत्तेको जपे, फिर दक्षिण पश्चिम के, फिर पश्चिम उत्तरके, फिर उत्तर पूर्वके पत्ते पर, फिर बीचके बारह

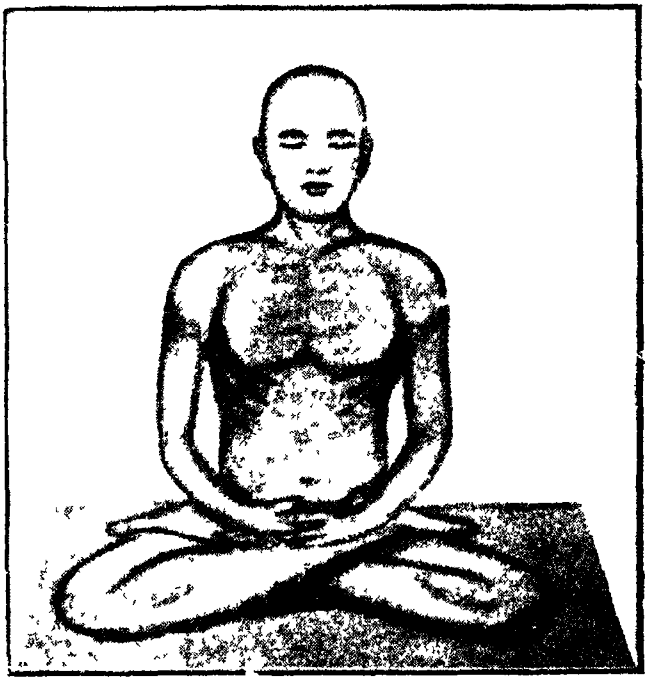
बिन्दुओं पर जप जावे। यह मनकी जाप चित्तको अधिक एकाग्र रखने वाली है।

कमल की जाप का चित्र



जापके पीछे ध्यानका अभ्यास करे, सुगम रीति यह है कि अपने शरीर को एक घडा माने और अपने आत्मा को निर्मल गगाजल माने और उसमे मनको बार-बार डुबाने का अभ्यास करे। जब मन हटे तब ॐ या सोह या अहँ या सिद्ध ऐसा कोई मन्त्र जपले या आत्मा के शुद्ध गुणो का चिन्तवन करले, ऐसे बारबार मनको डुबानेका अभ्यास करे। दूसरी रीति अनेक हैं। श्री ज्ञानार्णवजी में चार प्रकार ध्यान बताया है इनमें से किसी एक रीतिको लेकर ध्यान करे। वे चार प्रकार ध्यान हैं—(१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान, (४) रूपातीत ध्यान।

इसका वर्णन आगे देते हैं। जब ध्यान कर चुके तब फिर कायोत्सर्ग खड़ा हो जावे या खडा हो तो वैसे ही नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़े और अतिम दंडवत करके सामायिक विधिको पूर्ण करे।



एकांत-सेवन विचार

एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही मेरा धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है। लेकिन वह अनादि कर्म बन्धन के कारण से चतुर्गति रूप संसार मे भ्रमण करता हुआ अनंत काल अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है इसलिए इसको परपदार्थों से भिन्न अनन्त दर्शन ज्ञानमयी सच्चिदानंदरूप सम्यग्दर्शन है, और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है, और जो स्वरूप में लीन हो जाना सो सम्यकचारित्र है इसलिए निश्चय से मेरा धर्म आत्म-स्वरूप है। इसको बिना पहिचाने मेरा निस्तारा नहीं होगा।



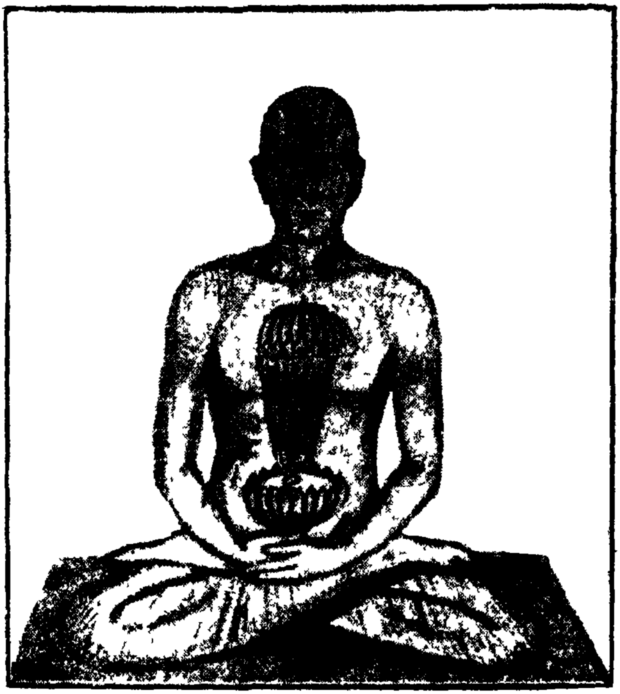
पृथ्वी धारणा ।

मै एकांत मे बैठ कर विचारता हू कि यह संसार समुद्र के समान जीवों से भरा है। समुद्र जल से भरा है। उसमे १००० पत्तों का कमल है। बीच में सुमेरु पर्वत समान मेरु है। उसके ऊपर एक चौकी विराजमान है। उस पर बैठा हूं और विचारता हूं कि सब सासारिक झगड़ों से बच कर इस शरीर पुद्गल से शुद्ध होने का उपाय करू ताकि भव-भ्रमण से छूट जाऊं।



अग्नि धारणा ।

जो नाभि-कमल है उसके बीच में अग्नि विराजमान है। इसकी रेफ से ज्ञानमई अग्नि निकलकर कर्मरूपी कमल को जलाने लगी है। इस समय शांत भाव से मन को इसी में जोड़े रहना चाहिए, और स्वाहा स्वाहा बोलते रहना चाहिए।



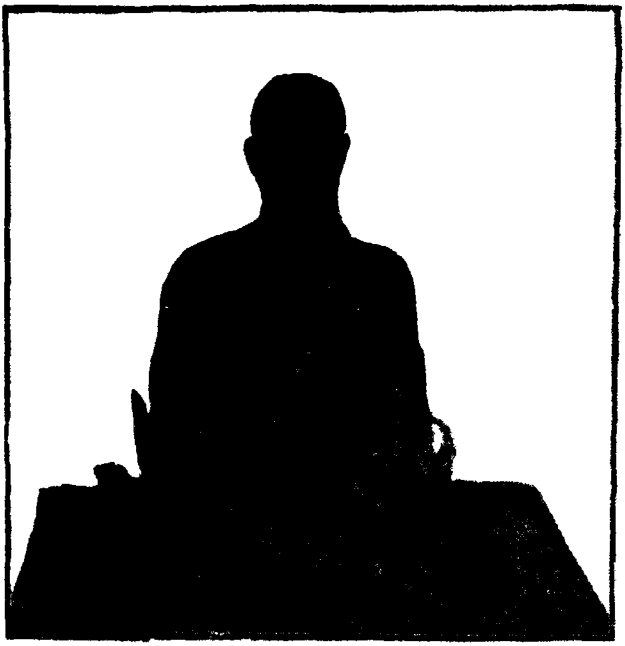
अग्नि विस्तार।

कर्मरूपी कमल को जलाती हुई अग्नि मस्तक पर जाकर तीन भाग होकर शरीर के चारों तरफ जलने लगी है। मस्तक पर और जंघाओं पर ॐ विराजमान कर विचारे की तीनों जगह से अग्नि प्रज्वलित हो रही है।



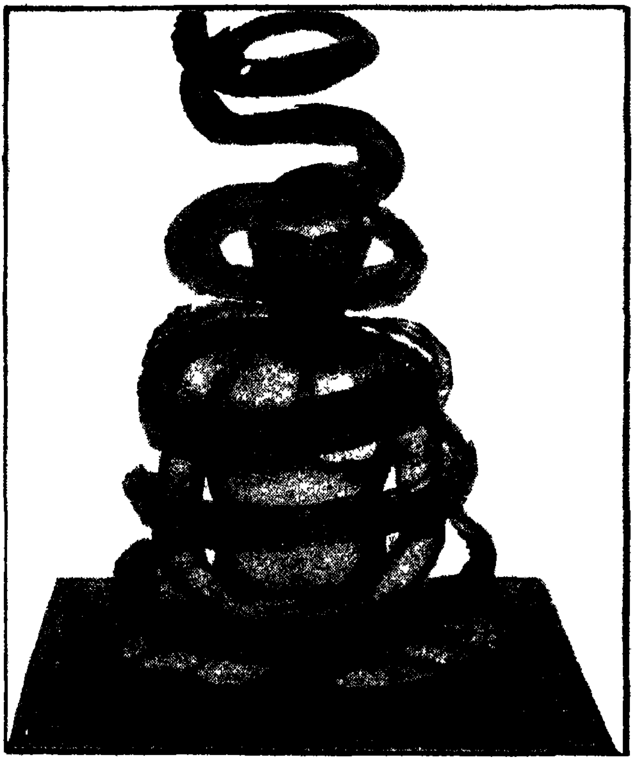
पूर्ण अग्नि

अन्दर की अग्नि ने कर्मरूपी कमल को भस्म कर दिया। जो शरीररूपी पुद्गल है उसको बाहर की अग्नि भस्म कर रही है। आत्मा शांत भाव से ध्यान में लीन है।



शरीर रूपी खाख की ढेरी ।

कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्गल को ज्ञानमई अग्नि ने भस्म कर दिया है। आत्मा शरीर रूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए।



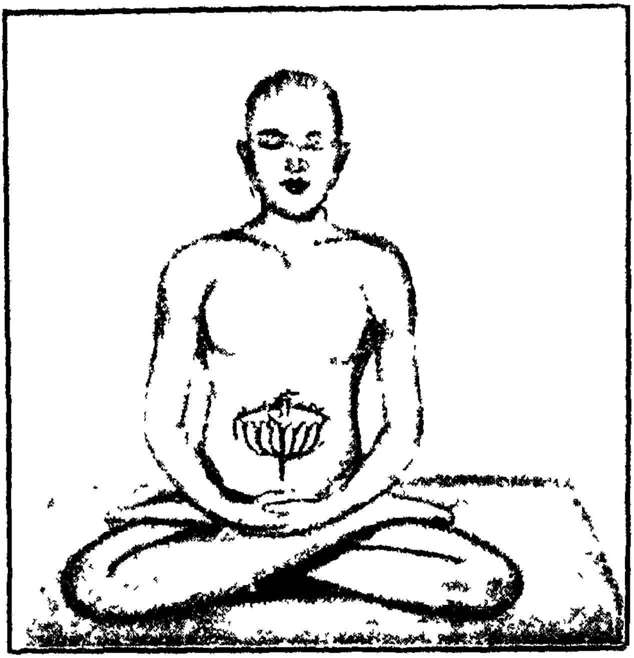
वायु धारणा ।

ज्ञानमई आत्मा विचारती है कि वायु वेग से चल रही है। शरीर रूपी भस्म को उड़ा रही है, और शरीर-प्रमाण आत्मा शांत बैठा है।



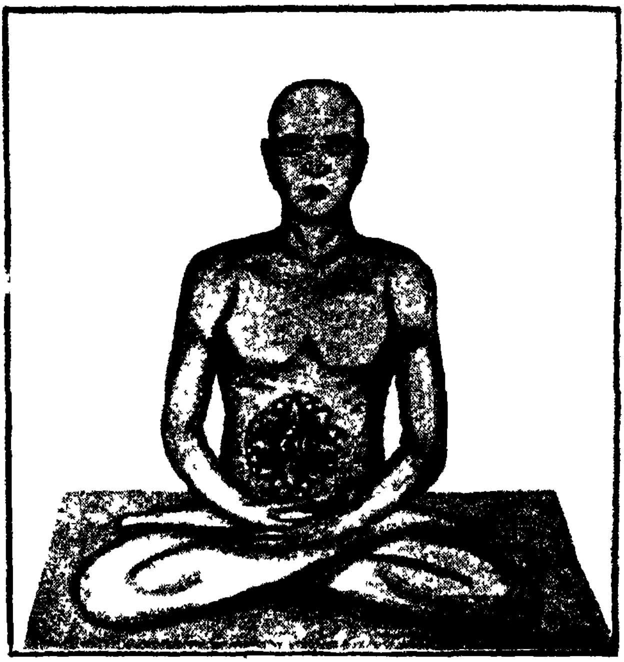
जल धारणा ।

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि चारों तरफ बादल घिर आये है। पानी वेग से गिर रहा है। जो कुछ कर्म रूपी और शरीर रूपी रज आत्मा मे है उसको धोकर साफ कर रहा है। आत्मा शांत ध्यान मे मग्न है।



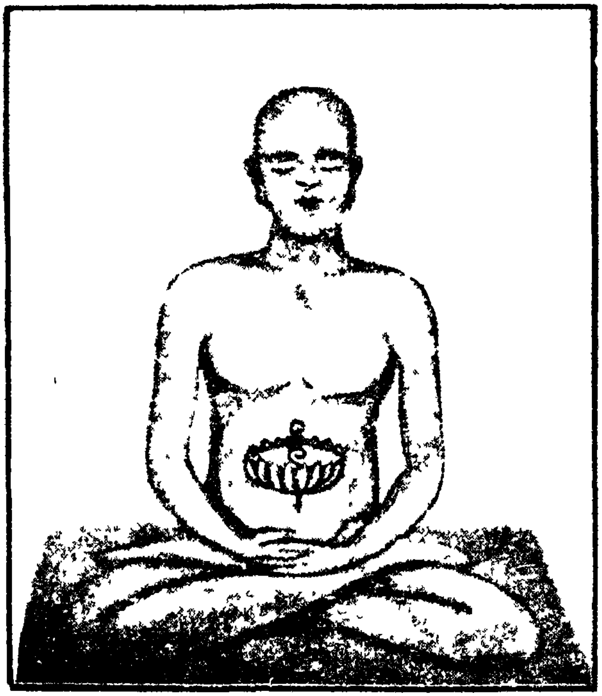
कमल धारणा ।

मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूं कि मेरे नाभि-स्थान पर सोलह पत्तों का श्वेत रंग का कमल खिला हुआ है, जो बहुत विस्तार में फैला है, तथा जो शुद्ध और साफ है । मैं अपनी ज्ञान दृष्टि उस पर जमा कर देखता हूं ।



बिन्दु धारणा ।

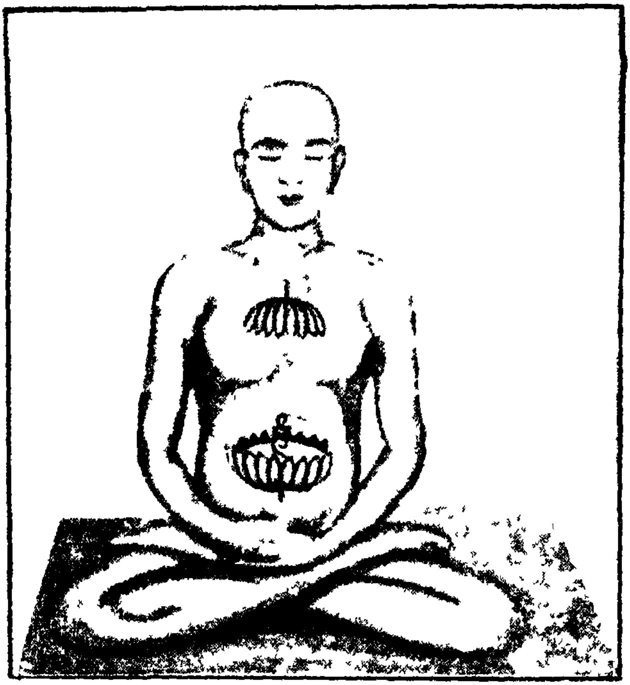
मेरे नाभि-कमल मे जो खिले हुए पत्ते हैं उनमें हर एक पत्ते पर पीत्त रंग के बिन्दु हैं, जो हर एक पत्ते पर बारह-२ हैं। बीच के भाग में भी १२ हैं, और बीच में ह्रीं अक्षर है। वही मूल मैं हूं। मैं बिन्दु के ऊपर दृष्टि रख कर जप करता हूं। मेरा मन्त्र है स्वाहा-२।



ह्रैं ।

जो नाभि-कमल में विराजमान है. वो प्रकाशमान चमक रहा है। मै उसी में अपने मन को रोकता हूं। और विचारता हूं कि शरीर भर मे प्रकाश हो रहा है।

•



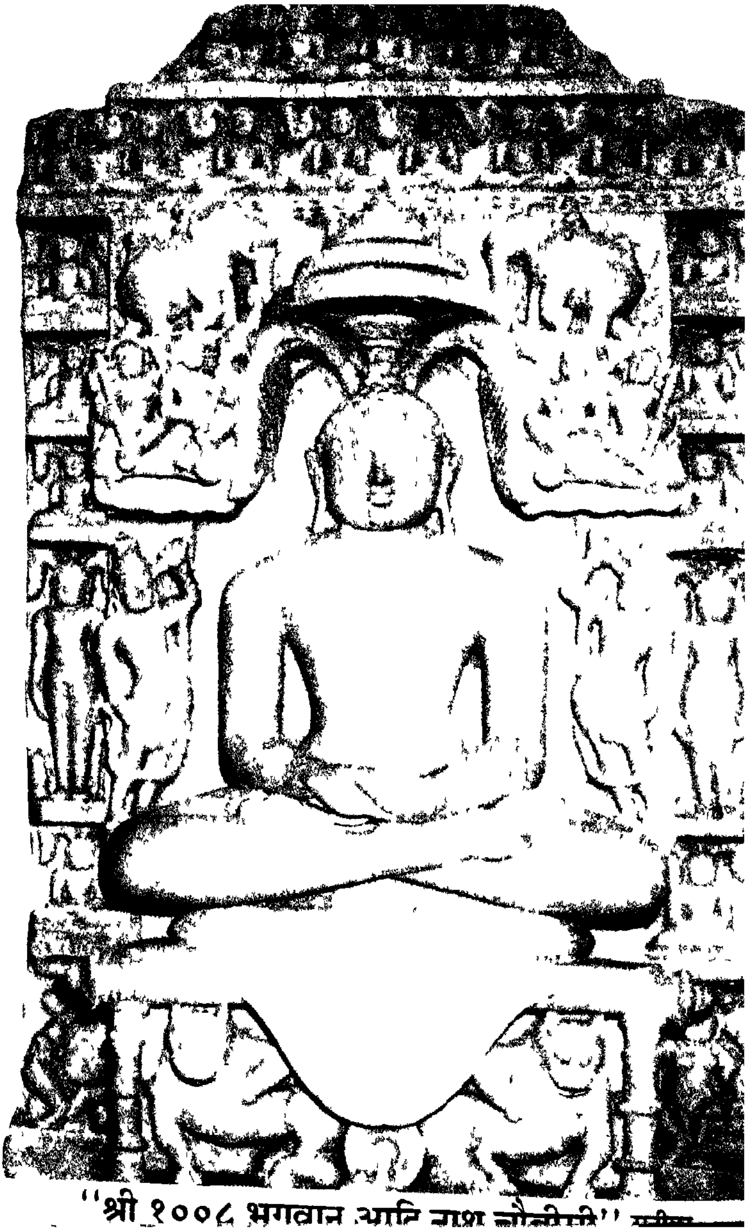
कर्मरूपी कमल।

मेरी आत्मा के संग आठ कर्म अनंत काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढाकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान में स्थापन कर भावना रूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हूं।

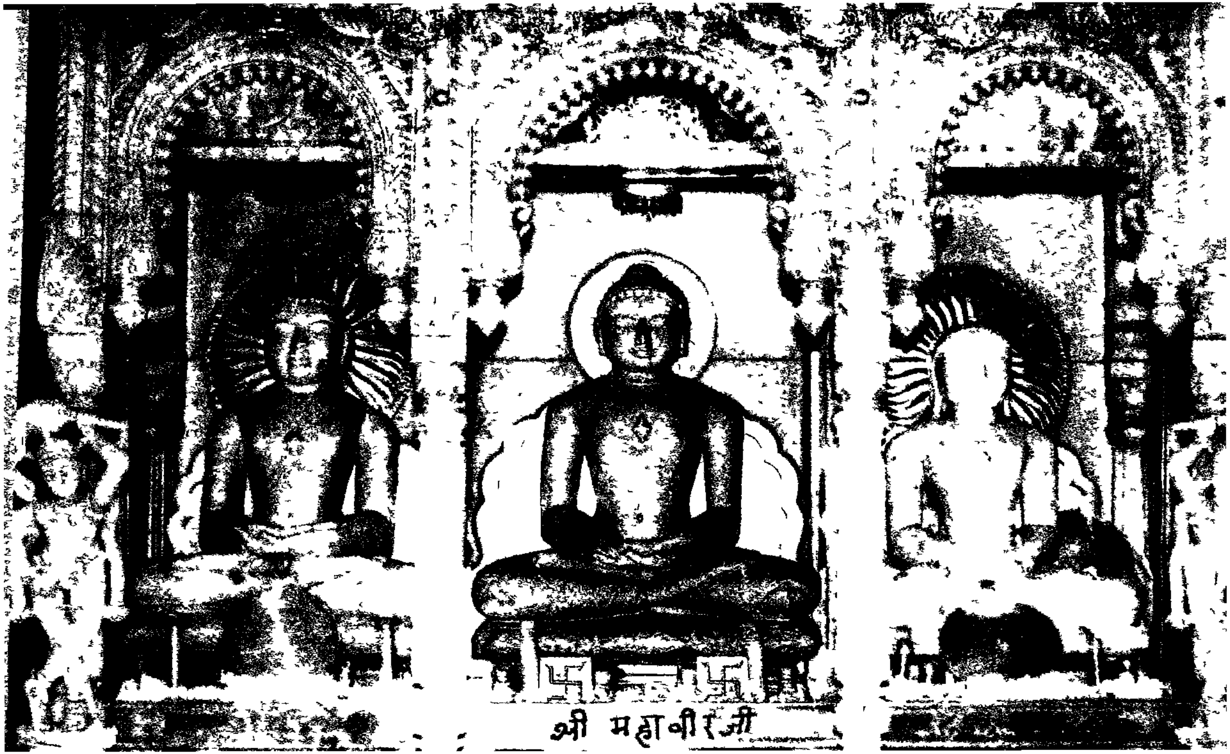


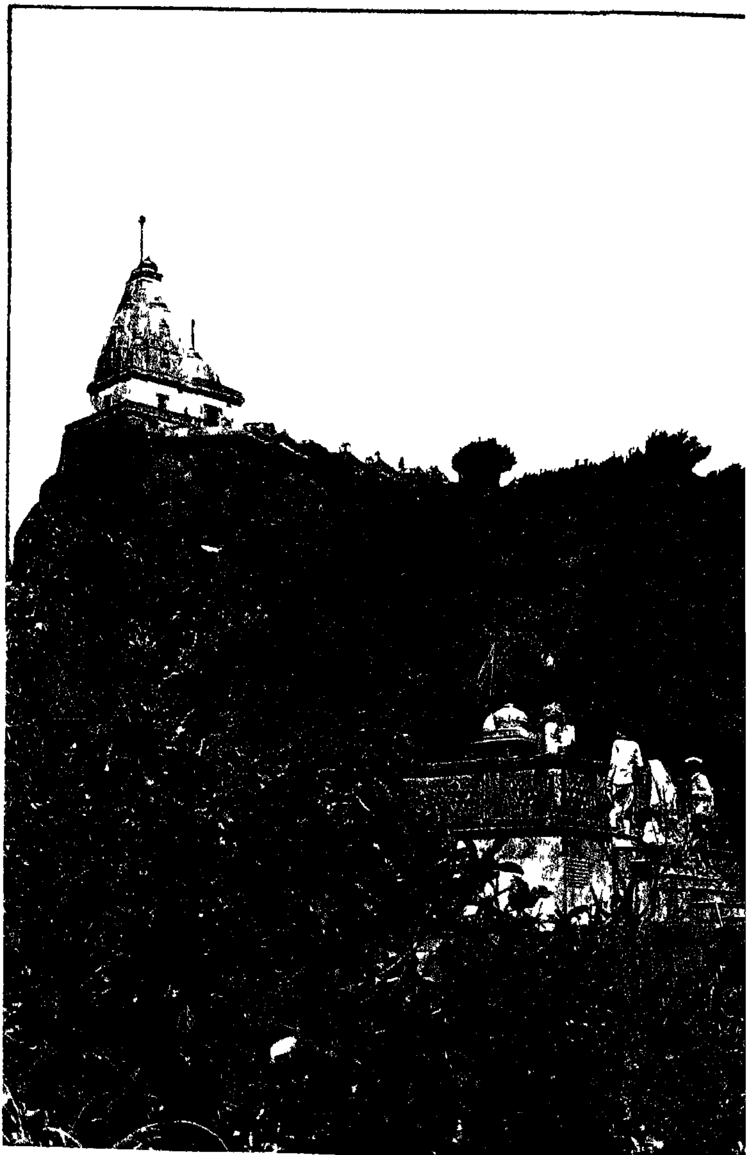
शुद्ध भावना

ज्ञानी आत्मा विचारता है। कि आत्मा के जो अनादि काल से आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि लगे हैं, और उन्हीं के कारण अनेक शरीर धारण कर भटक रहा था, वे सब जल कर भस्म हो गए हैं। और शुद्ध जल से धोकर आत्मा साफ हो गया है। अब मैं शुद्ध निर्विकार आत्मा स्फटिक के समान हूं। मैं उसी में मग्न हूं।



''श्री १००८ भगवान आदि नाथ चौबीसी''


श्री महावीर जी



श्री पारस नाथ टौंक शिखर जी

(१) पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप

पिंड 'शरीर को कहते हैं इसमें स्थित जो आत्मा उसको पिंडस्थ कहते हैं, उस आत्मा का ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिए पाँच धारणायें बताई गई हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) श्वसना या वायु, (४) वारुणी या जल, (५) तत्त्वरूपवती। इनको क्रम-२ से अभ्यास मे लावें।

(१) पार्थिवी धारणा का स्वरूप।

इस मध्य लोक को क्षीर समुद्र समान निर्मल जल से भरा हुआ चिन्तवन करे, उसके बीच में जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन चौडा एक हजार पत्तो को रखने वाला ताए हुए सुवर्णके समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमल के बीच में कर्णिका के समान सुवर्ण के पीले रग का सुमेरु पर्वत चिन्तवन करे, उसके ऊपर पाण्डुक वन मे पाण्डुक शिला पर स्फटिकका सफेद सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिए बैठा हू कि मैं अपने कर्मों को जला डालूं और आत्मा को पवित्र कर डालू। इतना चितवन वार-२ करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा।

फिर वही सुमेरु पर्वत के ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपने नाभिके भीतरके स्थान मे ऊपर हृदय की तरफको उठा हुआ व फैला हुआ सोलह पत्तो का कमल सफेद वर्ण का विचार करे और उसके हर एक पत्ते पर पीत रंग के सोलह स्वर लिखे हुए सोचे। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इस

कमलके मध्य में जो कर्णिका सफेद रंग की है उसपर पीले रग का हूँ अक्षर लिखा हुआ सोचे। दूसरा कमल ठीक इस कमल के ऊपर औंधा नीचे की तरफ मुख किए हुए आठ पत्तोंका फैला हुआ विचार करे। इसको कुछ मटीले रग का सोचे, इसके हर एक पत्ते पर काले रग के लिखे हुए आठ कर्म सोचे—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयु कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म।

फिर नाभिके कमल के बीच मे जो हूँ लिखा है उसके रेफसे धुआँ निकलता विचारे, फिर अग्निकी शिखा होती हुई सोचे। यह अग्नि की लौ बढ़ती हुई ऊपरको आवे और आठ कर्मोंके कमल को जलाने लगे ऐसे सोचे। फिर यह अग्निकी लौ कमलके मध्य में छदकर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर बाईं तरफ एक दाहिनी तरफ आ आवे फिर नीचे की तरफ आकर दोनों कोनों को मिलाकर एक अग्निमई लकीर बन जावे अर्थात् अपने शरीर के बाहर तीन कोनका अग्निमडल हो गया ऐसा सोचे। आगकी लकीरो का त्रिकोण (triangle) बन गया ऐसा विचारे।

इसकी तीनो लकीरो मे र र र र अग्निमय लिखा हुआ विचारे अर्थात तीनो तरफ र र अक्षरो से ही यह अग्नि मंडल बना है ऐसा सोचे। फिर इस त्रिकोण के बाहर तीनो कोनो पर स्वस्तिक (साथिया) अग्निमय लिखा हुआ व भीतर तीन कोनो में हर एक पर ॐ र्ं ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर सोचे कि भीतर तो आठ कर्मोंको और बाहर इस शरीर को यह अग्निमडल जला रहा है। जलते-२ राख हो जाकर सर्व शरीर व कर्म राख हो गए तब अग्नि धीरे-२ शांत हो गई, इतना विचारना आग्नेयी धारणा है।

(३) श्वसना या वायुधारणा

फिर वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि चारों तरफ बड़े ओर से निर्मल पवन बह रही है व मेरे चारो तरफ वायु ने एक मंडल गोल बना लिया है, उस मडलमे आठ जगह घेरेमे 'स्वाय स्वाय' सफेद रंग का लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीर की राख को उडा रही है व आत्मा को साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणा

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाश मे मेघो के समूह आगए, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोर से पानी बरसने लगा। अपने को बीच मे बैठा विचारे, अपने ऊपर अर्ध चन्द्राकार पानी का मण्डल विचारे तथा प प प प जल के बीजाक्षर से लिखा हुआ चिन्तवन करे और यह सोचे कि यह जल मेरे आत्मापर लगे हुए धूलको साफ कर रहा है—आत्मा बिलकुल पवित्र हो रहा है।

(५) तत्वरूपवती धारणा

फिर वही ध्यानी चिंतवन करे कि अब मैं सिद्धसम सर्वज्ञ वीतराग परम निर्मल कर्म व शरीररहित मात्र चैतन्यात्मा हूं, पुरस्कार चैतन्य धातुकी बनी शुद्ध मूर्ति के समान हू, पूर्ण चन्द्रमाके समान ज्योतिरूप देदीप्यमान हू।

यह पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप है। इनमेसे हरएक धारणाका क्रमसे अभ्यास करे। जब पाँचो का अभ्यास हो जावे तब हर दफे जब ध्यान करे तब इन पाँचो धारणाओ के द्वारा पिंडस्थ ध्यान को करे। अन्त मे देर तक शुद्ध आत्मा का अनुभव करे। यह ध्यान वास्तव मे कर्मों को जलाता है और आत्मीक आनन्द का

दश स्थान—(१) मस्तक, (२) ललाट या माथा, (३) कान, (४) नेत्र, (५) नाककी नोक, (६) दोनो भौंहोका मध्य भाग, (७) मुख, (८) तालु, (९) हृदय, (१०) नाभि।

(४) णमोकार मन्त्र

हृदयस्थान में चंद्रमाके समान चमकता हुआ आठ पत्रों का कमल विचारे। उसके मध्यके कर्णिका के स्थान में "णमो अरहंताण" को चमकता हुआ ध्यावे। फिर चार दिशाओके चार पत्रों पर पूर्व पर "णमो सिद्धाणं" पश्चिम पर "णमो आइरियाणं" उत्तर को तरफ "णमो उवज्झायाण" और दक्षिण की तरफ "णमो लोए सव्वसाहुणं" विराजमान करके क्रमसे ध्यावे। फिर चार कोणोंके पत्तो पर क्रमसे "सम्यग्दर्शनाय नमः" "सम्यग्ज्ञानाय नमः" "सम्यक्चारित्राय नमः" "सम्यग्तपसे नमः" इन चार पदोंको ध्यावे। नौ पत्तों को क्रमवार बदलता हुआ ध्यान करता रहे। बीच-२ मे स्वरूप चिन्तवन करता रहे।

(५) पच परमेष्ठी ध्यान

अ, सि, आ उ, सा, ये पाँच अक्षर पाच परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षर हैं, इनको चंद्रमाके समान चमकता हुआ पांच स्थानो पर पाँच कमलो के मध्य मे स्थित ध्यावे।

(१) नाभिकमल के मध्य मे अ।
(२) मस्तक के कमल मे सि।
(३) कण्ठ के कमल पर आ।
(४) हृदय के कमल पर उ।
(५) मुख के कमल पर सा।

इस पदस्थ ध्यानके अभ्याससे भी चित्त अन्य विचारोसे रुक कर धर्म ध्यानमे तल्लीन होता है। इसका अभ्यास करना परम हितकारी है। और भी बहुत से मत्र हैं जिनका वर्णन श्री ज्ञानार्णवसे मालुम हो सकता है। प जयचदजी कहते हैं—

अक्षर पद को अर्थ रूप ले ध्यान में।
जे ध्यावें इम मंत्र रूप इकतानमे ॥
ध्यान पदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराजने।
जे ध्यावें ह्वें लीन लहैं निज काजने ॥

(३) रूपस्थ ध्यान

अरहत भगवानके स्वरूपमे तन्मय होकर उनका ध्यान करना सो स्वरूपस्थ ध्यान है। किसी एक तीर्थंकरको—ऋषभ, पार्श्व, नेमि, या महावीर को बिचारे। उनको नीचे प्रमाण ध्यावे।

(१) समवशरण के श्री मडप मे १२ सभायें हैं, उनमे चार प्रकार के देव, देवियाँ, मुनि आर्यिका, मानव व पशु सर्व बैठे हैं, तीन कटनी पर गधकुटी है उसमें अंतरीक्ष चार अंगुल ऊचे श्री अर्हंत प्रभु पद्मासन विराजमान है।

(२) जिसका परमौदारिक शरीर कोटि सूर्यकी ज्योति को मन्द करनेवाला है, जिसमे माँस आदि सात धातुएँ नही हैं। परम शुद्ध रत्नवत् चमक रहा है।

(३) प्रभु परम शात, स्वरूप मग्न विराजमान है, जिनके सर्व शरीर मे वीतरागता झलक रही है।

(४) श्री अरहत भगवानके क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, चिता रागद्वेष, जन्म, मरण आदि अठारह दोष नहीं हैं।

(७५) स्नातक निर्ग्रन्थ, (७६) सयोगिजन, (७७) परम-निर्जरारूढ़, (७८) परमसंवरपति, (७९) आस्रवनिवारक, (८०) शुद्ध जीव, (८१) गणधरनायक, (८२) मुनिगणश्रेष्ठ, (८३) तत्त्ववेत्ता, (८४) आत्मरमी, (८५) मुक्तिनारिभर्ता, (८६) परम वैरागी, (८७) परमानन्दी, (८८) परमतपस्वी, (८९) परक्षमावान, (९०) परमसत्यधर्मारूढ़, (९१) परम-शुचि, (९२) परमत्यागी, (९३) अद्भुत ब्रह्मचारी, (९४) शुद्धोपयोगी, (९५) निरालम्ब, (९६) परमस्वतन्त्र, (९७) निर्वैर, (९८) निर्विकार, (९९) आत्मदर्शी, (१००) महाऋषि इत्यादि।

इस तरह विचार करके उनके परमवीतराग स्वरूप में ही अपने मनको जोड देवे। बार बार देखकर उनमें प्रेमालु हो जावे। ऐसा विचारते-विचारते वह द्वैतभाव से अद्वैत मे आजावे अर्थात् अपने आत्मा को ही सर्वज्ञ व अरहंत मानने लग जावे जैसा कहा है—

> एष देवः स सर्वज्ञः सोहं तद्रूपतां गतः।
>
> तस्मात्स एव नान्योहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो देव है वही मैं हूँ, जो सर्वज्ञ है वही मैं हूँ, जो आत्मस्वरूपमें लगा है वही मैं हूँ, सर्वज्ञ देखने वाला जो कोई है वह मैं ही हूँ, मैं और कोई नही हूँ इस तरह मैं ही साक्षात् अरहन्त स्वरूप वीतराग परमात्मा हूँ ऐसी भावना करके उसीमे स्थिर हो जावे। यह अरहंतके स्वरूपके द्वारा निज आत्मा का ध्यान है जिसको रूपस्थ ध्यान कहते हैं। पण्डित जयचंदजी कहते हैं—

सोरठा—सर्व विभव युत जान, जो ध्यावे अरहंतकूं ।
मन वश करि सत मान, ते पावे तिस भावकूं ॥

(४) रूपातीत ध्यान

इस ध्यान मे सिद्धोके गुणोको विचारता हुआ अपने आपको ही सिद्ध माने, पहले सिद्धके स्वरूपको विचारे कि वह अमूर्तीक चैतन्य, पुरुषाकार, परम कृतकृत्य परमशात, निष्कल, परम शुद्ध, आठ कर्म रहित, परम वीतराग, चिदानन्दरूप सम्यक्तादि आठ गुण सहित, परम निर्लेप, परम सतोषी, स्वरूपमग्न, स्फटिकमणिमयी निर्मल निरंजव, निर्विकार व लोकाग्र विराजमान हैं । फिर विचारते-२ अपने आत्माको हो सिद्धरूप मानकर ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ,कृतकृत्य हूँ, विश्वलोकी हूँ, निरंजन हूँ, स्वभावस्थिर हूँ, परमानन्दभोगी हूँ, कर्मरहित हूँ, परमवीतरागी हूँ, परम शिव हूँ तथा परमब्रह्म हूँ । इस तरह अपने स्वरूप मे गुप्त हो जावें ।

जहां एकदम सिद्ध परमात्माका ध्यान करते-२ द्वैत से अद्वैत मे रम जावे, आपको ही सिद्ध सम शुद्ध भावे व उसी में तन्मय हो जावे सो रूपातीत ध्यान है। जैसा पंडित जयचदजी वे कहा है—

दोहा—सिद्ध निरंजन कर्म विन, मूरति रहित अनन्त ।
जो ध्यावै परमात्मा, सो पावै शिव सन्त ॥

इस तरह जो ध्यानका अभ्यास करना चाहे उसको निश्चल आसनसे होकरके पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत इनमें से चाहे जिस ध्यानको ध्यानेका अभ्यास करे। परन्तु एक ध्यान

जब अभ्याससे पूर्ण हो जावे तब दूसरे प्रकारके ध्यानका अभ्यास करे। ध्यानका प्रयोजन आत्मस्थ होना है। जिस तरह यह प्रयोजन सिद्ध हो उसी तरह ध्यानी को अभ्यास करना चाहिए। ध्यान ही से परमानन्द का लाभ होता है व कर्मों की निर्जरा होती है।

प्राणायाम की विधि

शरीरकी शुद्धि तथा मनको एकाग्र करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास सहायक है। यद्यपि वह ऐसा जरूरी नहीं है कि इसके बिना आत्मध्यान न हो सके इसलिए जिसने किसी प्राणायामके ज्ञाता विद्वानसे प्राणायाम नही सीखा है वह भी ज्ञान व आत्म बलसे आत्मध्यान कर सकता है। उसका मन स्वय ही ही बिना किसी आकुलता के रुक जाता है।

जैसा ज्ञानार्णव मे कहा है—

संविग्नस्य प्रशांतस्य वीतरागस्य योगिनः।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यत ॥८॥

भावार्थ—विरक्त, शांत, वीतरागी व जितेन्द्रिय योगी के लिए प्राणायाम की आवश्यकता नही है। कभी-कभी इससे कष्ट भी होता है। जैसा कहा है—

प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्यादार्तसम्भवः।
तेन प्रच्याव्यते ननं ज्ञाततत्त्वोपि लक्षितः ॥९॥

भावार्थ—प्राणायाम मे प्राण या श्वासको रोकने से पीड़ा होती है, पीड़ासे आर्तध्यान होना सम्भव है इससे तत्वज्ञानी भी अपने शुद्ध भावोंके लक्ष्यसे छूट जाता है।

तथापि सहकारी कारण किसीके होसकता है ऐसा जानकर यहां कुछ वर्णन ज्ञानार्णवजी के अनुसार किया जाता है।

तीन प्रकार के प्राणयाम है। (१) पूरक (२) कुंभक, (३) रेचक।

(१) ताल के छेदसे या बारह अंगुल पर्यंत से पवनको खीच कर अपने शरीरमें भरना सो पूरक है।

(२) उस खीचे हुए पवन को नाभिके स्थानपर रोके, नाभि से अन्य जगह न चलने दे। जैसे घडे को भरते हैं वैसे भरे सो कुम्भक है।

(३) उसी पवन को अपने कोठेसे धीरे-२ बाहर निकाले सो रेचक है।

अभ्यास करनेवालेको पवनको भीतर लेकर थामनेका फिर धीरे-२ बाहर तालु के द्वारा ही निकालने का अभ्यास करना चाहिए जो अधिक देर तक थाम सकेगा वह मनको अधिक रोक सकेगा। नाक से काम लेकर तालु से ही खीचना व तालु से ही बाहर निकालना चाहिए। इसका अभ्यास खुली हुई स्वच्छ हवामे करना उचित है, तब शरीरको बहुत लाभ होता है। जैसे नाभि के कमल में पवनको रोका जावे वैसा हृदयकमल के वहां भी रोका जा सकता है।

प्राणयाम में चार मंडल पहचानने चाहिए—(१) पृथ्वी-मंडल, (२) जलमंडल, (३) पवन मंडल, (४) अग्निमंडल।

(१) पीले रंगका चौकोर पृथ्वीमंडल है। जब नाक के छेद को पवनसे भरके आठअंगुल बाहर तक पवन मंद-मंद निकलता रहे तब पृथ्वीमडलको पहचानना चाहिए। यह पवन कुछ ऊष्ण होती है।

(२) आधे चन्द्रमा के समान सफेद वर्ण जलमंडल है। इस मंडल मे पवन शीघ्र नीचे की तरफ ठंढकको लिये ही १२ अंगुल बाहर तक बहती है।

(३) नीले रग का गोल पवनमडल है। इसमे पवन सब तरफ बहती हुई ६ अगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण व शीत दोनो तरह की होती है।

(४) अग्निके फुलिग के रग समान तीन कौन के आकार अग्निमंडल है। इसमे पवन ऊपर को जाता हुआ चार अंगुल तक बाहर आवे। यह उष्ण होती है।

नाक के स्वर दो हैं, बाईं तरफके श्वांस को चंद्र व दाहिनी तरफ के श्वांसको सूर्य कहते हैं। एकमास के शुक्लपक्ष की पडवा (प्रतिपदा), दूज व तीज इन तीन दिन प्रातःकाल वामस्वर या चद्रस्वर चलना शुभ है फिर तीन दिन प्रातःकाल दाहिना फिर तीन दिन प्रातः काल बाया इस तरह १५ दिन तक बदलता रहता है।

कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, दूज या तीजको प्रातःकाल दाहिना या सूर्य स्वर चलना शुभ है। फिर तीन तीन दिन प्रात. काल स्वर बदलता रहे। यदि इससे विरुद्ध स्वर चले तो अशुभ जानने चाहिए। तो भी एक स्वर नाककी बाईं तरफ का या दाहिनी तरफका बराबर २॥ घडी या एक घटे तक चलता रहता है फिर वह दूसरे दाहिनी या बाईं तरफ का हो जाता है। किसी आचार्य ने २४ घटे मे १६ बार पवन का पलटना लिखा है।

ऊपर कहे हुए पृथ्वी आदि चार मडलोंके पवनको पहचानने के लिए दूसरी रीति यह है कि अपने कानो को दोनो हाथ के

अंगूठों से बन्द करे, तब ही आंखोंको अगूठे के पासकी अंगुलियों से और नाकको मध्यमा अंगुलियोसे व मुखको शेष दो अंगुलियों से बन्द कर मनके द्वारा देखे तो बिन्दु दिखलाई पड़ेगे, वे यदि पीले दीखे तो पृथ्वीमण्डल समझना, यदि सफेद दीखे तो जल मण्डल समझना, यदि लाल दीखे तो अग्निमण्डल और जो काले दीखे तो पवनमण्डल समझना चाहिए। इन चार मण्डलों मे से जब पृथ्वीमण्डल व जलमण्डल हो तब शुभकार्योंको अर्थात् ध्यान स्वाध्याय स्वरसे निकलते हो तो कार्यकी सिद्धि बताने वाले होते हैं। अग्नि व पवनमडल दाहिनी तरफ से बहें तो अशुभ सूचक हैं अग्नि व वायुमडल यदि बाईं तरफ से बहे अथवा पृथ्वी व जल मंडल यदि दाहने तरफसे बहे तो मध्यम फल के सूचक हैं।

बाएँ स्वरको हितकर व दाहने स्वरको अहितकर बताया है। जैसे—

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणियति शरीरिणां ध्रुवं बामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाड़ी ॥४४॥
वामा सुधामयी ज्ञेयाहिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाड़ी समस्तानिष्टसूचिका ॥४३॥

भावार्थ—प्राणियोके बांया स्वर चलताहुआ अमृतके समान सर्व शरीर को तृप्त करता है तथा दक्षिण स्वर चलता हुआ शरीरको क्षीण करनेवाला है, प्राणियो को बांया स्वर हितकारी है अमृतके समान है जब कि दाहिना स्वर अनिष्टका सूचक है। यदि किसी को स्वर बदलना हो तो जो स्वर चलता हो उधरके अंगको व स्वर को दाबे तो दूसरी तरफका स्वर चलने लगेगा।

स्वरों के द्वारा हं मंत्रके ध्यानकी विधि नीचे प्रकार है इससे स्वर शुद्ध होता है। पहले नाभिके कमलके मध्य में हंको चंद्रमा के समान चमकता हुआ विचारे। फिर उसीको विचारे कि दाहने स्वरसे बाहर निकाला और चमकता हुआ आकाश में ऊपर को चला गया फिर लौटा और बाँएं स्वर से भीतर प्रवेश करके नाभिकमलमें ठहर गया। इस तरह बराबर अभ्यास करके हंको घुमाकर नाभि कमल में ठहरना चाहिए।

विशेष कथन श्री ज्ञानार्णवमें ग्रन्थ देखकर जानना चाहिए। पूरक, कुम्भक, रेचक का अभ्यास खुली हवा में करने से शरीर की शुद्धि व मनको रोकने का साधन मिलता है। इतना ही उपयोग समझकर किसी जानकार विद्वानकी मदद से प्राणयाम का अभ्यास करना चाहिए।

इस तरह ध्यान का कुछ स्वरूप मोक्षार्थी व आत्मानन्द के ध्यानसे जीवोंके हितार्थ लिखा गया है। इसे पढ़कर भव्यजीव अवश्य निरंतर ध्यान का अभ्यास करो। अभ्यास से अवश्य ध्यान की सिद्धि हो जाती है। यह तत्त्वभावना ग्रन्थ परम हित-कारी है जो मनन करेंगे परम लाभ पावेंगे। इति।

मिती आसोज वदी ५ गुरुवार वीर सं० २४५४ विक्रम सं० १९८५ ता० ४ अक्टूबर १९२८। ब्र० सीतल।

॥ ॐ ॥

श्री अमितगतिसूरिविरचित—

सामायिक पाठ

(हिन्दी छंदानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

हे जिनेन्द्र ! सब जीवनसे हो मैत्री भाव हमारे ।
दुःख दर्द पीडित प्राणिन पर करूँ दया हर वारे ॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे ।
नही प्रेम नहिं द्वेष वहाँ विपरीत भाव जो धारे ॥१॥

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

हे जिनेन्द्र ! अब भिन्न करनको इस शरीर से आतम ।
जो अनन्त शक्तीधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम ॥
शक्ति प्रगट हो मेरेमें अब तव प्रसाद परमातम ।
जैसे खड्ग म्यानसे काढ़त अलग होत तिमि आतम ॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भवने वने वा ।

निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेस्तु सदापि नाथ ॥३॥

दु:ख सुखोंमें, शत्रु मित्रमें, हो समान मन मेरा।
वन मदिरमे लाभ हानिमे हो समता का डेरा॥
सर्व जगतके थावर जंगम चेतन जड उलझेरा।
तिनमें ममत करूँ नहिं कबहूँ छोड़ मेरा तेरा॥३॥

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निषाताविव विम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव॥४॥

हे मुनीश ! तव ज्ञानमयी चरणोको हियमे ध्याऊँ।
लीन रहे वे कीलित होवे, थिर उनको बिठलाऊँ॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊँ।
मोह अँधेरा दूर करनको रत्नदीप सम भाऊँ॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पचेन्द्री पर्यंता।
प्राणिनको प्रमादवश होके इत उत मैं विचरता॥
नाश छिन्न दु:खित कीने हों भेले कर कर अन्ता।
सो सब दुराचार कृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप हो मैंने।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने॥६॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं,
मनोवचः कायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारण
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

मन वच काय कषायनके वश जो कुछ पाप किया है।
है ससार दु.ख का कारण ऐसा जान लिया है॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है।
चतुर वैद्य जिम मत्र गुणो से विष सहार किया है॥७॥

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं
जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मणः।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये॥८॥

मतिभृष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतिक्रम करडाला।
सुआचार कर्मों में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला॥

हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करणको इन दोषोंके प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥८॥

क्षति मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

मन विशुद्धिमें हानि करे जो वह विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलंघनकी मति सो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयो मे वर्तन हो जाना अतीचार नहिं कम है ।
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इकदम है ॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं
मया प्रमादाद्यदि किंचिनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥१०॥

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनोको ।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनोको ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिनवाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनोंको ।
कृपा करो हे मात ! दीजिए पूर्ण ज्ञान रतनो को ॥१०॥

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

बार बार बन्दू जिन माता ! तू जीवन सुखदाई।
मन चिन्तित वस्तूको देवै चिन्तामणि सम भाई ॥
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधी शुद्धभाव इकताई।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखोंकी सिद्धी दे जिनमाई ॥११॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै—
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं।
चक्राधर अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे हैं ॥
वेद पुराण शास्त्र पाठो मे जिनका गान करे हैं।
परमदेव मम हृदय विराजो तुझ मे भाव भरे हैं ॥१२॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव सुखकारी।
सब विकारि भावों से बाहर जिनमे हैं संसारी ॥
ध्यान-द्वार अनुभव में आवे परमातम शुचिकारी।
परमदेव मम हृदय विराजो भाव तुझीमें भारी ॥१३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालं।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीय.,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

सकल दु ख ससारजाल के जिसने दूर किये हैं।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिए हैं॥
जो मम भीतर राजत है मुनियो ने जान लिए है।
परमदेव मम हृदय-विराजो सम रस पान किये हैं॥१४॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

मोक्ष मार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावनहारा।
जनम मरण आदि दु.खोंसे सब दोषोसे न्यारा॥
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा।
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा॥१५

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

जिनको संसारी जीवोने अपना कर माना है।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जाना है॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है।
परमदेव मम हियमें तिष्ठो करता कल्याना है॥१६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तः
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः
ध्यातो धुनीते सकल विकार,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगत मे है व्यापक सुखदाई।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बध से रहित परम जिनराई॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षण मे सब विकार मिट जाई।
परमदेव मम हियमे तिष्ठो यही भावना भाई ॥१७॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै—
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

कर्म मैलके दोष सकल नहि जिसे पर्श पाते हैं।
जैसे सूरज की किरणो से तम समूह जाते हैं॥
नित्य निरजन एक अनेको इम मुनि गण ध्याते हैं।
उसी देव को अपना लखकर हम शरणा आते हैं ॥१८।

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥१९॥

जिसमे तापकरण सूरज नहि ज्ञानमयी जगभासी।
बोध भानु सुख शाति सुकारक शोभ रहा सुविकासी॥

अपने आतम मे तिष्ठे है रहित सकल मल पासी ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा लो भवत्रासी ॥१९

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२०॥

जिसमे देखत ज्ञान दर्श से सकल जगत प्रतिभा से ।
भिन्न भिन्न षटद्रव्यमयी गुण पर्यंयमय समता से ॥
शुद्ध शांत शिवरूप अनादी जिन अनत फटिकासे ।
उसी देवको अपना लखकर शरणा लो सुख भासे ॥२०॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषादनिद्राभयशोकचिंता ।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च—
स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिग्रह भारी ।
मन विषाद निद्रा भय चिंता रती शोक दुःखकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत बन अग्नी भयकारी ।
उसी देव को अपना लखकर शरणा लो सुखकारी ॥२१॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मित
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृण का संथारा।
निश्चयसे नहि आसन हैं ये इनमें नहिं कुछ सारा॥
इन्द्रिय विषय द्वेषसे विरहित आतम प्यारा।
ज्ञानी जीवों ने गुण लखकर आसन उसे विचारा॥२२

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च सघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्व्वामपि बाह्यवासनाम्॥२३॥

नहि संथारा कारण हैगा निज समाधि का भाई।
नहिं लोगो से पूजा पाना सघ मेल सुखदाई॥
रात दिवस निज आतम मे तू लीन रहो गुणगाई।
छोड़ सकल भव रूप वासना निज में कर इकताई॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥२४॥

मम आतम बिन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं।
मैं भी उनका नहिं होता हू नहिं वे सुख बोते हैं॥
ऐसा निश्चल जान छोड़ के बाहर निज टोते है।
उन सम हम नित स्वस्थ रहे ले मुक्ति कर्म खोते हैं॥२४॥

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमान-
स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।

एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतममे आतम देखो हे मन परम सुहाई।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिस ठिकाने पर हो हो एकाग्र सुहाई।
जो साधू आपे मे रहते सच समाधि उन पाई ॥२५॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है।
निर्मल केवल ज्ञान मयी सुख पूरण अमृतधर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है।
नही नित्य निज कर्म उदयसे बना यह नाटक घर है ॥२६।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नही है इस शरीर से भाई।
तब फिर उसके कैसे होगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्र नहि कोई उसका नहि संग साथी दाई।
तनसे चमड़ा दूर करे नहि रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

परके सयोगोमे पड तनधारी बहु दुख पाया।
इस ससार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया।
मन वच काया से निश्चयकर सबसे मोह छुडाया।
अपने आतमकी मुक्ती ने मन मे चाव बढ़ाया ॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं
संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

इस संसार महावन भीतर पटकन के जो कारण।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोडो शर्म निवारण॥
रे मन ! मेरे देख आतमको भिन्न परम सुखकारण।
लीन होहु परमातम माहीं जो भव ताप निवारण ॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा ॥३०॥

पूर्व कालमे कर्मबन्ध जैसा आतमने कीना।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना॥
परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सही ना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहूँ ना ॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अपने ही बाधे कर्मोंके फलको जिव पाते हैं ।
कोई किसीको देता नाही ऋषिगण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मनसे जो आतम ध्याते हैं ।
पर देता सुख दुख यह बुद्धी नहिं चित मे लाते हैं ॥३१॥

यः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः
सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥३२॥

जो परमातम सर्व दोषसे रहित भिन्न सबसे है ।
अमितगती आचारज बदे मनमे ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मनमे अनुभव सार करे है ।
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मी को पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥

इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः, परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥३३॥

इन बत्तीस पदसे भविजन परमातम ध्याते है ।
मनको कर एकाग्र स्वात्ममे अव्यय पद पाते हैं ॥
सुखसागर वर्द्धनके कारण सत अनुभव लाते हैं ।
"सीतल" सामायिकको पाकर भवदधि तर जाते हैं ॥३३॥

(समाप्तोऽयं सामायिक पाठः)

श्री अमितगति सूरि विरचित

सामायिक पाठ

परमात्म द्वात्रिंशतिका

(हिन्दी पद्यानुवाद—श्री रामचरित उपाध्याय)

चित देव, मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को,
मैत्री करे सब प्राणियों से, गुणी जनों से प्रेम को।
उन पर दया करती रहे, जो दुख ग्राह-ग्रहीत हैं,
उनसे उदासी सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥१॥
करके कृपा कुछ शक्ति ऐसी दीजिए मुझ में प्रभो!
तलवार को ज्यों म्यान से करते विलग हैं हे विभो!!
गतदोष आत्मा शक्तिशाली है मिली मम अंग से,
उसको विलग उस भाँति करनेके लिए ऋजु ढंग से ॥२॥
हे नाथ! मेरे चित्त में समता सदा भरपूर हो,
सम्पूर्ण ममता की कुमति मेरे हृदय से दूर हो।
वनमें, भवनमें, दुख में, सुख में नहीं कुछ भेद हो,
अरि-मित्रमें, मिलने-बिछुड़ने में न हर्ष न खेद हो ॥३॥
अतिशय घनी तम-राशिको दीपक हटाते हैं यथा,
दोनों कमल-पद आपके अज्ञान-तम हरते तथा।
प्रतिबिम्ब सम स्थिर रूप वे मेरे हृदय में लीन हों,
मुनिनाथ! कीलित-तुल्य वे उरपर सदा आसीन हों ॥४॥

यदि एक-इन्द्रिय आदि देही घूमते फिरते मही,
जिनदेव ! मेरी भूल से पीड़ित हुए होवें कहीं।
टुकड़े हुए हों, मल गये हों, चोट खाये हों कभी,
तो नाथ ! वे दुष्टाचरण मेरे बनें झूठे सभी ॥५॥
सन्मुक्ति के सन्मार्ग से प्रतिकूल पथ मैंने लिया,
पञ्चेन्द्रियों चारों कषायों में स्वमन मैंने किया।
इस हेतु शुद्ध चरित्र का जो लोप मुझसे हो गया,
दुष्कर्म वह मिथ्यात्वको हो प्राप्त प्रभु ! करिए दया ॥६॥
चारों कषायों से, वचन, मन, काय से जो पाप है—
मुझसे हुआ, हे नाथ ! वह कारण हुआ भव ताप है।
अब मारता हूं मैं उसे आलोचना-निन्दादि से,
ज्यों सकल विष को वैद्यवर है मारता मन्त्रादि से ॥७॥
जिनदेव ! शुद्ध चारित्र का मुझसे अतिक्रम जो हुआ,
अज्ञान और प्रमाद से व्रत का व्यतिक्रम जो हुआ।
अतिचार और अनाचरण जो जो हुए मुझसे प्रभो !
सबकी मलिनता मेटने को प्रतिक्रम करता विभो ! ॥८॥
मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा,
औ शीलचर्या के विलंघन को व्यतिक्रम है कहा।
हे नाथ ! विषयों में लपटने को कहा अतिचार है,
आसक्त अतिशय विषय में रहना महाऽनाचार है ॥९॥
यदि अर्थ, मात्रा वाक्यमें पदमें पड़ी त्रुटि हो कहीं,

तो भूलसे ही वह हुई, मैंने उसे जाना नहीं।
जिनदेव वाणी ! तो क्षमा उसको तुरत कर दीजिए,
मेरे हृदय में देवि ! केवलज्ञान को भर दीजिए ॥१०॥
हे देवि ! तेरी वन्दना मैं कर रहा हूं इसलिए,
चिन्तामणि-प्रभु है सभी वरदान देने के लिए।
परिणाम-शुद्धि समाधि मुझमें बोधिका संचार हो,
हो प्राप्ति स्वात्माकी तथा शिवसौख्यकी, भवपारहो।११
मुनिनायकों के वृन्द जिसको स्मरण करते हैं सदा,
जिसका सभी नर अमरपति भी स्तवन करते है सदा।
सच्छास्त्र वेद-पुराण जिसको सर्वदा हैं गा रहे,
वह देव का भी देव बस मेरे हृदय में आ रहे ॥१२॥
जो अन्तरहित सुबोध-दर्शन और सौख्य स्वरूप है,
जो सब विकारों से रहित, जिससे अलग भवकूप है।
मिलता बिना न समाधि जो, परमात्म जिसका नामहै,
देवेश वह उर आ बसे मेरा खुला हृद्धाम है ।॥१३॥
जो काट देता है जगत के दुःख निर्मित जाल को,
जो देख लेता है जगत की भीतरी भी चाल को,
योगी जिसे हैं देख सकते, अन्तरात्मा जो स्वयम्,
देवेश ! वह मेरे हृदय-पुर का निवासी हो स्वयम् ॥१४॥
कैवल्य के सन्मार्ग को दिखला रहा है जो हमें,
जो जन्म के या मरण के पड़ता न दुख-सन्दोह में।

अशरीर हो त्रैलोक्यदर्शी दूर है कुकलंक से,
देवेश वह आकर लगे मेरे हृदय के अङ्क से ॥१५॥
अपना लिया है निखिल तनुधारी-निवहने ही जिसे,
रागादि दोष-व्यूह भी छू तक नहीं सकता जिसे।
जो ज्ञानमय है, नित्य हैं, सर्वेन्द्रियों से हीन है,
जिनदेव देवेश्वर वही मेरे हृदय में लीन है ॥१६॥
संसार की सब वस्तुओं में ज्ञान जिसका व्याप्त है,
जो कर्म-बन्धन हीन, बुद्ध विशुद्ध सिद्धी प्राप्त है।
जो ध्यान करने से मिटा देता सकल कुविकार को,
देवेश वह शोभित करे मेरे हृदय-आगार को ॥१७॥
तम-संघ जैसे सूर्य-किरणों को न छू सकता कहीं,
उस भाँति कर्म-कलंक दोषाकर जिसे छूता नहीं।
जो है निरंजन वस्त्वपेक्षा, नित्य भी है, एक है,
उस आप्त प्रभु की शरणमें हूं प्राप्त जोकि अनेक है ॥१८
यह दिवसनायक लोक का जिसमें कभी रहता नहीं,
त्रैलोक्य-भाषक-ज्ञान-रवि पर है वहाँ रहता सही।
जो देव स्वातमा में सदा स्थिर-रूपता को प्राप्त है।
मैं हूं उसी की शरण में, जो देववर है, आप्त है ॥१९॥
अवलोकने पर ज्ञान में जिसके सकल संसार ही—
है स्पष्ट दिखता, एक से है दूसरा मिलकर नहीं।
जो शुद्ध शिव है, शांत भी है, नित्यता को प्राप्त है

उसकी शरण को प्राप्त हूं, जो देववर है आप्त है ॥२०॥
वृक्षावली जैसे अनल की लपट से रहती नहीं,
त्यों शोक मन्मथ, मानको रहने दिया जिसने नहीं।
भय, मोह, नींद, विषाद, चिन्ता भी न जिसको व्याप्तहै
उसकी शरण में हूं गिरा, जो देववर है आप्त है॥२१॥
विधिवत शुभासन घासका या भूमिका बनता नहीं,
चौकी, शिला को ही सुभासन मानती बुधता नहीं।
जिससे कषायें-इन्द्रियाँ खटपट मचाती हैं नहीं,
आसन सुधी जन के लिए है आतमा निर्मल वही ॥२२॥
हे भद्र! आसन, लोक पूजा, संघकी संगति तथा,
ये सब समाधी के न साधन, वास्तविक में है प्रथा।
सम्पूर्ण बाहर-वासना को इसलिए तू छोड़ दे,
अध्यात्म में तू हर घड़ी होकर निरत रति जोड़ दे ॥२३
जो बाहरी है वस्तुएं, वे हैं नहीं मेरी कहीं,
उस भाँति हो सकता कहीं उनका कभी मैं भी नहीं।
यों समझ बाह्याडम्बरों को छोड़ निश्चित रूप से,
हे भद्र! हो जा स्वस्थ तू बच जायगा भवकूप से ॥२४॥
निज को निजात्मा-मध्य में ही सम्यगवलोकन करे,
तू दर्शन-प्रज्ञानमय है, शुद्ध से भी है परे।
एकाग्र जिसका चित्त है, तू सत्य इसको मानना,
चाहे कहीं भी हों, समाधी-प्राप्त उसको जानना ॥२५॥

मेरी अकेली आत्मा परिवर्तनों से हीन है,
अतिशय विनिर्मल है सदा सद्ज्ञान में ही लीन है।
जो अन्य सब हैं वस्तुएं वे ऊपरी ही हैं सभी,
निज कर्म से उत्पन्न है अविनाशिता क्यों हो कभी ॥२६॥
है एकता जब देह के भी साथ में जिसकी नहीं,
पुत्रादिकों के साथ उसका ऐक्य फिर क्यों हो कहीं।
जब अंग-भर से मनुज के चमड़ा अलग हो जाएगा,
तो रोंगटों का छिद्रगण कैसे नहीं खो जायगा ॥२७॥
संसाररूपी गहन में है जीव बहु दुख भोगता,
वह बाहरी सब वस्तुओं के साथ कर संयोगता।
यदि मुक्तिकी है चाह तो फिर जीवगण! सुन लीजिए,
मनसे, वचनसे-कायसे उसको अलग कर दीजिए ॥२८॥
देही! विकल्पित जाल को तू दूर कर दे शीघ्र ही,
संसार-वन में डालने का मुख्य कारण है यही।
तू सर्वदा सबसे अलग निज आत्मा को देखना,
परमात्मा के तत्व मे तू लीन निज को लेखना ॥२९॥
पहले समय में आत्मा ने कर्म हैं जैसे किए,
वैसे शुभाशुभ फल यहाँ पर इस समय उसने लिए।
यदि दूसरे के कर्मका फल जीव को हो जाय तो,
हे जीवगण! फिर सफलता निज कर्मकी खोजाय तो ।३०
अपने उपार्जित कर्म-फलको जीव पाते हैं सभी,

उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,
'दाता अपर है भोगका' इस बुद्धिको खोकर सदा ॥३१॥
सबसे अलग परमात्मा है, अमितगति से वन्द्य है,
हे जीवगण! वह सर्वदा सब भाँति ही अनवद्य है।
मनसे उसी परमात्मा को ध्यान में जो लायेगा,
वह श्रेष्ठ लक्ष्मी के निकेतन मुक्ति पद को पायेगा ॥३२
पढ़कर इन द्वात्रिंश पद्य को,
लखता जो परमात्मवन्द्य को।
वह अनन्यमन हो जाता है,
मोक्ष-निकेतन को पाता है ॥३३॥

आलोचना पाठ

दोहा

वंदो पाँचो परम-गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूं शुद्ध आलोचना, शुद्धि-करन के काज ॥१॥

सखी छन्द

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निवृत्ति काजा, तुम सरन लही जिनराज ॥२
इक वे ते चउ इंद्री वा, मन रहित सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वै घात विचारी॥३

समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ ।
कृतकारित मोदन करिकै, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं ।।४।।
शत आठ जु इमि भेदन तैं, अघ कीने परिछेदन तै ।
तिनकी कहुं कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी ।।५।।
विपरीत एकांत विनय के के, संशय अज्ञान कुनय के ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतै नहिं जाय कहीने ।।६।।
कुगुरुनकी सेवा कीनी, केवल अदया करि भीनी ।
या विधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुंगति मधि दोष उपायो ।।७
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर वनिता सों दृग जोरी ।
आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो ।।८।।
सपरस रसना घ्रानन को, चखे कान विषय सेवनको ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय नजाने ।।९।।
फल पंच उदबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, सेये कुविसन दुखकारे ।।१०।।
दुइबीस अभख जिन गाये, सो भी निश-दिन भुंजाये ।
कछु भेदाभेद न पातो, ज्यों त्यों करिउदर भरायो ।।११
अनंतानु जु बंधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ।
संज्वलन चौकड़ी गुनिये, सब भेद जु षोडश मुनिये ।।१२
परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग ।
पनबीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम ।।१३
निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई ।

फिरजागि विषय वनधायो, नानाविध विषफलखायो।१४
आहार विहार नीहारा, इनमें नहि जतन विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधो वस्तु जु खाई ॥१५
तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो।
कछु सुधि बुधि नाहि रही है, मिथ्यामति छायगई है ॥१६
मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहू में दोष जु कीनी।
भिन्न-२ अब कैसे कहिए, तुम ज्ञान विषै सब पइये ॥१७
हा हा ! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी।
थावरकीजतन न कीनी, उर में करुणा नहिं लीनी ॥१८
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई।
पुनि बिन गाल्यो जलढोल्यो, पंखातैंपवन बिलोल्यो ॥१९
हा हा ! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥२०॥
हा हा ! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिधाये ॥२१॥
बीध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोधि जलायो।
झाडू ले जागां बुहारी, चींटीआदिक जीव बिदारी ॥२२
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुंचाई, किरिया बिन पाप उपाई ॥२३
जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहुघात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये ॥२४

अन्नादिक शोध कराई, तातें जु जीव निसराई।
तिनका नहिंजतन कराया, गरियाले धूप डराया ॥२५
पुनि द्रव्य कमावन काजे, बहु आरंभ हिंसा साजे।
किये तिसनावश अघभारी, करुणानहिं रंचविचारी।२६
इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता।
संतति चिरकाल उपाई, वाणी तैं कहिय न जाई ॥२७
ताको जु उदय अब आयो, नाना विध मोहि सतायो।
फल भुंजत जिय दुख पावै, वचतैं कैसे करि गावै ॥२८
तुम जानत केवल ज्ञानो, दुख दूर करो शिवथानो।
हम तो तुमशरण लही है, जिन तारन विरदसही है।२६
इक गाँवपती जो होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥३०
द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता-प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी दुख मेटो अंतरजामी ॥३१॥
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपना विरद सम्हारो।
सब दोष-रहित कर स्वामी, दुख मेटहु अन्तरजामी ॥३२
इंद्रादिक पदवी नहिं चाहूं, विषयनि में नाहिं लुभाऊं।
रागादिक दोष हरीजे, परमातम निज पद दीजे ॥३३॥
दोहा—दोष-रहित जिनदेवजी, निज-पद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ै आनंद मंगल होय ॥
अनुभव माणिक पारखी, जौहरि आप जिनन्द।
येही वर मोहि दीजिए, चरण शरण आनन्द ॥ ❋

सामायिक पाठ भाषा

१ प्रतिक्रमण कर्म[1]

काल अनंत भ्रम्यो जग में सहिये दुख भारी।
जन्म मरण नित किये पाप को ह्वै अधिकारी॥
कोटि भवांतर माहि मिलन दुर्लभ सामायिक[2]।
धन्य आज मैं भयो योग मिलियो सुख दायक॥१॥
हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मै अब।
ते सब मन-वच-काय-योग की गुप्ति विना लभ॥
आप्र समीप हजूर मांहि मै खड़ो खड़ो सब।
दोष कहूं सो सुनो करो नठ दुःख देंहि जब॥२॥
क्रोधमानमदलोभ मोह मायावशि प्रानी।
दुःख सहित जे किये दया तिनकी नहिं आनी॥
बिना प्रयोजन एकेंद्रिय वि ति चउ पंचेंद्रिय।
आप प्रसादहि मिटै दोष जो लग्यो मोहि जिय॥३॥
आपस में इकठौर थापिकरि जे दुख दीने।
पेलि दिये पगतलें दाबिकरि प्रान हरीने॥
आप जगत के जीव जिते तिन सब के नायक।
अरज करू मैं सुनो दोष मेटो दुखदायक॥४॥

---

१. पहले लगे हुए दोषों से निवृत्त होना—पीछे हटना।
२. रागद्वेष रहित होकर समभाव रूप आत्मस्वभाव में रहना।

अंजन आदिक चोर महा घनचोर पापमय।
तिनके जे अपराध भये ते क्षमा क्षमा किय॥
मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि।
यह पड़िकोड़ो कियो आदि षट्कर्म माहिं विधि॥५॥

२. द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म

इसके आदि व अन्त मे आलोचना पाठ बोलकर फिर तीसरे सामायिक कर्म का पाठ चाहिए।

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे।
तिन को जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे॥
सो सब झूठो होउ जगतपति के परसादै।
जा प्रसादतैं मिलै सुख दुःख न लाधै॥६॥
मैं पापी निर्लज्ज दया करि हीन महाशठ।
किए पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ॥
निंदूं हूं मैं बार बार निज जिय को गरहूं।
सबविधि धर्म उपाय पाय फिर पापहि करहूं॥७॥
दुर्लभ है नर जन्म तथा श्रावक कुल भारी।
सत संगति संयोग धर्म जिन श्रद्धाधारी॥
जिन वचनामृत धार समावर्तै जिन वानी।
तोहू जीव संघारे धिक धिक धिक हम जानी॥८॥
इन्द्रिय लंपट होय खोय निज ज्ञान जमा सब।
अज्ञानी जिमि करै तिसि विधि हिंसक ह्वै अब॥
गमनागमन करंतो जीव विराधे भोले।

ते सब दोष किये निंदूं अब मन वच तोले ॥९॥
आलोचन विधि थकी दोष लागे जु घनेरे।
ते सब दोष विनाश होउ तुम तैं जिन मेरे ॥
बार बार इस भाँति मोह मद दोष कुटिलता।
ईर्षादिक तें भये निंदि ये जे भयभीता ॥१०॥

३ तृतीय सामायिक भाव कर्म

सब जीवन मे मेरे समता भाव जग्यो है।
सब जिय मो सम समता राख्यो भाव लग्यो है ॥
आर्त्त रौद्र द्वय ध्यान छाँड़ि करिहूं सामायिक।
संजम मो कब शुद्ध होय भाव बधायक ॥११॥
पृथ्वी जल अरु अग्नि वायु चउ काय वनस्पति।
पंचहि थावर माँहि तथा त्रस जीव बसे जित ॥
बेइन्द्रिय तिय चउ पंचेंद्रियमाँहि जीव सब।
तिन तें क्षमा कराऊं मुझ पर क्षमा करो अब।
इस अवसर में मेरे सब सम कंचन अरु तृण ॥१२॥
महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहि समगण ॥
जामन मरण समान जानि हम समता कीनी।
सामायिक का काल जितै यह भाव नवीनी ॥१३॥
मेरो है इक आतम तामें ममत जु कीनो।
और सबै मम भिन्न जानि समता रसभीनो ॥
मात पिता सुत बंधु मित्र तिय आदि सबै यह।
मोतैं न्यारे जानि जथारथ रूप करयो गह ॥१४॥

मैं अनादि जग जाल माँहि फँसि रूप न जाण्यो ।
एकेंद्रिय वे आदि जंतु को प्राण हराण्यो ॥
ते सब जीव समूह सुनो मेरी यह अरजी ।
भव-भव कोअपराध छिमा कीज्योकर मरजी ॥१५

४. चतुर्थ स्तवन कर्म

नमौं ऋषभ जिनदेव अजित जिन जीति कर्म को ।
सम्भव भव दुख हरण करण अभिनन्द शर्म को ॥
सुमति सुमति दातार तार भव सिंधु पार कर ।
पदम् प्रभ पद्माभ भानि भवभीति प्रीति धर ॥१६॥
श्रीसुपार्श्व कृत पाश नाश भव जास शुद्ध कर ।
श्री चन्द्र प्रभ चन्द्रकान्तिसम देह कांतिधर ॥
पुष्पदन्त दमि दोष कोष भविपोष रोषहर ।
शीतल शीतल करण हरण भवताप दोष कर ॥१७॥
श्रेयरूप जिनश्रेय ध्येय नित सेय भव्य जन ।
वासुपूज्य शत पूज्य वासवादिक भव भय हन ॥
विमल विमलमति देन अन्तगत है अनन्त जिन ।
धर्मशर्मशिवकरण शान्ति जिन शान्ति विधायिन ॥१८
कुंथु कुंथुमुख जीवपाल अरनाथ जाल हर ।
मल्लिमल्लसम मोहमल्लमारन प्रचारधर ।
मुनिसुव्रत व्रतकरण नमत सुरसंघहिं नमिजिन ।
नेमिनाथ जिन नेमि धर्मरथ माँहि ज्ञानधन ॥१९॥
पार्श्वनाथ जिनपार्श्व उपलसम मोक्ष रमापति ।
वर्द्धमान जिन नमूं वमूं भवदुःख कर्मकृत ॥

या विधि मैं जिन संघरूप चउवीस संख्यधर।
स्तवूं नमूं हूं बारबार बन्दूं शिव सुखकर ॥२०॥

५. पंचम बंदना कर्म

बन्दूं मैं जिनवीर धीर महावीर सु सनमति।
वर्द्धमान अतिवीर बन्दि हूं मनवचतनकृत ॥
त्रिशलातनुज महेश धीश विद्यापति बन्दूं।
बंदो नित प्रति कनक रूप तनु पापनिकंदूं ॥२१॥
सिद्धारथ नृपनंद द्वंद दुख दोष मिटावन।
दुरित दवानल ज्वलित ज्वाल जगजीव उधारन ॥
कुण्डल पुर करि जन्म जगत जिय आनन्द कारन।
वर्ष बहत्तर आयु पाय सब ही दुख टारन ॥२२॥
सप्तहस्त तनु तुङ्गभंगकृत जन्ममरण भय।
बाल ब्रह्म मय ज्ञेय हेय आदेय ज्ञानमय।
दे उपदेश उधारि तारि भवसिंधु जीवधन।
आप बसे शिवमांहि ताहि बंदौ मन वच तन ॥२३॥
जाके वंदन थकी दोष दुख दूरहि जावै।
जाके वंदन थकी मुक्तितिय सन्मुख आवै।
जाके वदन थकी वंद्य होवें सुरगन के।
ऐसे वीर जिनेश बन्दि हूं क्रम युग तिनके ॥२४॥
सामायिक षट्कर्ममांहि बंदन यह पंचम।
बंदों वीर जिनेंद्र इंद्रशतवंद्य वंद्य मम ॥
जन्म मरण भय हरो करो अघ शांति शान्तिमय।
मैं अघ कोष सुपोष दोष को दोष विनाशय ॥२५॥

६. छठा कायोत्सर्ग कर्म

कायोत्सर्ग विधान करूं अन्तिम सुखदाई।
कायत्यजनमय होय काय सबको दुखदाई॥
पूरब दक्षिण नमूं दिशा पश्चिम उत्तर मैं।
जिनगृह वंदन करूं हरूं भवपापतिमिर मैं॥२६॥
शिरोनति मैं करूं नमूं मस्तक पर धरिकै।
आवर्तादिक क्रिया करूं मन वच मद हरिकै॥
तीनलोक जिन भवनमाँहि जिन है जुअकृत्रिम।
कृत्रिम है द्वय अर्द्धद्वीप माहीं बंदों जिम॥२७॥
आठ कोड़ि परि छप्पन लाख जु सहस सत्याणूं।
च्यारि शतक-पर असी एक जिनमंदिर जाणूं॥
व्यंतर ज्योतिष मांहि संख्य रहिते जिन मंदिर।
ते सब बंदन करूं हरहु मम मम पाप संघकर॥२८॥
सामायिकसम नाहिं और कोउ वैर मिटायक।
सामायिकसमं नाहिं और कोउ मैत्री दायक॥
श्रावक अणुव्रत आदि अन्त सप्तम गुणथानक।
यह आवश्यक किये होय निश्चय दुखहानक॥२९॥
जे भवि आतम-काज-करण उद्यम के धारी।
ते सब काज विहाय करो सामायि सारी॥
राग रोष मदमोह क्रोध लोभादिक जे सब।
बुध 'महाचन्द्र' विलाय जाय तातैं कीज्यो अब॥३०॥

卐卐

सामायिक पाठ

(अमितगति आचार्य कृत)

(अनुवादक—श्री युगल जी)

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।
करुणा स्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो ॥१॥
यह अनन्त बल-शील आतमा हो, शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से वह अनन्त बल दो मुझको ॥२॥
सुख-दुःख वैरी बन्धु वर्ग में, कांच कनक में समता हो।
वन उपवन, प्रासादकुटी में नहीं खेद नहिं ममता हो ॥३॥
जिस सुन्दर-तम पथ पर चलकर जीते मोहमान मन्मथ।
वह सुन्दर पथ ही प्रभु ! मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ ॥४॥
एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूं वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो ॥५॥
मोक्ष मार्ग प्रतिकूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से ॥६॥
चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु ! मैं भी आदि उपांत।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूं पापों को शांत ॥७॥
सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत-प्रवर्त्तन करके, शीलाचरण विलीन किया ॥८॥
कभी वासना की सरिता का, गहन सलिल मुझ पर छाया।
पी पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया ॥९॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य-आचरण किया।
पर निन्दागाली, चुगली जो, मुंह पर आया वमन किया ॥१०॥
निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल-जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे ॥११॥
मुनि, चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे वह परम देव मम हृदय रहे ॥१२॥
दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार हों वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परमदेव मम हृदय रहे ॥१३॥
जो भव दुख का विध्वंसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यान गम्य वह बसे हृदय में देव महान ॥१४॥
मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म मरण से परम अतीत।
निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि, वे देव रहे मम हृदय समीप ॥१५॥
निखिल विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे ॥१६॥
देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलंक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मलनिर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥१७॥
कर्म-कलंक अछूत न जिसको, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोह तिमिर को भेद चला जो, परमशरण मुझको वह आप्त ।१८
जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।
स्वयं ज्ञान मय स्वपर प्रकाशी, परमशरण मुझको वह आप्त ।१९
जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदिअन्त से रहित, शांत, शिव, परमशरण मुझको वह आप्त ।२०
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयंमेव।
भय-विषाद चिन्ता सब जिसके, परमशरण मुझको वह देव ।२१

तृण, चौकी, शिल शैलशिखरनहिं, आत्म समाधी के आसन।
संस्तर, पूजा संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन ॥२२॥
इष्ट वियोग अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विश्व वासना, उपादेय निर्मल आतम ॥२३॥
बाह्य जगत कुछ भी नहिं मेरा और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नितस्वस्थ रमैं ॥२४
अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ ॥२५॥
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है ॥२६॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं हो, सुत, तिय, मित्रों से कैसे ?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहे कैसे ? ॥२७॥
महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़-देह संयोग।
मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग ॥२८॥
जो ससार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर फिर लीन उसी में हो ॥२९॥
स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वय किये निष्फल होते ॥३०॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि ॥३१
निर्मल, सत्य, शिव, सुन्दर है, 'अमित गति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण ॥३२॥

आत्म सम्बोधन

समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिंतन की घड़ी है।
भव उदधि तन अथिर नौका, बीच मंझधारा पड़ी है ॥टेक॥
आत्म से है पृथक तन-धन, सोचरे मन कर रहा क्या?
लखि अवस्था कर्मजड़ की, बोल उनसे डर रहा क्या?
ज्ञान-दर्शन चेतना सम और जग में कौन है रे?
दे सके दुख जो मुझे वह, शक्ति ऐसी कौन है रे?
कर्म सुख-दुख दे रहे हैं, मान्यता ऐसी करी है।
चेत-चेतन प्राप्त अवसर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥१॥
जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर-थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि, छोड़ खुद ही भागते हैं ॥
ले समझ में काम या फिर, चतुर्गति ही में विचर ले।
मोक्ष अरु संसार क्या है, फैसला खुद हो समझ ले ॥
दूर कर दुविधा हृदय से, फिर कहां धोखा धड़ी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥२॥
कुन्दकुन्दाचार्य गुरुवर, यह सदा ही कहि रहे हैं।
समझना खुद ही पड़ेगा, भाव तेरे बहि रहे हैं ॥
शुभ क्रिया को धर्म माना, भव इसी से धर रहा है।
है न पर से भाव तेरा, भाव खुद ही कर रहा है ॥
है निमित्त पर दृष्टि तेरी, बान ही ऐसी पड़ी है।
चेत-चतन प्राप्त अवसर, आत्म चिन्तन की घड़ी है ॥३॥
भाव की एकाग्रता रुचि, लीनता पुरुषार्थ कर ले।
मुक्ति बन्धन रूप क्या है, बस इसी का अर्थ कर ले ॥
भिन्न हूं पर से सदा मैं, इस मान्यता में लीन हो जा।
द्रव्य-गुण-पर्याय ध्रुवता, आत्म सुख चिर नींद सो जा।
आत्म गुण धर लाल अनुपम, शुद्ध रत्नत्रय जड़ी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है ॥४॥

बड़ा अचंभा लगता जो तू........

बड़ा अचम्भा लगता जो तू अपने से अनजान है।
पर्यायों के पार देख ले आप स्वयं भगवान है ॥टेक॥

मन्दिरतीरथ जिनेन्द्र जिनागम उसकी खोज बताते हैं।
जप तप संयमशील साधना में उसको ही तो ध्याते हैं।
जब तक उसका पता न पाया दुनिया में भरमाते हैं।
चारों गतियो के दुख पाकर फिर निगोद में जाते हैं।
पर्यायो को अपना माना यह तेरा अज्ञान है ॥१

तू अनन्त गुण का धारी है अजर अमर सत अविनासी।
शुद्ध बुद्ध तू नित्य निरंजन मुक्ति सदन का है वासी।
तुझमें सुख साम्राज्य भरा क्यों मीन रहे जलमें प्यासी।
अपने को पहचान न पाया ये हैं भूल तेरी खासी।
तू अचिंत्य शक्ति का धारी तू भव की खान है ॥२

तीनों कर्म नहीं तेरे मे यह तो जड़ की माया है।
तू चेतन है ज्ञानस्वरूपी क्यों इनमें भरमाया है।
सुख की सरिता है स्वभावमें जिनवर ने बतलाया है।
जिसने अन्तर में खोजा है उसने प्रभु को पाया है।
जिनवाणी माँ जगा रही है क्यों व्यर्थ बना नादान है ॥३

नव तत्वों में रहकर जिसने अपना रूप नहीं छोड़ा।
आतम एक रूप रहता है नहीं अधिक ना ही थोड़ा।
ये पर्यायें क्षणभंगुर हैं इनका तेरा क्या जोड़ा।
शुद्ध बुद्ध बन जाता जिसने पर्यायों से मुख मोड़ा।
द्रव्यदृष्टि अपना कर प्राणी बन जाता भगवान है ॥४

प्रशस्ति

दोहा—अवध लखनऊ नग्रमें, अग्रवाल शुभ वंश।
मंगलसैन सु शास्त्रवित् धर्मी निर्मल हंस ॥१॥
तिन सुत मक्खनलालजी, तीजा सुत हूं जास।
सीतल बत्तिस वय थकी, करत त्याग अभ्यास ॥२॥
उन्निस पैंतीस विक्रमा, जन्म कार्तिक मास।
उन्निस पच्चासी विषै, रुहतक बस चौमास ॥३॥
मन्दिर तीन दिगम्बरी, बालक शाला एक।
कन्याशाला भी लसै, धर्मशाल पुनि एक ॥४॥
औषधिशाला दो लसै, एक सब समुदाय।
जोरावरसिंह से चले, द्वितीय रुग्न सुखदाय ॥५॥
अग्रवाल जैनी बसै दो शत घर समुदाय।
निज-२ मति अनुसार सब, सेवत धर्म स्वभाय ॥६॥
कपूरचन्द अरु दीपचन्द, तथा जयन्तिप्रसाद।
नानकचन्द सु लालचन्द, श्यामलाल दुखवाद ॥७॥
रत्नलाल उग्रसेनजी, और जिनेश्वर दास।
आदि वकील प्रवीण हैं, सिंह दीवान उदास ॥८॥
मास्टर हैं शिवराम बुध, रामलाल विद्वान।
इत्यादि सार्धमिमें, किया सु निज कल्याण ॥९॥
अमितिगती आचार्यकृत, तत्त्वभावना ग्रन्थ।
संस्कृत से भाषा लिखी, चलै ध्यान का पंथ ॥१०॥
नरनारी चित्त दे पढ़ो, समझो अथ विचार।
मनन करो आतम लखो, पावो ज्ञान उदार ॥११॥
श्री जिनेन्द्र के ध्यान से, होवे आतम ज्ञान।
आतम सुख नितप्रति रहे, होवे सब कल्याण ॥१२॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल श्री जिनधर्म है, "सीतल" को सुखदान ॥१३॥

ब्र० सीतल। ता० ४-१०-२८।

तुम खुद जीओ जीने दो जमाने में सभी को

बस इससे बढ़के धर्म नहीं माना है किसीको समझा लो यह जीको ।।

दुनियां में पांच पाप है यह वीर सुनाया,
हिंसा व झूठ चोरी कुशील लोभ बताया ।
आतम के समझ शत्रु दूर कर दो इन्हीं को ।। बस इससे० ।।१

सिसकारियां भरता है तू इक फांस चुभे से,
फिर क्यों न कोई दहल उठे कत्ल हुए ।
क्या हक है सताता है जो तू दीन दुखी को ।। बस इससे० ।।२

गर माल लेके तुझसे कोई मुकर है जाये,
अच्छा लगेगा तुझको या दिल तेरा दुखाये ।
लिख झूंठे रुक्के पर्चे न तंग कर किसी को ।। बस इससे० ।।३

गर घरमें आके तेरा कोई माल चुराये,
तू लायेगा सन्तोष या उसे कैद कराये ।
तू मत हरे धन प्राणों से प्यारा है सभी को ।। बस इससे० ।।४

गर तेरी माता बहिन पे कोई दृष्टि चलाये,
क्या सहन तू करेगा या खूं उसका बहाये ।
मत देख बद नजर से कभी तू भी किसी को ।। बस इससे० ।।५

चाहता है खजाने मै जरो माल से भरूँ,
भाई तो भूखे मरें मैं नित चैन ही करूँ ।
इन्साफ क्या कहता है जरा सोच इसी को ।। बस इससे० ।।६

ये ही तो हैं पंचाणुव्रत जो वीर सुनाये,
जिसने करोड़ो हैवां को इन्सान बनाये ।
भय्या अपना लक्ष बना ले तू भी इन्हीं को ।। बस इससे० ।।७

मानव देह दुर्लभ है इसे यो ही मत गंवाओ । इस तीर्थ पर आने का लाभ तभी है जब भक्त जन अण्डे, मांस, मदिरा बीड़ी-सिगरेट, चांदी-सोने का वरक, चमड़े का प्रयोग इत्यादि छोड़ने का प्रण करें । [illegible] ।

जीओ और जीने दो—

Live and Let Live

भ० महावीर स्वामी

शाकाहारी बनो, किसी जीव को मत सताओ। आपका स्वास्थ्य ठीक रहेगा, जीवों के प्राण बचेंगे।

Do as you would be done by.

तुम चाहते हो कि तुम्हें कोई न सताये तो तुम भी किसी को मत सताओ

पेट को कब्रिस्तान मत बनाओ।

जिस तरह तुम्हें अपनी जान प्यारी है उसी तरह सबको अपनी जान प्यारी है।

Do not injure an ant, which is a carrier of grain. For it has life and life is dear to all.

तब मन करता कौन खराब, मछली अण्डा और शराब